अग्निश्च वायुश्च विमृश्य तोयं पिधाय पृथ्वीं सृजतस्तथापि ।
जलं स्वतो निर्विकृतं निविष्टं तयोः पृथक्त्वे पृथगाविरस्ति ॥४९॥
अग्निश्च वायुश्च जलस्य रूपे बलैर्विचित्रैस्तु तथा क्रियेते ।
तादृग्बलापक्षयतो जलं तत् स्वरूपमायात्यविनष्टसत्तम् ॥५०॥

(२) पुष्पस्य वस्त्रस्य च संनिकर्षे गन्धान्तरस्यानुदयोऽस्ति वस्त्रे ।
निर्गन्धता लिङ्गमथाग्नियोगाद् गन्धोदयो वस्त्रविकारतः स्यात् ॥५१॥
रसे तु यत्रोदयते बलस्य प्राणोदनादन्यबलं प्रसुप्तम् ।
न तत्र दृश्येत रसे विकारस्ततस्तमाहुः किल निर्विकारम् ॥५२॥

(३) मृदस्ति तूलं पुनरस्ति सूत्रं ततोस्ति वस्त्रं च पुनस्तनुत्रम् ।
ततोऽस्ति कन्था पुनरग्नियोगाद् क्षारं ततस्तत् पुनरस्ति सा मृत् ॥५३॥
इत्थं यदेकं भवतीह नानारूपं तमेवात्र विकारमाहुः ।
तद्रूपकर्मादिविशेषबीजं बलं यदस्तीति रसः स एकः ॥५४॥

(४) अथाङ्गुलीकम्पत एव तत्र प्रकम्पनं नाम विकारमाहुः ।
कम्पो बलं तत्क्षितिरङ्गुलीयं धत्ते बलं निर्विकृतिः स्वरूपात् ॥५५॥
ये ये विकाराः प्रथितास्तदित्थं बलस्य रूपाणि मतानि तानि ।
विलीयते यत्र बलं ततोऽन्यच्चोद्भाव्यते यत्र स निर्विकारः ॥५६॥

(५) क्वचिद्विमोक्षः क्वचिदस्ति बन्धः क्वचिद्विकारः क्रमते विशेषात् ।
सर्गानुसर्गप्रतिसर्गभेदात् क्वचिद्विसर्गः प्रलयः क्वचित् स्यात् ॥५७॥
इत्थं रसे कर्मवशाद्विकारो दृष्टोऽपि नास्त्येव रसे विकारः ।
अकर्मणो लक्षणमस्ति कर्म्म तद्विक्रियालक्षितविक्रियोऽसौ ॥५८॥
योगो विभूतिर्यदि वास्तु बन्धो वृत्तित्वमेवास्तु तथापि मृत्युः ।
रसेऽमृते स्यादुपसृष्टमुक्तोऽमृतं तु पूर्णं विभवत्यमुष्मिन् ॥५९॥
योषावृषभ्यां तदिरानिराभ्यां यो बुद्बुदे फेनमृदात्मकोऽभूत् ।
परस्परासङ्गवशाद् विसर्गः स कर्मणां कर्मसु सङ्ग इष्टः ॥६०॥
यथा पुनः श्यामलपीतसङ्गतो विलक्षणं रूपमुदेति हारितम् ।
द्वयोर्विकारेण तथाऽमृते पुनर्न मृत्युसङ्गे न विकार ईक्ष्यते ॥६१॥
दूर्वाग्रतः प्रातरनेकदिक्क्रमात् दृष्टोऽम्बुबिन्दू रविरश्मिसंगतः ।
रक्तः स दृश्येत हरित्तथाऽन्यथा तथाऽमृतं मृत्युवशात् पृथग्विधम् ॥६२॥

यथा जलेऽस्मिन् विमले सितोपला बलेन रूपेण विकुर्वते स्वयम् ।
जलं विकुर्वन्ति च तेन तज्जलं न वस्तुतो विक्रियते तथाऽमृतम् ॥६३॥
विशुद्धशुक्लस्य पटस्य रञ्जनाद् यथा हरिद्रोहितरूपता मता ।
स रङ्गसङ्गस्य तु भङ्गतः शुचिस्तथाऽऽवृतेऽस्मिन्नमृतेऽप्यसङ्गतः ॥६४॥
पृथक्स्थिता या न कदापि नश्यति प्रकाशते सा दिवसे न चन्द्रिका ।
यथाऽभिभूता तपनप्रकाशतस्तथामृतं स्यात् तमसोऽतिशायने ॥६५॥
यतः स्वभावादमृतं निरञ्जनं ततस्तदाऽऽसञ्जनमृत्युसङ्गतः ।
न सज्जते न व्यथते न लिप्यते तदावृतं केवलमीक्ष्यतेऽन्यथा ॥६६॥

८—सदसद्वादामृतमृत्युवादाहोरात्रवादानां-पूर्णद्विसत्यवादशाखात्वम् । [६]

एवं स्थिरे ब्रह्मणि शान्तमूर्तौ कर्म्माणि नृत्यन्ति निरन्तरं यत् ।
तान्येव कर्म्माण्यखिला विकारा विभान्ति कर्मोपहितं तु शान्तम् ॥६७॥
कर्म्म त्वसद् ब्रह्म सदित्थमाभात्यसच्च सच्च द्वयमेव विश्वम् ।
कश्चित्तदाहामृतमृत्युशब्दं कश्चित्त्वहोरात्रवदेतदाहुः ॥६८॥

॥ इति प्रथमो ब्रह्मकर्म्माधिकारः ॥

१

अथ प्रथमो ब्रह्मकर्माधिकारः ।

१ जगन्मूलैकत्वसिद्धान्तः ।

जगत् का एक ही मूल है–इस बात का सिद्धान्त (करना)—

[हिन्दीविज्ञानभाष्य] हम संसार के प्रत्येक पदार्थ को हरक्षण निरन्तर बदलते हुए देखते हैं । जो वस्तु इस क्षण में हमने देखी–वह दूसरे क्षण में और की और ही हो जाती है । यद्यपि यह परिवर्त्तन क्रमिक-धारा के कारण अत्यन्त सूक्ष्म होने से हम नहीं देख सकते तथापि कुछ कालान्तर में अधिक परिवर्त्तन होने से हमें वस्तु में भेद अवश्य ही प्रतीत होने लगता है । याद रक्खो–जिस समय दूध में दही का आतञ्चन (जावण) दिया जाता है–ठीक उसी समय से दूध का स्वरूपपरिवर्त्तन होने लगता है । परन्तु जब वह दही के रूप में (स्थूलरूप में) आता है, तब हम उसे 'दही' इस वस्त्वन्तर की उपाधि से व्यवहृत करने लगते हैं । परन्तु ध्यान रहे–वह दूध हरक्षण परिवर्तित हो रहा है । बस, इसी हिसाब से संसार के प्रत्येक पदार्थ को विकुर्वदाकार ही समझना चाहिए । संसार का कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो एक क्षणभर भी विना क्रिया के रह सके । जब संसार के पदार्थ विना क्रिया के एक क्षण भी नहीं रह सकते तो क्रिया के त्रिक्षणस्थायित्व होने से सुतरां सब को परिवर्त्तनशील मान लेना पड़ता है । इसीलिए भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं–**'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'** ।[1]

इस प्रकार जगत् के निरन्तर विकुर्वदाकार होने पर भी हम 'जगत् कभी नहीं था'–ऐसा नहीं कह सकते । आज भी जगत् है, दो लाख वर्ष पहले भी जगत् था और अनन्तकाल तक जगत् रहेगा । इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ के परिवर्त्तनशील होने पर भी यह जो एक जगत् "नहीं है"–यह नहीं है–ऐसा व्यवहार देखते चले आ रहे हैं–इससे अनुमान होता है कि एक कोई नित्य और ध्रुव ऐसा पदार्थ है–जिसका विकारभूत ध्रुवस्वरूप ही यह जगत् है । बस, उसी नित्य और ध्रुव पदार्थ के आधारभूत होने से जगत् के पदार्थ यद्यपि प्रतिक्षण बदलते हैं तथापि जगत् समष्टिरूप से हमें नित्य ही प्रतिभासित होता है, क्योंकि इसका आधार जिसे कि हम आगे जाके ब्रह्म बतलाने वाले हैं–नित्य-अविनाशी-अविचाली एवं ध्रुव है । बस, उपर्युक्त कथन से सिद्ध हुआ कि नित्य एवं ध्रुव किसी अपूर्व पदार्थ का विकारभूत ही यह जगत् है और वह पदार्थ नित्य है, इसलिए यह जगत् भी नित्य ही है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विकुर्वदाकारमिदं निरन्तरं तथापि नो नास्ति कदापि तेन तत् ।
ध्रुवस्य नित्यस्य हि कस्यचिद् ध्रुवं विकारभूतं जगदित्यवेयते" ॥१॥

---

१ गीता ३।५।

हमने कह दिया है कि सारा विश्व विपर्य्ययशील है। जब हम संसार की निखिल वस्तुजात को परिवर्त्तनशील मान लेते हैं तो साथ-साथ हमें यह भी मान लेना पड़ता कि संसार की प्रत्येक वस्तु निमित्तभेद से संसार की सब वस्तुएँ बन सकती हैं। जैसे एक पत्र है-यदि हम उसका अग्नि से संसर्ग करावें तो वह आग बन जाएगा। पानी में डाल देंगे तो पानी बन जाएगा। यदि पीस डालेंगे तो मिट्टी बन जाएगा। मतलब यह है कि निमित्तभेद से प्रत्येक वस्तु अखिलविश्व के वस्तुस्वरूप को धारण कर सकती है। जब यह सिद्धान्त है कि सब सब रूप में परिणत हो सकते हैं अर्थात् सब सब के पर्य्याय हो सकते हैं तो यह मान लेना पड़ेगा कि इन सब का मूल कोई और ही है, इसलिए सिद्धान्त हुआ कि सारा संसार एक ही कार्य्य है। यह जितनी भी भिन्नता है, वह केवल निमित्तभेद से दीखती है, क्योंकि जब सब सब हो सकते हैं तो नितरां जगत् एक कार्य्य मानना पड़ता है और इस कार्य्य का कारण भी एक ही है-जो अटल है-नित्य है-विभु है-ध्रुव है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विकारि सर्वं जगदस्ति सर्वे सर्वेषु रूपेषु विपर्य्ययन्ते।
तस्मात् समस्तं जगदेककार्य्यं निश्चीयते कारणमस्य चैकम्" ॥२॥

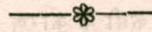
जब कि हमने संसार के सब पदार्थों का सब रूप में परिणत होना बतला दिया तो सिद्ध हुआ कि ये सब पदार्थ विशेष हैं। चूंकि विशेष विशेष का जनक नहीं हो सकता, इसलिए इसका जनक जो कि निर्विशेष है- ध्रुव है-एकरूप है, अतः मानना पड़ता है कि बस, यही सब विशेषों का कारण है। इस निर्विशेष से ये जगत् के सारे विशेष पैदा होते हैं और हुए हैं और होंगे। बस, इसी विशेष समुदाय को 'जगत्' कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यन्निर्विशेषं ध्रुवमेकरूपं तत्कारणं नाम ततो विशेषाः।
इमे समग्राः प्रभवन्ति भूयोऽभवन् भविष्यन्ति जगत्तदाहुः" ॥३॥

जब कि हम विशेष का कारण निर्विशेष मानते हैं तो प्रश्न होता है कि जब प्रथम निर्विशेष ही था तो उसमें पहले पहल विशेष पैदा ही कैसे हुआ ? बस, इसी का समाधान करते हैं—

जो निर्विशेष हमने बतलाया है-उसका वैदिकपरिभाषानुसार 'आभु' शब्द से व्यवहार किया जाता है (आसमन्तात्-भवतीति आभु) और जिससे कि ये सारे विशेष पैदा होते हैं-उसे 'अभ्व' कहते हैं (अभूत्वा-भातीति)। इसी आभु को ब्रह्म एवं इसी अभ्व को कर्म्म कहते हैं। इसी अभ्व को वेदान्तीलोग मायाशब्द से व्यवहार करते हैं। बस, सारांश यह हुआ कि एक पदार्थ हर समय परिवर्तित होने वाला है-जिसे 'अभ्व' कहते हैं और एक सदा स्थिर रहने वाला है-जिसे 'आभु' कहते हैं। इसी आभ्वभ्वात्मक ब्रह्मकर्म्मसमुच्चय से अखिलविश्व व्याप्त है। यद्यपि पदार्थ दो हैं तथापि दोनों की सत्ता एक ही है, इसलिए हम निस्सन्देह जगत् का एक ही मूल बतला सकते हैं जो कि ब्रह्म है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यन्निर्विशेषं नु तदाभुनाम्ना तदभ्वमन्यन्नु यतो विशेषाः ।
तदाभु तु ब्रह्म, तदभ्वमेवं कर्मेति मायेति वदन्ति देवाः" ।।४।।



१ (२)–जगदन्तभावनामतम् । (अवसितविकारकल्पः)

जगत् निर्माण प्रक्रिया का कभी न कभी अवसान होगा (समाप्तविकारकल्प)—

हमने जो उपर्युक्त ब्रह्मकर्म्मात्मक जगत् बतलाया है–उसमें जगत् का मूलकारण ब्रह्म ही बतलाया है । अब यह प्रश्न होता है कि इस ब्रह्म से जगत् किस प्रकार पैदा हो सकता है–इस विषय में भिन्न-भिन्न ऋषियों के ६ मत हैं–अर्थात्–ब्रह्म से जो जगत् उत्पन्न होता है–उस उत्पत्ति के विषय में ये ही ६ बातें संभव हो सकती हैं । बस, इन ६ओं को छोडकर–ब्रह्म का जगत् के साथ और कोई उत्पत्तिकारण हो ही नहीं सकता । उन्हीं ६ओं में से सर्वप्रथम जो मत है–उसका उपपादन करते हैं– इस ब्रह्मकर्म्मात्मक सम्बन्ध के विषय में प्राचीन तत्त्ववेत्ताओं के ६ मत हैं । कईयों का मत है कि जो हमने व्यापकब्रह्म को जगत् का कारण बतलाया है–उस व्यापकब्रह्म का जगत्निर्म्माण के लिए कुछ थोड़ासा हिस्सा (अबतक) स्रवित हुआ है । इस प्रकार ब्रह्म का बहुत बडा निर्विकार हिस्सा आज भी मौजूद है । अर्थात्–व्यापक ब्रह्म के थोड़े से हिस्से से ही यह सारा जगत् बना हुआ है और बाकी का शुद्ध निर्विकार ज्यों का त्यों स्थित है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"मतानि षट् तत्र भवन्ति धीमतां केचिद्विदुर्ब्रह्म यदस्ति कारणम् ।
जगत्स्वरूपाय तदल्पमस्रसद्भूयिष्ठमद्याप्यविकारि शिष्यते" ।।५।।

जिस प्रकार समुद्र में पानी के ऊपर वायु के प्रवेश कर जाने से फेन (झाग) का स्तर जम जाता है–जिस प्रकार दूध के ऊपर इसी वायु के कारण मलाई जम जाती है और जिस तरह लोहे के ऊपर किट्ट जम जाता है , ठीक उसी प्रकार फेन–शर–और किट्टवत् यह जगत् इस ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है अर्थात् ब्रह्म का विकार है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथा सरस्यम्बुघनोपरि स्तरः फेनस्य दुग्धोपरि वा शरस्तरः ।
यथा च लोहोपरि किट्टसंभवस्तथेह च ब्रह्मणि विश्वसंभवः" ।।६।।

संसार में जितने भी पदार्थ नये–नये बनते हैं–उन सब में तीन ही प्रकार की क्रियाएँ होती हैं–१ आदान, २–विसर्ग और ३–आदानविसर्ग । बस, इन्हीं तीनों प्रक्रियाओं से निखिल विश्व के पदार्थों का निर्म्माण होता है । बस, उपर्युक्त तीनों प्रकार की क्रियाएँ बतलाने के लिए ही पूर्व में तीन दृष्टान्त दिए गए हैं—

जिस समय वायु पानी में प्रवेश करता है–एक बुद्बुदा उठता है। परन्तु थोड़ी ही देर में बुद्बुदे के गोल होने के कारण पानी चौतरफ लुढक जाता है और उस बुद्बुदे के ऊपर के स्तर के पतले पड़ जाने से हवा निकल जाती है। परन्तु यदि बार-बार उसमें हवा प्रवेश करता है तो थोड़ी देर में जो पानी का स्नेहन है–उसे वह वायु प्रतिमूर्च्छित कर देता है, क्योंकि वायु रूक्ष है। इस प्रकार थोड़ी देर में पानी की स्नेहनता की कमी के कारण वहाँ फेन का स्तर पैदा हो जाता है। इस प्रक्रिया में पानी की स्नेहनता का जाना (विसर्ग) और वायु की रूक्षता का आना (आदान) सिद्ध होता है। इस प्रकार यह दृष्टान्त १–आदान और विसर्ग का हुआ। दूसरा है–आदानमात्र का। जिस समय दूध में वायु प्रवेश करता है–उस समय दूध का हिस्सा ऊपर उठता है–तब फिर दूध का ऊपर उठा हुआ हिस्सा नीचे लुढकता है–उस प्रकार चक्रकापत्ति से दोनों ही प्रतिमूर्च्छित होकर शर के रूप में परिणत हो जाते हैं। यहाँ केवल वायु का आदानमात्र है।

तीसरा है–विसर्ग। अग्नि-सोमात्मक जगत् माना गया है। इसमें जो सोम है–वही तीन प्रकार से रहा करता है– ध्रुव (निबिड़) पिण्ड में–धर्त्र (तरल) पानी में–धरुण (विरल) हवा में। इस प्रकार जो ध्रुवरूपेण लोह में स्थित सोम है–उसके साथ पृथिवी की अग्नि का सम्बन्ध होते ही सोम के अवयव श्लथ ही जाते हैं। बस, जितने ही उसके अवयव श्लथ होते हैं–उतना ही उसमें किट्ट पैदा हो जायगा। यदि लोह को मिट्टी में गाड दिया जाय तो पार्थिवाग्नि के सम्बन्ध से थोड़े ही दिनों में सोम के बिल्कुल उड जाने से सारा लोहा मिट्टी बन जाएगा। बस इस प्रक्रिया में केवल सोम का विसर्गमात्र है। बस, जगत् में ये ही तीन क्रियाएँ वस्तुओं का निर्म्माण करती हैं। इसलिए–पूर्व में तीनों ही दृष्टान्त बतलाये गए हैं।

इस प्रकार कोई समय ऐसा आवेगा कि जिस दिन विकृत होते होते सम्पूर्ण ब्रह्म जगत् बन जाएगा और निर्विकार ब्रह्म का अणुमात्र भी शेष नहीं रहेगा। जिस प्रकार एक बडा सा बर्फ का ढेला क्रमशः पानी के रूप में परिणत होता हुआ अपना स्वरूप पानीमय ही बना लेता है और अपने बर्फ के शरीर को छोड देता है तद्वत्–इस निर्विकार ब्रह्म की भी कभी जगत् रूप में स्थिति हो जाएगी। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कदाचिदन्ते तदशेषतो जगद्भवत् पुनर्निर्विकृतं न वत्स्यंति।
द्रवंस्तुषारो निखिलद्रवात्परं स्वरूपतो विच्यवते यथा तथा" ॥७॥

होते होते जब सारा ही ब्रह्म जगत्–रूप में परिणत हो जायगा–तो इसके बाद (जगत्–निर्म्माण के मूल के न रहने से) सृष्टि का बनना सर्वथा बन्द हो जायगा। क्यों? क्योंकि सारे ही-ब्रह्म के जगत्रूप बन जाने से–जगत् को बनानेवाला कोई मूल अवशेष नहीं रहता अतः–अन्ततो गत्वा सृष्टिक्रम बन्द ही हो जायगा। परन्तु–इस प्रकार–सम्पूर्ण ब्रह्म के जगत् बन जाने पर फिर क्या होगा–यह हम नहीं जान सकते। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यदाऽखिलं ब्रह्म जगद्भविष्यति प्रवर्त्स्यतीदं न जगत्तदुत्तरम् ।
न मूलमस्तीति जगत्क्रियाऽन्ततो निरोत्स्यते नोत्तरकर्म्म वेद्म्यहम्" ।।८।।

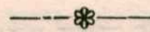
श्रुति कहती है—

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ।।[1]

सृष्टि के पहले यह ब्रह्म पूर्ण था और जो ब्रह्म सृष्टिरूप में परिणत हो गया है–वह भी पूर्ण है। और उसी पूर्ण ब्रह्म से यह पूर्ण जगत् बना है। इस प्रकार जब सम्पूर्ण ही पूर्ण ब्रह्म के पूर्णत्व को जगत् ले लेगा तो अवशिष्ट पूर्ण ही रह जाएगा अर्थात्–जगत् रूप से सारा ही ब्रह्म विकार-मय हो जाएगा।

इसी बात को गुरुवर श्री ओझा जी इस प्रकार बतलाते हैं—

"पूर्णं पुरा सर्गगतं च पूर्णं पूर्णात् पुनः पूर्णमुदच्यते तत् ।
पूर्णस्य पूर्णं परिगृह्यते चेद् अन्तेऽवशिष्येत तदेव पूर्णम्" ।।९।।



२ (३)–ब्रह्म-जगच्चक्राविराममतम् (चक्रविकारकल्पः)

ब्रह्म-जगत्-चक्र का अविरामत्व मत–चक्रविकारकल्प—

पूर्वप्रकरण में हमने सारे ही ब्रह्म को जगत् रूप में परिणत होना बतलाकर–जगत्-क्रिया का अवसान वतलाया था। अब इस मत का खण्डन कर द्वितीय मत का उपपादन करते है। किसी समय में जब कि यह सारा ही ब्रह्म जगत् बन जायगा तब जगत् की क्रिया का अवरोध हो जायगा–यह जो किसी का मत है–वह बिलकुल असंगत है, क्योंकि परमेश्वर अनन्तशक्तिघन है। ऐसी हालत में–जगत् की क्रिया का भी कभी भी अवसान नहीं हो सकता। इसी प्रकार सारे ब्रह्म के जगत् बन जाने से शुद्ध ब्रह्म ही नहीं रहेगा–यह भी बिलकुल अयुक्त है, क्योंकि–ब्रह्म कभी नहीं है–यह हो ही नहीं सकता। किन्तु यह निर्विशेष ब्रह्म एक समय प्राणन क्रिया से क्रमशः सविशेष जगत्रूप में परिणत हो जाता है और एक समय अपानन क्रिया–द्वारा (प्रतिसंचरक्रम से) यह सारा ही जगत् निर्विशेष ब्रह्म के स्वरूप में परिणत हो जाता है अर्थात्–शुद्ध निर्विशेष ब्रह्म से सविशेष जगत् और सविशेष जगत् से निर्विशेष ब्रह्म–यह धाराप्रवाह निरन्तर चलता रहता है–एक क्षण के लिए भी यह संचर-प्रतिसंचर क्रिया बन्द नहीं होती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

१ ईशावास्योप॰ मंगलपाठ

"प्राहुः परे नेत्थमियं जगत्क्रिया समाप्यते, ब्रह्म न नास्ति कर्हिचित् ।
प्राग्जगत्तत् सविशेषमेकदा ब्रह्माविशेषं तदपानदेकदा" ।।१०।।

जब ब्रह्म में प्रवृत्त्यात्मक क्रिया होती है तब सारा ही ब्रह्म जगत् बन जाता है और जब–ब्रह्म में निवृत्त्यात्मक क्रिया होती है–तब सारा ही जगत् निर्विशेष ब्रह्म के रूप में परिणत हो जाता है। फिर जगत् से ब्रह्म एवं फिर ब्रह्म से जगत्–यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। कभी भी जगत् क्रिया का अवसान नहीं हो सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्याद् ब्रह्मणः कृत्स्नजगत् प्रवृत्या, स्याद् ब्रह्म पश्चाज्जगतो निवृत्त्या ।
पुनर्जगद् ब्रह्म पुनः पुनस्तत् प्रवर्तते चक्रमनारतं तत्" ।।११।।

किसी समय में सर्वत्र पूर्ण ब्रह्म ही व्याप्त था। फिर इसी पूर्ण ब्रह्म से इस पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हो गई। फिर इस सृष्ट जगत् में अनुप्रविष्ट जो ब्रह्म है–वह क्रमशः इस सृष्ट का सेचन करता रहा। अन्ततोगत्वा–इसी क्रम से सारा ही जगत्–सेचक (निर्विशेष ब्रह्म) के रूप में परिणत हो गया। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पूर्णं ह्यदो ब्रह्म कदाचिदासीत् ततोऽभवद् विश्वमिदं च पूर्णम् ।
तद् ब्रह्मतः पूर्णतयाऽस्य सेके जगत् पुनः सेचकरूपमेति" ।।१२।।

वैदिक परिभाषानुसार पूर्ण शब्द यहाँ कात्स्न्र्य–वाचक है। यह कात्स्न्र्य ब्रह्म क्रमशः उदञ्चित होता हुआ सारा ही जगत् के रूप में परिणत हो जाएगा–यही बात अथर्वण संहिता में और यजुर्वेद में कही गई है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पूर्णं हि कात्स्न्र्यं वदतीति कात्स्न्र्यादुदच्यते ब्रह्म तदा जगत्स्यात् ।
गाथेयमाथर्वणसंहितायामाम्नायते वाजसनेयके च" ।।१३।।

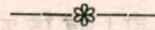
पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण का उदञ्चन होता है और यह पूर्ण (जगत्) पूर्ण से (ब्रह्म से) सिक्त होता रहता है। उस ब्रह्म को (जो कि सृष्ट में अनुप्रविष्ट हो रहा है) आज मैं पहचान रहा हूँ–जिससे कि यह सारा जगत् सिक्त होता रहता है—

"पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते" ।।[1] ।।१४।।

१ अथर्ववेद १०।४।२६ ।

पूर्ण ही वह ब्रह्म है और पूर्ण ही यह जगत् है और उसी पूर्ण ब्रह्म से इस पूर्ण ब्रह्म का उदञ्चन होता है। इस पूर्ण जगत् के पूर्णत्व को लेकर अवशेष पूर्ण ही (ब्रह्म) रह जाता है। इस प्रकार कई जगत्-क्रिया की परिसमाप्ति नहीं मानते—

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ॥[1] ॥१५॥



३(४) अनन्तब्रह्मणि खण्डविकारजगदानन्त्यमतम् । (खण्डविकारकल्पः)

अनन्त ब्रह्म में खण्ड विकारजगद् की अनन्तता का मत—

हमने पूर्व में कहा है कि यह ब्रह्म क्रमशः संचररूप में परिणत होता हुआ जब सर्वात्मना जगत्‌रूप में परिणत हो जाता है—तब फिर पुनः प्रतिसंचररूप से जगत्-सारा ब्रह्म में परिणत हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म से जगत् और जगत् से ब्रह्म यह धारा अविरत चलती रहती है। इस क्रिया का कभी अवसान नहीं होता। बस, अब इसी मत का खण्डन कर तृतीय मत की स्थापना करते हैं।

अन्य विद्वानों का मत है कि इस ब्रह्म और जगत् का सर्वात्मना प्राणन और अपानन—एक-कालावच्छेदेन ही होता है। प्रत्येक पदार्थ में प्राणन (उत्पत्ति) और अपानन (लय)—ये पृथक् पृथक् दोनों क्रियाएँ होती रहती हैं। इस प्रकार यह ब्रह्म प्रतिक्षण जगत् बनता रहता है और जगत् प्रतिक्षण ब्रह्म में परिणत होता रहता है। अर्थात्—यद्यपि संचर और प्रतिसंचर इस क्रिया में अवश्य होता है किन्तु पूर्व से फर्क इतना ही है कि यहाँ ये दोनों क्रियाएँ साथ ही चलती रहती हैं- संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं—जिसमें एक क्षण के लिए भी ये क्रियाएँ बन्द हो जाएँ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अन्ये विदुः प्राणनमस्य कात्स्न्र्यतोऽप्यपाननं चास्ति नु साकमेव तत् ।
एकैकभावेऽस्ति पृथक् क्रियाद्वयी पुनः पुनर्नश्यति जायते च सः" ॥१६॥

किञ्च—तुमने जो कहा कि यह सारा ब्रह्म संचररूप में एकबारगी ही जगत् रूप से परिणत हो जाता है-तत् पश्चात् जगत् प्रतिसंचर से ब्रह्म बन जाता है। यह बात तभी संभव हो सकती है कि यह ब्रह्म यदि दिग्देशकाल से अवच्छिन्न हो। क्योंकि समाप्ति कहते हैं सीमा को और सीमा होती है—अवच्छिन्न की। परन्तु ब्रह्म को बतलाया है—अनवच्छिन्न (अमित) अतः—किसी समय में ब्रह्म संचर से जगत् बन जाएगा—यह उस अमितब्रह्म के विषय में कहना नितान्तभ्रान्ति है, क्योंकि ब्रह्म अनन्त है—

१ ईशावास्योप० मंगलपाठ।

अमित है–अनन्तशक्तिघन है, अतः ऐसे ब्रह्म का अवसान एवं शक्तिह्रास कभी हो ही नहीं सकता । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"किञ्चेदृशे प्राणनमप्यपाननं संभाव्यते कृत्स्नतया तदा यदा ।
देशाच्च कालाच्च मितं भवेदिदं ब्रह्मामिते तत्र तु नैष संभवः" ।।१७।।

अनन्तकाल से हम को इस जगत् का इसी प्रकार से भान हो रहा है । हम ऐसा कोई स्थान नहीं बतला सकते–जहाँ पर कि जगत् न हो । जब कि कोई भी स्थान जगत् से खाली नहीं है–तो हम निःसन्देह कह सकते हैं कि यह जगत् पूर्ण है–असीम है–अक्षयरूप है, एतादृश जगत् जिसका कि कहीं अवसान ही नहीं है–उसके विषय में–'सारा जगत् ब्रह्म में परिणत हो जाएगा' अर्थात् जगत् नहीं रहेगा–यह बात बिल्कुल ही असंगत है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है–

"चिरादिदं भाति जगद्यदीदृशो देशो न कल्प्येत न यत्र तद्भवेत् ।
रिक्तं जगत्तो न यतोस्ति तेन तत् पूर्णं जगत्सिद्धमसीममक्षयम्" ।।१८।।

हम संसार को देख रहे हैं, परन्तु यहाँ तक संसार है एवं इतने समय तक संसार की स्थिति रहेगी–इसका हमें बिल्कुल पता नहीं है । दस लाख वर्ष पहले भी जगत् था और रहेगा, अतः यदि हम समष्टिरूप से जगत् को देखते हैं तो यह हमें दिक्देशकालानवच्छिन्न ही प्रतीत होता है । परन्तु ऐसे जगत् में यदि हम व्यष्टि (अवयव) रूप से दृष्टि डालेंगे तो प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण हमें बदलता दिखाई देगा । जो वस्तु कल हमने दूधरूप में देखी थी–आज हम उसे दही के रूप में देख रहे हैं, अतः व्यष्टिरूप से संसार का एक भी ऐसा पदार्थ नहीं कि जो प्रतिक्षण न बदलता हो । परन्तु ध्यान रहे–इन बदलने वाले पदार्थों की भी हम सीमा नहीं बतला सकते अर्थात् किसी भी पदार्थ के विषय में हम नहीं कह सकते कि यह यहाँ तक बदलेगा, अतः सिद्ध हुआ कि इस जगत् का परिवर्त्तन भी असीम है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है–

"जगत् प्रपश्यामि न तस्य सीमां पश्यामि देशादपि कालतोऽपि ।
पश्यामि तस्मिन् परिवर्तनानि प्रत्यर्थमेषामपि नास्ति सीमा" ।।१९।।

जिस निर्विशेष ब्रह्म के विकार से विशेषों युक्त यह जगत् पैदा होता है–वही निर्विकार ब्रह्म इस जगत् का आत्मा है और उत्पत्ति कारण है–ऐसा यह ब्रह्म ध्रुव है–पूर्ण है । कहाँ तक कहें–जगत्-अवस्था में कोई भी ऐसा स्थान नहीं–जहाँ विशेष जगत् में यह निर्विशेष ब्रह्म न हो । **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'**[1] । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है–

---

१ तैत्ति० उप० २।६ ।

"यस्याविशेषस्य विशेषरूपवज्जगद्विकारात् प्रभवत्ययं पुनः ।
आत्मास्त्यमुष्य प्रभवः स च ध्रुवः पूर्णो न तेनापि विरिच्यते क्वचित्" ॥२०॥

सम्पूर्ण कथन का सारांश यह हुआ कि जब कि जगत् की हम सीमा नहीं पाते एवं ब्रह्म को भी जगत् से अलग नहीं देखते–तो इससे सिद्ध होता है कि यह जगत् असीम है और इसका कारणभूत ब्रह्म भी असीम है । यह बात निश्चय ही मान लेनी पड़ती है । इस जगत् में–कहीं तो स्वभाव से ही–(जैसे सूर्यकिरणें स्वभाव से ही–तापक्रिया करती हैं और कहीं अन्य नियोग से जैसे–सूर्य्य की किरणों के–भूमा के साथ टक्कर खाने से अतएव सोम के प्रज्वलित होने से जो प्रकाश होता है) सर्वत्र सभी पदार्थों से साम्येन जगत्-क्रिया होती रहती है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तस्मादसीमं जगदस्य कारणं ब्रह्माप्यसीमं प्रतिपद्यते ध्रुवम् ।
स्वभावतो वान्यनियोगतोऽपि वा सर्वत्र साम्येन जगत्क्रिया भवेत्" ॥२१॥

आज सारा ही यह ब्रह्म निश्चय करकेजगत्रूप में परिणत हो गया है । निर्विकृत ब्रह्म एकान्ततः विकृत जगत् से अलग कहीं भी स्थित नहीं है–किन्तु यही निर्विकृत ब्रह्म हम विकृत जगत् के अन्तर्हित देख रहे हैं । अर्थात्–ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ निर्विकृत ब्रह्म न हो और ऐसा भी कोई स्थान नहीं जहाँ जगत् न हो, अतः हम ब्रह्म से जगत् को अलग छटा हुआ एवं जगत् को ब्रह्म से अलग छटा हुआ कभी भी नहीं देख सकते । यह बात प्रतिक्षण संचर-प्रतिसंचर मानने से ही संभव हो सकती है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है–

"सर्वं हि तद् ब्रह्म जगत्स्वरूपतो विवर्तमानं ध्रुवमस्ति संप्रति ।
नैकान्ततो निर्विकृतं क्वचित्स्थितं जगद्विकारोपहितं तु लक्ष्यते" ॥२२॥

पूर्णमदः–में जो पूर्णशब्द है–उसे प्रकृत में कात्स्न्र्य वाचक न मानकर विश्वातीत–भूमापरक मानना चाहिए, अतः पूर्णशब्द भूमा को अर्थात् असीमभाव को बतलाने वाला है । इस प्रकार यह असीम ब्रह्म परिवर्त्तनीय है अर्थात् यह ब्रह्म प्रतिक्षण जगत् के रूप में परिणत होता रहता है और यह जगत् भी प्रतिक्षण ब्रह्मरूप परिवर्त्तित होता रहता है । अर्थात्–ब्रह्म भी नित्य है–जगत् भी नित्य है और इन दोनों का परिवर्त्तन भी नित्य है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पूर्णं हि भूमानमसीमभावं वक्तीत्यसीमं परिवर्तनीयम् ।
असीममेतत् परिवर्तते चेत् तथाप्यसीमं परिवर्तनीयम्" ॥२३॥

इस असीम ब्रह्म से उत्पन्न जो यह असीम जगत् है–तदन्तर्गत उस ब्रह्म को (सृष्ट में अनुप्रविष्ट को) आज भी मैं देख रहा हूँ–किन्तु यदि जगत् से भिन्न उस निर्विकार ब्रह्म को अपने प्रातिस्विक रूप

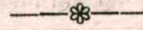
से देखना चाहें तो नहीं देख सकते। अर्थात्-उस निर्विशेष को हम सविशेष जगत् में ही देख सकते हैं। अतः सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह हुआ कि यह असीम ब्रह्म हर समय प्राणन क्रिया द्वारा जगत् बनाता है और जगत् हर समय अपानन से ब्रह्म में परिणत होता रहता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यतस्त्वसीमादिदमस्त्यसीमं तदद्य विद्याम न तत् स्वरूपे।
गाथेयमाथर्वणसंहितायामाम्नायते वाजसनेयके च" ॥२४॥

अर्थात् ओझा जी कहते हैं कि-यही बात-अथर्वण संहिता में और यजर्वेद में भी कही गई है—

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ॥२५॥

"पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते" ॥२६॥



(४) ५-ब्रह्मजगतोरन्योन्याविनाभावादैकात्म्यमतम्। (तादात्म्यकल्पः)

ब्रह्म और जगत् का अन्योन्याविनाभाव मूलक ऐकात्म्य (दोनों का तादात्म्यकल्प)—

हमने पूर्वोक्त विषय में यह बतलाया है कि यह सारा जगत् प्रतिक्षण बदलता रहता है एवं यह जगत् भी व्यापक है और ब्रह्म भी व्यापक है। प्रतिक्षण ब्रह्म जगत् बनता रहता है और प्रतिक्षण जगत् ब्रह्म में परिणत होता रहता है। इस प्रकार यह जगत् भी नित्य है-ब्रह्म भी नित्य है और इसका परिवर्तन भी नित्य है। बस, अब इसी मत का खण्डन कर ४ (चार) मतों की स्थापना करते हैं-हमारे खयाल से ब्रह्म कभी भी जगत् नहीं बनता एवं जगत् कभी भी ब्रह्म नहीं बनता-जिसका हम प्रतिक्षण बिकार देख रहे हैं-वह वस्तु ब्रह्म से अलग है और इस विकृत यथार्थ से भिन्न ही निर्विकृत कुछ और ही पदार्थ है जिसका कि कभी विकार होता ही नहीं। इस प्रकार यह विकृत पदार्थ भी पूर्ण है एवं अविकृत पदार्थ भी पूर्ण है अर्थात् वह विकृत एवं अविकृत जहाँ पर न हो, ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं। अर्थात् दोनों ही पूर्णतया व्याप्त हैं। सारांश यह हुआ कि इस मतानुसार ब्रह्म जगत् नहीं है और जगत् ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म शुद्धनिर्विकार ही रहता है और जगत् सदा विक्रियमाण ही रहता है, परन्तु इतना होने पर भी कोई भी प्रदेश इन दोनों से खाली नहीं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विद्मस्तु यद्विक्रियते तदन्यत् ततोऽन्यदत्रास्त्यविकारि किञ्चित्।
तद्वैकृतं चाविकृतं च पूर्णं तत् तन्न यत्रास्ति न तोऽस्ति देशः" ॥२७॥

पूर्ण ही ब्रह्म है–पूर्ण ही यह सारा जगत् है और यदि हम उस पूर्ण ब्रह्म को लेना चाहें तो पूर्ण जगत् भी उसके साथ आ जाता है (अर्थात् दोनो का तादात्म्यावस्थान है) और इस पूर्ण जगत् के पूर्णत्व को लेने से पूर्ण ब्रह्म ही बाकी रह जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ॥२८॥

पूर्ण से पूर्ण का उदञ्चन होता है अर्थात् पूर्णब्रह्म के ग्रहण से पूर्ण जगत् का भी ग्रहण हो जाता है। और पूर्ण (जगत्) पूर्ण में (ब्रह्म में) ओतप्रोत रहता है। आज हम उसी पूर्ण ब्रह्म को देख रहे हैं जो इस जगत् के अन्दर प्रविष्ट है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते" ॥२९॥

पूर्णमदः पूर्णमिदम्०–यहाँ पर पूर्ण शब्द अशून्य का वाचक है और अशून्य कहते हैं–सर्वतः भरे हुए को अर्थात् जिससे शून्य (रहित) कोई भी प्रदेश नहीं है। इस प्रकार–इस पूर्ण जगत् के प्रत्येक पदार्थ के सर्वात्मना विकुर्वद्रूप रहने पर भी कोई भी जगत् का ऐसा पदार्थ नहीं जिसमें कारणब्रह्म न बैठा हो–अर्थात् विकारभूत जगत् का प्रत्येक पदार्थ निर्विकारब्रह्म से कभी भी शून्य नहीं रहता और इसी प्रकार निर्विकार ब्रह्म का भी कोई हिस्सा कार्य्य से शून्य नहीं रहता। इस प्रकार सर्वदा समभाव से–कारण में कार्य्य एवं कार्य्य में कारण ओतप्रोत रहता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पूर्णं त्वशून्यं भूतमाह कार्त्स्न्याद् विकारसिद्धावपि चैकमेकम् ।
न कारणाच्छून्यमिदं न कार्य्यात् सर्वं समं कारणमस्ति कार्य्यम्" ॥३०॥

यह जो कारणस्वरूप ब्रह्म है-वह अशून्य है एवं पूर्ण है। इसी प्रकार यह साराकार्य्यरूप जगत् भी पूर्ण ही है। ऐसे पूर्णब्रह्म के ग्रहण से पूर्ण का (जगत् का) भी उदञ्चन हो जाता है। इस प्रकार इस पूर्ण जगत् के पूर्णत्व को लेने से पूर्णब्रह्म ही शेष रह जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पूर्णं ह्यदः कारणमस्त्यशून्यं कार्य्यं तथा पूर्णमिदं समस्तम् ।
पूर्णादिदं पूर्णमुदच्यते तत् पूर्णस्य पूर्णग्रहणेऽस्ति पूर्णम्" ॥३१॥

अब यहाँ पर प्रश्न होता है कि तुम्हारा यह मत सर्वथा ठीक नहीं-क्योंकि जब जगत् एवं ब्रह्म ये दो पदार्थ तुमने भिन्न-भिन्न मानें और दोनों ही तुम्हारे मत से पूर्ण हैं-ऐसी अवस्था में दोनों का एक ही प्रदेश में समावेश होना नितान्त असम्भव है और यदि समावेश मानते हो तो इनके पूर्णत्व का

व्याघात होता है। इसी प्रश्न का उत्तर देते हैं-एक पदार्थ की जबकि सर्वात्मना सम्पूर्ण प्रदेश में व्याप्ति है-ऐसी हालत में द्वितीय जो विद्यमान पदार्थ है-उसको वहाँ ठहरने का अवकाश किस तरह मिल सकता है?-इस प्रकार की शङ्का नहीं करनी चाहिए। क्योंकि इस ब्रह्म और जगत् का अवस्थान अव्यतिरिक्त (एक ही) सत्ता युक्त मृद्घट की तरह है-जिस प्रकार मिट्टी और घड़ा बिल्कुल भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं तथापि ऐसा कोई स्थान नहीं कि जिस घड़े में मिट्टी न हो और ऐसा कोई स्थान नहीं-जिस मिट्टी में घड़ा न हो अर्थात् यहाँ पर पदार्थ दो होने पर भी सत्ता एक ही है। उसी मृत्तिका की सत्ता को लिए हुए घट स्थित है, अतः सत्ता के एक होने से जैसे यहाँ पर प्रत्येक मिट्टी का अवयव घड़ा है और प्रत्येक घड़े का अवयव मिट्टी है-ठीक इसी प्रकार प्रकृत में भी सत्ता के एक होने से ब्रह्म और जगत् का एकत्र समावेश अनुपपन्न नहीं हो सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एकेन तु व्याप्तिमति प्रदेशे कथं द्वितीयस्य सतोवकाशः।
नाशङ्क्यमित्यव्यतिरिक्तसत्ताकयोः स्थितिर्मृद्घटयोरिवास्ति" ॥३२॥

ब्रह्म उसे कहते हैं जो बिल्कुल निर्विकार है-एवं प्रशान्त है एवं अविचाली है। ठीक इसके विपरीत जो हर समय विकुर्वद्रूप एवं अशान्त एवं विचाली पदार्थ है-उसे ही 'कर्म्म' कहते हैं। इस प्रकार न इस ब्रह्म का कर्म्म के विना स्वरूप बन सकता है (अर्थात् ब्रह्म का प्रत्यक्ष इसी कर्म्म द्वारा होता है) और न कर्म्म की प्रतिष्ठा ब्रह्म विना हो सकती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तद् ब्रह्म यन्निर्विकृतं प्रशान्तं तत्कर्म्म यद्विक्रियमाणरूपम्।
न ब्रह्मणः कर्म्म विना स्वरूपं न कर्म्मणो ब्रह्म विना प्रतिष्ठा" ॥३३॥

जिस प्रकार घटत्वविशेष्य की घट प्रतिष्ठा है (अर्थात् घटत्व विना घट के नहीं रह सकता) और घट जिस प्रकार घटत्व का स्वरूप है तथैव ब्रह्म और यह कर्म्म दोनों एक से एक अविनाभूत हैं-ऐसा हम अन्दाज करते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथा घटत्वस्य घटः प्रतिष्ठा यथा घटत्वं च घटस्वरूपम्।
तथैव तद् ब्रह्म च कर्म्म चेदं मिथोऽविनाभूतमिति प्रतीमः" ॥३४॥

——❀——

५–(६) ब्रह्मकर्म्मणोः सहावस्थानं जगद्रूपम्। (सहयोगकल्पः)

ब्रह्म और कर्म्म का सहावस्थान ही जगत् का रूप है—

पूर्वोक्त मत में हमने ब्रह्म और कर्म्म का तादात्म्य बतलाया था। अर्थात् संचर एवं प्रतिसंचर क्रिया प्रतिक्षण में होती रहती है–ऐसा कहा था। परन्तु इस निम्नलिखित मत में ब्रह्म का और कर्म्म का तादात्म्य न मानकर सहयोग माना है। इसी मत का प्रतिपादन करते हैं—

कई लोगों का मत है कि ब्रह्म सदा अविकारी है एवं कर्म्म सदा विकुर्वद्रूप है। ऐसे हम इन दोनों को समझते हैं। जितनी कि हम संसार में विकृति देखते हैं–उस सब समुदाय को कर्म्म समझना चाहिए एवं ठीक इसके विपरीत इस ब्रह्म को निर्विकार एवं प्रतिष्ठा स्वरूप समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"परे विदुर्ब्रह्म च कर्म्म चैतद् द्वयं प्रपद्ये विकृताविकारम्।
"कर्म्मैव किञ्चिद् विकृतिस्वभावं ब्रह्म त्विदं निर्विकृतं प्रतिष्ठा" ।।३५।।

संसार में क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं–(१) एक धारास्वरूपा एवं (२) एक आकस्मिक। इस प्रकार जो धारास्वरूपा क्रिया है–वह प्रतिक्षण होती रहती है। संसार का कोई ऐसा पदार्थ नहीं–जो प्रतिक्षण न बदलता हो। जिन पदार्थों को हम स्थिर समझ रहे हैं–वे भी इस धारास्वरूप क्रिया से खाली नहीं हैं। परन्तु जो अंगुली अब तक स्थिर थी–उसमें जो एक हिलने की क्रिया होने लग गई, इसे आकस्मिक क्रिया कहते हैं। बस, इसी आकस्मिक क्रिया के दो भेद बतलाते हैं—

यह कर्म्म शून्यरूप से अलग एवं पूर्णरूप से अलग–इस प्रकार दो प्रकार से अपनी स्थिति कायम रखता है। जिस अंगुली में क्रिया नहीं है अर्थात् क्रिया उन्मुग्ध है, वहाँ पर सर्ग न होने से वह क्रियाशून्य कहलाती है–इसे ही वैज्ञानिक लोग विकाशावरण नाम से कहा करते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"शून्यं तदन्यत् परिपूर्णमन्यत् स्थानं द्विधा कर्मण एव दिष्टम्।
यत्र क्रिया नास्ति न तत्र सर्गः शून्यं विकाशावरणं तदिष्टम्" ।।३६।।

जहाँ अंगुल्यादि में वह क्रिया होने लगती है, वहाँ तदवच्छिन्नेन वह क्रिया उस समय रस से पूर्ण रहने से पूर्ण कहलाती है। यहाँ पर यह पूर्णत्व एवं शून्यत्व क्रिया की अपेक्षा समझना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म तो सदा पूर्णरूप ही है। बस, इसी पूर्ण क्रिया की अवस्था को सत् कहते हैं और यह जो क्रिया का विकाश है–वह आनन्दमय है। इस प्रकार इस मृत्यु की शून्य एवं पूर्णरूप से दो अवस्था समझनी चाहिएँ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यत्रैष सर्गस्तदिदं तु कर्म्मामृतेन पूर्णेन तदस्ति पूर्णम्।
तत् सत् तदानन्दमयं विकाशोऽप्येवं द्विधा स्थानममुष्य मृत्योः" ।।३७।।

इस प्रकार इस मृत्यु का स्थान अमृत (पूर्णब्रह्म) समझना चाहिए। यह अमृत असीम है–परिपूर्ण है–भूमायुक्त है, अतः यह मृत्यु भी इस अमृत से परिपूर्ण है। जिस प्रकार एक लोटे में आकाश को बन्द करके–हम चलने लगें तो सिद्धान्त समझना चाहिए कि वह जो हमने आकाश पकड़ा था, बिल्कुल ही बदल गया। इस प्रकार प्रत्येक बिन्दु-बिन्दु पर आकाश बदलता जाता, परन्तु आकाश के बदल जाने पर भी कोई ऐसा स्थान नहीं कि जहाँ पर आकाश न हो। बस, ठीक इसी प्रकार इस शून्य कर्म्मस्थान में भी वह पूर्ण (ब्रह्म) नहीं है-ऐसा नहीं कह सकते। इसी प्रकार सर्गावस्था (क्रियोत्पत्ति) में भी वह पूर्ण ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथामृतं स्थानममुष्य मृत्योर्भूमा स तस्मात् परिपूर्णरूपम्।
तदत्र शून्येऽपि न नास्ति पूर्णं व्योमेव सर्गेऽपि तदस्ति पूर्णम्" ॥३८॥

कई यहाँ पर प्रश्न करते हैं कि जब ये दो पदार्थ हैं–तो इनमें स्थितिविरोध होने से इनका सहावस्थान नहीं रह सकता। इसी का उत्तर देते हैं–अमृत का मृत्यु से स्थितिविरोध नहीं बतलाया जा सकता, क्योंकि ये दोनों ही समानरूप से स्थित हैं। क्रिया की शून्यावस्था में भी एवं सर्गावस्था में भी–उभयत्र ही ब्रह्म पूर्णरूप से रहता है। कर्म्म में ब्रह्म पूर्णरूप से नहीं है-ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार अंगुली के हिलने पर हम पूछते हैं कि बतलाओ! इस अंगुली के किस स्थान पर क्रिया हो रही है? तो उत्तर मिलेगा कि सर्वात्मना। ऐसी हालत में हम निःसन्देह कह सकते हैं कि जितनी दूर में अंगुली क्रिया है, उतनी दूर में अंगुली भी है, अतः यहाँ पर दोनों पूर्णरूप मे हैं तद्वत् प्रकृत में भी समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्थितेर्विरोधो न यतोऽमृतेन मृत्योर्मतस्तेन समानमेतत्।
शून्येपि सर्गेऽपि सदास्ति पूर्णं न चामृतं कर्म्मणि नास्ति पूर्णम्" ॥३९॥

मृत्यु के पेट में एवं बाहर एव चौतरफ एवं समन्तात् अमृत भरा हुआ है और यह मृत्यु अमृत को लिए हुए अपनी स्थिति कायम रखता है। चूँकि इस मृत्यु की आत्मा अमृत है, इसलिए मृत्यु का कभी भी नाश नहीं होता। अर्थात् अमृत के पेट में मृत्यु है एवं मृत्यु के चौतरफ अमृत है। दोनों एक से एक ओतप्रोत हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तदन्तरे यत्परितो बहिर्धाऽऽहितं हि मृत्यावमृतं समन्तात्।
बलेऽमृतं मृत्युरमुष्य मृत्योरात्माऽमृतं न म्रियते ततस्तत्" ॥४०॥

बस, अतएव वह ब्रह्म भी पूर्ण है और कर्म्म भी पूर्ण है। परन्तु ध्यान रहे जो हमने कर्म्म में पूर्णता बतलाई है, वह ब्रह्म के कारण से ही है। इस प्रकार सर्वकर्म्मातिरिक्त हम उस ब्रह्म का यदि अवलोकन करेंगे तो हमें वह शुद्ध ब्रह्म ही दिखलाई पड़ेगा। क्योंकि उस समय वही अवशिष्ट रहता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पूर्णं ततो ब्रह्म च कर्म पूर्णं तद् ब्रह्मणा कर्म्मणि पूर्णतास्ति ।
तद् ब्रह्म वीक्षे यदि सर्वकर्म्मातिरेकतो ब्रह्म तदावशिष्टम्" ।।४१।।

चतुर्थ (४) प्रकरण में हमने अविकृत परिणामवाद बतलाया था और सिद्ध किया था कि जिस प्रकार मिट्टी ही घट बन जाता है, तद्वत् ही यह सारा ब्रह्म है । परन्तु इस पाँचवें (५ वें) मत में हमने यह सिद्ध किया है कि ब्रह्म और कर्म्म दोनों सदा साथ रहते हैं, परन्तु हैं दोनों अलग-अलग । अब इस मत का भी खण्डन कर छठा मत स्थापित करते हैं ।

——※——

६ (७)–निर्विकारपूर्णब्रह्मणि पूर्णकर्म्मोदयः । (विशिष्टैककल्पः)

निर्विकार पूर्ण ब्रह्म में पूर्णकर्म्मोदय—

पूर्वोक्त प्रकरण में जो तुमने ब्रह्म एवं जगत् (कर्म्म) का सहावस्थान बतलाया एवं ब्रह्म भी पूर्ण है एवं जगत् भी पूर्ण है–यह सिद्ध किया । यह मत हमारे हिसाब से गलत है । कई विद्वानों का मत है कि सारा ब्रह्म आज भी कारणस्वरूप में ही विद्यमान है । इस ब्रह्म में कभी भी विकार हो ही नहीं सकता । संसार में जो हम घटपटादि भिन्न-भिन्न नाम देख रहे हैं, उन सबकी भ्रान्ति से अनसमझ लोग कल्पना कर लेते हैं । वस्तुतः यह सब मिथ्या समझना चाहिए । अर्थात्–नाम-रूप-कर्म्म–ये तीनों ही मिथ्या स्वरूप हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विदुः परे कारणमेव सर्वं न तूपपन्नोऽत्र विकारभावः ।
भ्रान्त्यैव कर्म्मान्यदिहान्यरूपं नामान्यदज्ञाः परिकल्पयन्ति" ।।४२।।

ब्रह्म और कर्म्म दोनों ही विभु हैं–व्यापक हैं और जितना हमें यह कर्म्म प्रपञ्च दीख रहा है–वह वस्तुतः ब्रह्म का ही है । अर्थात् सब ब्रह्म ही है । यह कर्म्म प्रपञ्च सारा मिथ्या है । इस प्रकार निःशेष कर्म्मों को अपने उदर में लेकर अपने स्वरूप से केवल ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ब्रह्मापि कर्मापि विभूभयं तत् कर्मोदयं ब्रह्मण एव याति ।
निःशेषकर्माण्युदरे गृहीत्वाऽवशिष्यते ब्रह्म तु केवलं तत्" ।।४३।।

उस सत्ता युक्त ब्रह्म में असत्-कर्म उत्पन्न होता है, अतः ब्रह्मसत्ता के रस से सिक्त होता हुआ यह कर्म्म भी हमें सत् प्रतीत होने लगता है । परन्तु यह भ्रान्ति ही है, क्योंकि कर्म्म अपने प्रातिस्विक-स्वरूप से तो अब भी असत् होने से मिथ्यास्वरूप ही है । इस प्रकार हम सर्वत्र इस कर्म्म में डूबे हुए

सर्वत्र अर्थात् केवल ब्रह्म को ही देख रहे हैं-यही बात पुराने विद्वानों ने कही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"उदेति सद्ब्रह्मणि कर्म्म चासत् तद्ब्रह्मसत्ता रससेकतः सत्।
ब्रह्मैव विद्याम तु तत्र कर्मण्यपीति देवा अवदन् पुरात्त्वे" ॥४४॥

यह ब्रह्म पूर्ण है और यह कर्म्म भी ब्रह्म की वजह से हमें पूर्ण ही प्रतीत होता है और इसी पूर्ण ब्रह्म से पूर्णस्वरूपजगत् का (ब्रह्म की वजह से) उदञ्चन होता है और अन्त में इस मिथ्या जगत् के पूर्णत्व की भ्रान्ति हटाने से केवल शुद्ध ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ॥४५॥

उसी पूर्ण ब्रह्म से-पूर्ण जगत् का उदञ्चन होता है। यह उदञ्चन हमें पूर्णरूप से पूर्णब्रह्म के सिक्त होने से भासित होता है। वस्तुतः जिसको आज हम जगत् बतला रहे हैं-उसी में मैं पूर्णब्रह्म को पहचान रहा हूँ-अर्थात्-यह सारा जगत् मिथ्या है, केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते" ॥४६॥

———❀———

७ (८)-ब्रह्मणो निर्विकारत्वे दृष्टान्ताः।

ब्रह्म की निर्विकारता में दृष्टान्त—

हमने अन्तिम छठे मत से यह सिद्ध कर दिया कि यह ब्रह्म बिल्कुल निर्विकार है एवं असंग है। बस, उसी ब्रह्म का निर्विकारत्व हम दृष्टान्त द्वारा दृढ करते हैं—

कल्पना करो कि एक तालाब में जल भरा हुआ है और इस समय वह बिलकुल शान्त है। इस निर्विकृत जल में जिस समय हम हस्तादि द्वारा बल प्रयोग करेंगे, उसी समय क्रिया पैदा होने से वह जल-तरङ्ग के रूप में परिणत हो जाएगा। बस, इन्हीं तरंगों को देखकर लोग कहने लगते हैं कि देखो! अभी तक जल निर्विकृत था और अभी विकारयुक्त हो गया। परन्तु यदि हम वस्तुस्थिति से विचार करें तो अब भी प्रातिस्विकरूपेण जल (जलत्वेन) निर्विकृत ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"जले प्रयुक्तानि बलानि तत्र क्रियात्मना स्युः परिणम्य भङ्गाः ।
जले विकारान् प्रवदन्ति किन्तु स्याद्वस्तुतो नास्ति जले विकारः"॥४७॥

इस प्रकार तरङ्गों से जल के निर्विकृतस्वरूप में बिल्कुल भी बाधा नहीं पड़ती है–अर्थात्-तरङ्गों से जल में कुछ भी विकार नहीं होता है । ठीक इसी प्रकार जब हम भरे हुए तालाब को उष्णकाल में सूखा देखते हैं तो कल्पना करने लगते हैं कि देखो ! सारा जल नष्ट हो गया है । परन्तु ध्यान रहे–वह जल सूर्य्य किरणों द्वारा आकाश में चला गया है । आज भी वह जल बिल्कुल निर्विकृतरूप से स्थित है । इसी प्रकार संचरक्रिया से पानी में जब वायु घुस पड़ता है तो पानी फेन के स्वरूप में परिणत हो जाता है और ऐसे समय में हम पानी को विकृत कहने लगते हैं । परन्तु ध्यान रहे कि इस फेन पर प्रतिसंचरात्मक क्रिया करने से–वायु के अलग हो जाने पर–जल आज भी निर्विकृत स्वरूप में ही विद्यमान है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"भङ्गैर्जलं विक्रियते न किञ्चिच्छोषे खगं तन्न विकारमेति ।
फेने तु वायुर्निहितोऽस्य वायोः पार्थक्यतो निर्विकृतं जलं तत्" ॥४८॥

जिस समय अग्नि और वायु मिलते हैं, उस समय दोनों का स्वरूप नष्ट होकर एक तीसरी ही चीज बनती है । उसमें जब हम जल का मिश्रण करते हैं तो उसी समय पृथिवी (मिट्टी) बन जाती है । इसलिए लोग कहते हैं कि जल मिट्टी के रूप में परिणत हो गया अर्थात् विकृत हो गया । परन्तु यदि तात्त्विक दृष्टि से विचार करेंगे तो जल अपने स्वरूप से आज भी निर्विकृत ही अवशिष्ट है । इतना ही नहीं यदि हम प्रतिसंचर क्रिया–करने लगें तो अभी हम जल को अपने स्वरूप से पृथक् पा लेंगे । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अग्निश्च वायुश्च विमृश्य तोयं पिधाय पृथिवीं सृजतस्तथापि ।
जलं स्वतो निर्विकृतं निविष्टं तयोः पृथक्त्वे पृथगाविरस्ति" ॥४९॥

भिन्न-भिन्न प्रकार के विचित्र बलों से जल कभी अग्नि के रूप में परिणत हो जाता है एवं कभी वायु के स्वरूप में परिणत हो जाता है । परन्तु यदि उन सब बल-बन्धनों को नष्ट कर दिया जाए, जल अपनी ही सत्ता को कायम रखता हुआ अपने ही स्वरूप में आ जाता है । इससे साबित हुआ कि उस समय भी जल बिल्कुल निर्विकार ही है । बस, ठीक इसी प्रकार ब्रह्म को भी निर्विकार ही समझना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अग्निश्च वायुश्च जलस्य रूपे बलैर्विचित्रैस्तु तथा क्रियेते ।
तादृग्बलापक्षयतो जलं तत् स्वरूपमायात्यविनष्टसत्तम्" ॥५०॥

जिस प्रकार पुष्प के और वस्त्र के सन्निकर्ष से सिवाय पुष्प की गन्ध के गन्धान्तर का उदय नहीं होता, बस यही कारण वस्त्र में निर्गन्धता के होने का सबूत है, क्योंकि यदि वस्त्र में भी गन्ध होता तो पुष्प वस्त्र के सन्निकर्ष से तीसरा ही कोई गन्धोदय होता, परन्तु ऐसा नहीं होता। परन्तु यदि उसी वस्त्र में अग्नि संयोग कर दिया जाए तो फौरन वह गन्ध जाग पड़ता है, अतः अनुमान होता है कि एक बल ने दूसरे बल को मार रक्खा था, अतएव मानना पड़ता है कि यह गन्धविषयक झगड़ा बल-बल का ही है न कि रस का।[1] जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पुष्पस्य वस्त्रस्य च संनिकर्षे गन्धान्तरस्यानुदयोऽस्ति वस्त्रे।
निर्गन्धता लिङ्गमथाग्नियोगाद् गन्धोदयो वस्त्रविकारतः स्यात्" ॥५१॥

शान्त एवं निर्विकार रस में–बल की प्रेरणा से अन्य जो प्रसुप्त बल है–वह जाग उठता है–जैसा कि पूर्व दृष्टान्त में बतलाया गया है। इस प्रकार वह जो–एक हमें बल की प्रेरणा से विकार होता हुआ दीखता है, वस्तुतः वह विकार बल का ही है न कि वह विकार रस में होता है। बस, इसीलिए उस ब्रह्म (रस) को हम निर्विकार कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रसे तु यत्रोदयते बलस्य प्रणोदनादन्यबलं प्रसुप्तम्।
न तत्र दृश्येत रसे विकारस्ततस्तमाहुः किल निर्विकारम्" ॥५२॥

सबसे पहले मिट्टी थी। वही मिट्टी बलों के सबब से रूई बन गई। रूई पर बल प्रयोग करने से सूत बन गया। सूत से वस्त्र बन गया। वस्त्र से अंगरखा[2] बन गया। कालान्तर में वही अंगरखा एक लीलर[3] कन्था के रूप में परिणत हो गया। फिर अग्नि के संयोग से वही कन्था क्षार बन गई। फिर क्रमशः वही क्षार मिट्टी बन गया। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"मृदस्ति तूलं पुनरस्ति सूत्रं ततोऽस्ति वस्त्रं च पुनस्तनुत्रम्।
ततोऽस्ति कन्था पुनरग्नियोगाद् क्षारं ततस्तत् पुनरस्ति सा मृत्" ॥५३॥

इस प्रकार जो प्रारम्भ में एक मिट्टी थी, उसी के नाना रूप हो गए थे। उन्हीं को हम विकार कहने लग गए। इस प्रकार रूप–कर्म्मादि विशेष के भिन्न-भिन्न होने पर भी इन सबका बीजभूत जो एक रस है, वह एक है एवं निर्विकार है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

---

१ 'पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तराप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धभावलिङ्गम्'–वै० सू० ८१

२ राजस्थान प्रान्त में पुरुषों द्वारा पहने जाने वाला 'अंगवस्त्र'।

३ फटा हुआ–लीर-लीर।

"इत्थं यदेकं भवतीह नानारूपं तमेवात्र विकारमाहुः ।
तद्रूपकर्मादिविशेषबीजं बलं यदस्तीति रसः स एकः" ॥५४॥

जिस समय हमारी अङ्गुली में कम्पन पैदा होता है, उसी कम्पन को हम अङ्गुली का विकार कहने लगते हैं । यहाँ पर जो कम्प है, वह एक प्रकार का बल है । उस बल की आधार (क्षिति) भूता यह अङ्गुली है । यही अङ्गुली उस बल को अपने ऊपर उठाए हुए है, अतः वस्तुतः अपने स्वरूप से वह अङ्गुली निर्विकृता ही है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथाङ्गुलीकम्पत एव तत्र प्रकम्पनं नाम विकारमाहुः ।
कम्पो बलं तत्क्षितिरङ्गुलीयं धत्ते बलं निर्विकृतिः स्वरूपात्" ॥५५॥

इस प्रकार जो-जो विकार हमने बतलाए हैं—वे सब विकार भिन्न-भिन्न प्रकार के बलों के ही स्वरूप समझने चाहिएँ । क्योंकि जिस रस में एक बल लीन होता है—एवं जिसमें अन्य बल पैदा होता हैं—वह जो एक बलों का आधार भूत रस है, वह सदा निर्विकार ही है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ये ये विकाराः प्रथितास्तदित्थं बलस्य रूपाणि मतानि तानि ।
विलीयते यत्र बलं ततोऽन्यच्चोद्भाव्यते यत्र स निर्विकारः" ॥५६॥

इस प्रकार परस्पर बलों के संसर्ग से—कहीं मोक्ष (प्रतिसंचर) जैसे—काष्ठ में अग्निसंयोग से उसका विशकलित होना—एवं कहीं बन्ध से जैसे मिट्टी से घड़ा बन जाना एवं कहीं विकार से जैसे दूध पर मलाई का होना क्रमशः होते रहते हैं, अतएव सर्ग (तात्त्विकसृष्टि—भूतसृष्टि)—अनुसर्ग (यौगिकसृष्टि-भौतिक सृष्टि) एवं प्रतिसर्ग (मोक्ष) के भेद से कहीं सर्ग होता रहता है एवं कहीं प्रलय (प्रतिसर्ग) होता रहता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"क्वचिद्विमोक्षः क्वचिदस्ति बन्धः क्वचिद्विकारः क्रमते विशेषात् ।
सर्गानुसर्गप्रतिसर्गभेदात् क्वचिद्विसर्गः प्रलयः क्वचित् स्यात्" ॥५७॥

इस प्रकार इस रस में बलवशात् यद्यपि विकार दृष्टिगोचर होता है, तथापि यह विकार वस्तुतः रस में नहीं ही समझने चाहिएँ । यह जो रस है—वह अलक्षण है—इस अलक्षण रस का लक्षण (अर्थात्-इसका (रस का) प्रत्यक्ष कराने वाला) यही कर्म्म है । चूंकि—यह बल क्रियाशील है, अतएव इसी कर्म्म की क्रिया से लक्षित होता हुआ यह रस भी हमें सक्रिय मालूम होने लगता है, परन्तु वस्तुतः यह निर्विकार ही है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"इत्थं रसे कर्मवशाद्विकारो दृष्टोऽपि नास्त्येव रसे विकारः ।
अकर्मणो लक्षणमस्ति कर्म तद्विक्रियालक्षितविक्रियोऽसौ" ॥५८॥

चाहे यह शुद्धरस मृत्यु के साथ विभूति से रहता हो अथवा वृत्तित्व (बहिरङ्ग) से अथवा बन्ध (दृढ अन्तरङ्ग) से–कहने का मतलब यह है कि चाहे यह योग सख्त से सख्त हो या ढीला से ढीला हो तथापि यह मृत्यु उस रस रूप अमृत में लगा हुआ भी मुक्त ही रहता है अर्थात् खूब चिपकने पर भी ब्रह्म के असंग होने से उससे मिलने नहीं पाता, परन्तु यह रस तो व्यापक होने से इस बल में सर्वत्र ही विभव करता है अर्थात् कोई ऐसा बल नहीं जिसमें रस न हो । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"योगो विभूतिर्यदि वास्तु बन्धो वृत्तित्वमेवास्तु तथापि मृत्युः ।
रसेऽमृते स्यादुपसृष्टमुक्तोऽमृतं तु पूर्णं विभवत्यमुष्मिन्" ॥५९॥

सृष्टि दो चीजों से पैदा होती है । उन दोनों की वैदिक परिभाषानुसार योषा एवं वृषा संज्ञा रख दी गई है । इन्हीं को वेदान्त में रयि और प्राण एवं भाषा में नर एवं मादा कहते हैं । इनमें से जो वृषा है, वह पुरुष-स्वरूप है एवं योषा स्त्री-स्वरूपा है । बस, जब योषा और वृषा का योग होता है, तभी सृष्टि पैदा होती है । योषा स्वरूप इस (स्नेहन द्रव्य-पानी) के एवं वृषा स्वरूप अंगिरा (स्नेहन रहित-वायु) के मेल से जो फेन–बुद्बुद में मिट्टी रूप से परिणत हो गया है । इस प्रकार परस्पर के मेल से जो एक यह मिट्टी की सृष्टि हो गई है । यह सर्ग कर्म का कर्म्म के साथ समझना चाहिए न कि ब्रह्म एवं कर्म्म का । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है–

"योषावृषभ्यां तदिरानिराभ्यां यो बुद्बुदे फेनमृदात्मकोऽभूत् ।
परस्परासङ्गवशाद् विसर्गः स कर्मणां कर्मसु सङ्ग इष्टः" ॥६०॥

यदि अतिसूक्ष्म नीले पत्र की ओट से हम पीले रङ्ग को देखेंगे तो वहाँ हमें एक तीसरा विलक्षण हरित रङ्ग दिखलाई पड़ेगा । इस प्रकार जैसे यहाँ दोनों के विकार से हमें एक तीसरी चीज दिखलाई पड़ती है तद्वत् अमृत में मृत्यु के संग से हम विकार नहीं देख सकते अर्थात् विकार होना–यह मृत्यु मृत्यु का धर्म्म है–न कि अमृत-मृत्यु का । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है–

"यथा पुनः श्यामलपीतसङ्गतो विलक्षणं रूपमुदेति हारितम् ।
द्वयोर्विकारेण तथाऽमृते पुनर्न मृत्युसङ्गेन विकार ईक्ष्यते" ॥६१॥

प्रातःकाल में–आश्विन के महिने में–दूर्वा के अग्रभाग में संलग्न जो जल बिन्दु है, उसे हम सूर्य्य-किरणों के सम्बन्ध से–दिशाओं के भेद से कभी लाल देखते हैं–कभी हरित देखते हैं–कभी पीत देखते हैं ।

परन्तु वस्तुतः वह जल बिन्दु सफेद ही है । ठीक इसी प्रकार यह शुद्ध अमृत भी मृत्यु के वश से हमें नाना प्रकार का दिखलाई पड़ता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है–

"दूर्वाग्रतः प्रातरनेकदिक्क्रमात् दृष्टोऽम्बुबिन्दू रविरश्मिसंगतः ।
रक्तः स दृश्येत हरित्तथाऽन्यथा तथाऽमृतं मृत्युवशात् पृथग्विधम्" ॥६२॥

जिस प्रकार इस विमल जल में–सितोपला (मिश्री) बल के रूप से (पिघलने के स्वभाव से) स्वयं अपने रूप को विकृत करती हुई जल को भी विकृत कर देती है । परन्तु वस्तुतः इससे यह जल कुछ भी विकृत नहीं होता, क्योंकि यदि हम उस मिश्री भाग को उसमें से निकाल दें तो–जल अब भी अपने प्रातिस्विक रूप से निर्विकार है–ठीक इसी प्रकार यह अमृत भी मृत्यु के स्वरूप से कभी भी विकृत नहीं होता । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है–

"यथा जलेऽस्मिन् विमले सितोपला बलेन रूपेण विकुर्वते स्वयम् ।
जलं विकुर्वन्ति च तेन तज्जलं न वस्तुतो विक्रियते तथाऽमृतम्" ॥६३॥

जिस प्रकार विशुद्ध एवं शुक्ल पट को रङ्ग देने से वह कपड़ा लाल एवं हरित कहलाने लगता है । परन्तु यदि हम उस पर से रंग का संग नष्ट कर दें तो फिर वह पट अपने प्रातिस्विक धवलरूप में आ जाता है–ठीक इसी प्रकार यद्यपि वह अमृत-मृत्यु से ढके रहने के कारण विकृत दिखाई पड़ता है–तथापि पटवत् वह अब भी असङ्ग ही है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

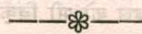
"विशुद्धशुक्लस्य पटस्य रञ्जनाद् यथा हरिद्रोहितरूपता मता ।
स रङ्गसङ्गस्य तु भङ्गतः शुचिस्तथाऽऽवृतेऽस्मिन्नमृतेऽप्यसङ्गतः" ॥६४॥

यह चाँदनी न कभी चन्द्रमा से पृथक् ही रहती है और न कभी नष्ट ही होती है । कई मनुष्य प्रश्न करते हैं कि यदि रस भी कोई पदार्थ है तो उसका हमें प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है ? इस प्रश्न का दृष्टान्त द्वारा समाधान करते हैं–कि जैसे दिन में यद्यपि चन्द्रिका है, परन्तु नहीं दीखती है, तद्वत् बलावच्छिन्न होने से रस भी नहीं दीखता अर्थात् सदा चन्द्रमा के साथ ही रहने वाली चन्द्रिका सूर्य्य के प्रकाश से अभिभूत होती हुई दिन में प्रकाश करने में जैसे असमर्थ होती है उसी प्रकार तमोराशि में अमृत के छुप जाने से हम उस अमृत का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पृथक्स्थिता या न कदापि नश्यति प्रकाशते सा दिवसे न चन्द्रिका ।
यथाऽभिभूता तपनप्रकाशतस्तथामृतं स्यात् तमसोऽतिशायने" ॥६५॥

चूंकि स्वभाव से ही–अमृत (ब्रह्म) निरञ्जन है–अतः आसञ्जनधर्म्मयुक्त मृत्यु के संग से न उसकी आसक्ति होती है–न मृत्यु के संग से उसमें क्षोभ होता है। न वह मृत्यु से लिप्त होता है–केवल वह मृत्यु से ढका हुआ दिखलाई पड़ता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यतः स्वभावादमृतं निरञ्जनं ततस्तदाऽऽसञ्जनमृत्युसङ्गतः।
न सज्जते न व्यथते न लिप्यते तदावृतं केवलमीक्ष्यतेऽन्यथा" ॥६६॥



८–सदसद्वादामृतमृत्युवादाहोरात्रवादानां पूर्णद्विसत्यवादशाखात्वम्।
सदसद्वाद–अमृतमृत्युवाद एवं अहोरात्रवाद का पूर्णद्विसत्योपनिषत् का शाखात्व सिद्ध करना—

इस प्रकार इस शान्त एवं स्थिरमूर्त्ति ब्रह्म में अनवरत जो कर्म्म नाच रहे हैं–वे ही सारे कर्म्म इस ब्रह्म में विकाररूप से भासित हो रहे हैं, परन्तु इन कर्म्मों का आधारभूत ब्रह्म तो अब भी शान्त ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एवं स्थिरे ब्रह्मणि शान्तमूर्तौ कर्म्माणि नृत्यन्ति निरन्तरं यत्।
तान्येव कर्म्माण्यखिला विकारा विभान्ति कर्मोपहितं तु शान्तम्" ॥६७॥

कर्म्म असत् एवं ब्रह्म सत् है–इस प्रकार–सत् और असत्–ये ही दो विश्व के मूल सिद्ध होते हैं। इन्हीं सदसत् को कई अमृत-मृत्यु नाम से एवं कई अहोरात्र नाम से पुकारते हैं–वस्तुतः है वह–एक ही चीज। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कर्म्म त्वसद् ब्रह्म सदित्थमाभात्यसच्च सच्च द्वयमेव विश्वम्।
कश्चित्तदाहामृतमृत्युशब्दं कश्चित्त्वहोरात्रवदेतदाहुः" ॥६८॥

॥ इति प्रथमो ब्रह्मकर्म्माधिकारः ॥

अथ

पूर्णद्विसत्योपनिषत् त्र्यधिकारा (तृतीयं पर्व)

तत्र

द्वितीयो ब्रह्मकर्म्मणोः सम्बन्धाधिकारः

२

संशयतदुच्छेदवादमूलसंस्कृतपाठः—

अथ ब्रह्मकर्म्मणोः सम्बन्धाधिकारः ।

१—ब्रह्मकर्मणोरलौकिकसम्बन्धाधिकरणम् ।

सम्बन्धमाहुः कृतिनो द्विनिष्ठं तत्रोभयोरेव कृती भवेताम् ।
किन्त्वत्र सम्बन्धगतिर्विभिन्ना स एकनिष्ठोऽत्र कृतिर्न हेतुः ॥१॥
कर्म्मैतदासञ्जनमस्ति तस्मादासक्तमेवैतदुपैति रूपम् ।
निरञ्जनं ब्रह्म ततोऽत्र कर्म्म प्रसङ्गतोऽप्यस्ति न बन्धभावः ॥२॥
यद् ब्रह्म तन्नाम रसं वदामो बलं वदामः पुनरत्र कर्म्म ।
रसः स्थिरस्तत्र बलं प्रविष्टं बलानुरोधाद् रस एव विश्वम् ॥३॥
बलं हि यत्नो बलमेव हेतुर्बलप्रयोगाय बलं कुतः स्यात् ।
अयत्ननिर्हेतुकमेतदस्मिन् रसे बलं नित्ययुतं स्थितं स्यात् ॥४॥
एकस्तु सम्बन्धमपेक्षते परो नापेक्षते तेन स एकतः कृतः ।
तिष्ठत्युदासीनतया बले रसो न सज्ज्यते सज्ज्यत एव तद्बलम् ॥५॥
संबध्यते तत्र रसे बलं भृशं तेनेदमाभाति बलं रसात्मना ।
संबध्यते नैष रसो बले यतस्ततो रसोन्मुक्तमिदं विलीयते ॥६॥
रसोऽपि चेत्तेन बलेन बन्धं यायात्तदा तस्य बलस्य नाशे ।
रसोऽपि नश्येद्विकृते बले वा रसोऽपि तद्वद्विकृतोऽभविष्यत् ॥७॥
प्रत्यक्षमीक्षे तु मृदो घटस्य वा सत्ता किलैका, घटनाशतोऽपि सा ।
मृन्नाशतो वा बलनाशतोऽपि वा शून्यस्थिता सा न कदापि नश्यति ॥८॥
यथा घटाकाशविनाशवासना घटक्षयोपाधिकृता न वस्तुतः ।
तथैव सत्ताविगमस्य धीरियं घटक्षयोपाधिकृता न वस्तुतः ॥९॥
घटेन सत्ता यदि बन्धमेयात् घटाप्यये ऽवश्यमिदं त्वपेयात् ।
सत्ता रसो नित्यमनञ्जनोऽयं तत्रैव विश्वानि न तेषु सोऽयम् ॥१०॥
इत्थं रसो यद्यपि न क्वचिद्बले सम्बन्धमायाति विकारमेति वा ।
तथापि तस्मिन् बलमेकतः सदा सम्बद्धमेव ध्रियतेऽन्तरिक्षवत् ॥११॥

अथोदितः कर्मसु कर्मणां तु यः सम्बन्ध इष्टः स विभिन्नलक्षणः ।
तयोर्विवेकाय पृथक् पृथक् पुनः सम्बन्धभेदानिह दर्शयाम्यहम् ॥१२॥

२—कर्म्मणि कर्म्मसंबन्धाः पञ्चविधाः ।

कर्मान्वयः कर्मणि पञ्चधा स्यात् स्थानावरोधेन[1] समञ्जसेन[2] ।
ऐकात्म्यरूपेण[3] तथैकभाव्यरूपेण भक्त्या[5] च विशेषसर्गे ॥१॥

(१) जलेन पूर्णे न जलं मृदा न मृत्स्थितेर्विरोधान्मणिके[1] निवेश्यते ।
स्थानाच्छ्लथाणोरपसर्पणात् त्वसौ शङ्कुर्निखातः क्षितिभित्तिदारुषु ॥२॥
(२) समञ्जसत्वात्तु गृहे प्रकाशे दीपप्रकाशाः शतमाभवन्ति ।
दीपेषु भूयस्स्वधिकावकाशाऽवगाहिभासोऽपि स देशवृत्तेः ॥३॥
यद्दर्पणे चक्षुषि चाल्पदेशे तेजांसि रूपाणि पृथग्विधानि ।
दिग्भ्यः समागत्य पृथग्विधाभ्यः सहैव तिष्ठन्ति समञ्जसं[2] तत् ॥४॥
विचाल्यमानं हि बलेन केनचिद् विरुद्धदिग्लब्धबलान्तराश्रयात् ।
स्थिरीभवेत् तत्र विरुद्धदिग्भवं बलद्वयं तद् युगपत् सहाश्नुते[2] ॥५॥
(३) अयोग्निना, चूर्णमथाम्बुना, धृतेरैकात्म्यमायाति[3], मृदग्निपाचिता ।
(४) तेजोम्बुनोस्ते परमाणवो नवं जलाणुभावं[4] जनयन्ति योजिताः ॥६॥
(५) अनिर्बले दिग्द्वयभित्तिकीलावलम्बितप्रान्तयुगे तु सूत्रे ।
सूत्राद्बलिष्ठं ध्रियतेऽवलम्ब्यं वस्त्रादि तद्भुक्तिबलस्य भक्त्या[5] ॥७॥
महोन्नतं चापि महाबलिष्ठं कपाटमावर्तयते कृशोऽपि ।
लोष्टेन कीलेन च रुद्ध्यते तत् तत्राबलं तत् प्रबलस्य भक्तम्[5] ॥८॥
यो दुर्बलोऽप्येकजनो बलिष्ठान् राजाऽऽज्ञयाऽऽक्रामति भूयसोऽपि ।
तन्न्यायसिद्धान्तविरोधिनो वा तत्राबलं तत् प्रबलस्य भक्तम्[5] ॥९॥
गच्छत्यगच्छन् शिविकास्थितो नरस्तद्भुक्तिभूतः[5] शिविकागतिक्रमात् ।
इतीदृशे पञ्चविधेऽपि वान्वये स्थानावरोधोऽभिमतः प्रधानतः ॥१०॥
यः कर्मणो ब्रह्मणि संभवो न स स्थानावरोधाय कदापि जायते ।
पूर्णे रसेऽपूर्णबलं यतस्ततस्तादात्म्यरूपेण युनक्ति सर्वतः ॥११॥

३–ब्रह्मणि कर्म्मसंबन्धास्त्रयोदशविधाः १३ ।

❀शश्वद्धिते ब्रह्म च कर्म्म च द्वे तयोश्च सम्बन्ध उदेति शश्वत् ।
द्वयं विशिष्टाद्वयमेतदेवं सम्बद्धरूपं ध्रियतेऽपि शश्वत् ॥१॥
सम्बन्धभेदास्तु रसे बलस्य त्रयोदशाहुः किल तान् वदामः ।
[१]अलक्षणं चाथ [२]विभूति[३]योगौ [४]बन्धो[५]ऽमिता [६]वृत्तिरुदारवृत्तिः ॥२॥
स्यात्सप्तमीयं [७]समवायवृत्तिरा[८]सङ्गवृत्तिः पुनरष्टमी स्यात् ।
[९]अध्यूढ[१०]सन्धी [११]दहरोत्तरत्वौ[१२]तप्रोतभावौ च [१३]ग्रहोद्ग्रहत्वम् ॥३॥

४–त्रयोदशविधानां सम्बन्धभेदानां स्वरूपवृत्तित्वाभ्यां विभागः ।

अन्योन्यमेते परिवर्त्तिताः स्युस्तेषाममीषां परिवर्तनं यत् ।
आकस्मिकं तन्न फलान्न कामात् स्वभाव एवात्र परं निदानम् ॥४॥
स्वरूपसम्बन्धविधाश्च[४]तस्रो वृत्तित्वसम्बन्धविधास्ततोऽन्याः ।
पर्य्याप्तिवृ[४]त्तित्वविधाश्चतस्रोऽन्वाभक्तिवृत्तित्व[५]विधास्तु पञ्च ॥५॥
उद्भावकं स्यात् पुरुषप्रकृत्योः [४]स्वरूपमायोजकमेतयोः स्यात् ।
[४]पर्याप्तिवृत्तित्वमथैवम[५]न्वाभक्तिस्तु पुंसोरिह सन्धिहेतुः ॥६॥
अन्तःप्रवेशादविविक्ततायां स्वरूपसम्बन्ध इति प्रसिद्धिः ।
विविक्तभावेन तयोः प्रतीतौ वृत्तित्वसम्बन्धमुदाहरन्ति ॥७॥

❀ ब्रह्मणि कर्म्मसम्बन्धास्त्रयोदश १३

स्वरूपसंबन्धाः ४			पर्य्याप्तिवृत्तित्वसंबन्धाः			अन्वाभक्तिवृत्तित्वसंबन्धाः		
१	अलक्षणम्	असंसर्गः	१	अमित-वृत्तित्वम्	असंसर्गः	१	सन्धिः	असं०
२	विभूतिः	संसर्गः				२	दहरोत्तरत्वम्	,,
३	योगः	संसर्गः	२	उदारः	संसर्गः	३	ओतप्रोतत्वम्	,,
४	बन्धः	संसर्गः	३	आसङ्गः	संसर्गः	४	ग्रहातिग्रहत्वम्	,,
			४	समवायः	संसर्गः	५	अध्यूढत्वम्	,,

५–तेषां पुनः संसर्गासंसर्गाभ्यां विभागः ।

※ अपूर्वसृष्टिर्यदि चेदुभाभ्यां संसर्ग उक्तः स समन्वयोऽपि ।
षडत्र संसर्गविधाः स्युरेवं सप्तत्वसंसर्गविधाः स्युरन्याः ॥१॥
बन्धश्च योगश्च विभूतिनामाऽऽसङ्गोऽप्युदारः समवाय इत्थम् ।
त्रिधा स्वरूपं त्रिविधा च वृत्तिः संसर्गसम्बन्धविधाः षडेताः ॥२॥
अलक्षणे चामितवृत्तितायामध्यूढसन्ध्यादिकपञ्चके च ।
न सर्गक्लृप्तिर्न च मोक्षक्लृप्तिस्तस्मादसंसर्गविधाः स्युरेताः ॥३॥

६–स्वरूपसंसर्गाणां वृत्तित्वसंसर्गाणां च परिभाषा ।

बलं रसे ब्रह्मणि चोत्थितं पतन्निलीयते तत्र पुनर्विजायते ।
तत्र स्वरूपेण निलीयते पुनः समुत्थितं वृत्तितयाऽनु सज्जते ॥४॥
यत्रोदयं याति बलं तु तद्रसे संसर्ग एतस्य विधीयते नहि ।
बलान्तरेणोपहिते रसान्तरे बलान्तरं याति समन्वयः स हि ॥५॥
रसो रसेनैक्यमुपैति चेद्बलं बलेन भूयोऽप्युभयं यदेकताम् ।
तदा स्वरूपं प्रथते ततोऽन्यथा वृत्तित्वमेवेति मुहुर्विचिन्त्यताम् ॥६॥
बलप्रवाहं प्रथमप्रवृत्तं यदोपमर्द्यानुपमर्द्य वाऽस्मात् ।
प्रवर्ततेऽन्यः प्रबलः प्रवाहः संसर्गसम्बन्धगतिस्तदा स्यात् ॥७॥

७–अलक्षणमसंसर्गः स्वरूपसम्बन्धः ।

स्वरूपसम्बन्धगतिर्द्विधा स्यान्मृत्युप्रसुप्त्याऽमृतमृत्युभुक्त्या ।
स्वापे बलं स्यात्तु रसस्वरूपं बलस्वरूपस्तु रसो न तेन ॥८॥

※ ब्रह्मणि कर्म्मसंबन्धास्त्रयोदश १३

१	बन्धः	स्वरूप–संसर्गाः ३	१	अलक्षणम्	असंसर्गः स्वरूपसंबन्धः १
२	योगः		२	अमितवृत्तिता	असंसर्गः पर्य्याप्ति-वृत्तित्वम् १
३	विभूतिः		३	अध्यूढभावः	असंसर्गः अन्वाभक्तिवृत्तित्वं ५
४	आसङ्गः	पर्य्याप्ति—वृत्तित्व–संसर्गाः ३	४	ग्रहातिग्रहभावः	,,
५	उदारः		५	ओतप्रोतभावः	,,
६	समवायः		६	दहरोत्तरभावः	,,
			७	संहिता (सन्धिः)	,,

सुप्त्वा न जागर्ति रसो न शेते ततो रसो नास्ति बलस्वरूपः ।
जागर्ति निद्राति बलं ततस्तत् सुप्तं भवत्येव रसस्वरूपम् ॥६॥

प्रस्वापतो यत्र भवेत् स्वरूपमलक्षणं तन्न च तत्र सर्गः ।
अन्योन्यभोगात्तु तयोः स्वरूपे समन्वयोऽस्तीह ततोऽस्ति सर्गः ॥१०॥

८-अलक्षणसम्बन्धोदाहरणानि ।

यथास्ति पादे गतये बलं करे तत्क्षेपणायास्ति बलं तथा मुखे ।
वक्तुं बलं किन्तु न सर्वदा ततः कार्य्याणि लोके, तदलक्षणं बलम् ॥१॥

यथात्र बीजेऽस्ति कुटाङ्कुरोद्भिदे रसानिहाकृष्य निरन्तरं क्रमात् ।
स्कन्धप्रशाखाविटपादिभूतये बलं तथाप्यद्य तदस्त्यलक्षणम् ॥२॥

इहावकाशेऽस्ति तमस्तथेह च्छाया तथेहातप एष इत्थम् ।
लक्ष्यन्त एते हि दिवावकाशा नक्तं तदाकाशमलक्षणं स्यात् ॥३॥

तथा विशुद्धेऽस्त्यमृते स मृत्युः सुप्तस्ततोऽव्यक्ततयास्त्यलक्ष्यः ।
वैविध्यतो लक्षयतेऽमृतं यः स नास्ति तेनामृतमप्यलक्ष्यम् ॥४॥

तदन्तरे तत्परितो बहिर्धाऽऽहितं हि मृत्यावमृतं समन्तात् ।
तत्रास्य मृत्योरमृतं स्वरूपं सर्वाविविवतं तदलक्षणं स्यात् ॥५॥

अलक्षणं तज्जगतोऽस्य रूपमाद्यं ततो लक्ष्यमिदं जगत् स्यात् ।
नाना जगन्ति प्रभवन्ति तेषामन्यान्यकालाः प्रलयोदयाः स्युः ॥६॥

९-संसर्गसम्बन्धे सम्बन्धिनोर्बीजयोनित्वाभ्यां विभागः ।

आधीयतेऽन्यत्र यदन्यदस्मिन्नभ्याहितं चेदुदरेऽन्तरेति ।
स्वरूपतस्तच्च्यवते तदानीं भुक्तं तदन्येन तदन्यदाहुः ॥१॥

अन्नादनं तद् द्विविधं क्वचिद्वा विस्रस्तभागप्रतिपूरणाय ।
ह्रदे प्रणालीहृतवारिपूर्त्यै वारिप्रणाल्याऽपरयाऽभ्युपैति ॥२॥

दीपार्चिषि स्रंसितभागपूर्ति करोति तैलं क्रमशः प्रविष्टम् ।
जीवोऽपि सर्वोऽन्नमिहात्ति तत् तद्विस्रस्तभागप्रतिपूर्तिहेतुः ॥३॥

अथ[२] क्वचिद्वा नववस्तुसृष्टयै तदन्नमन्नादसमन्वितं स्यात् ।
एकस्य पिष्टस्य विशेषयोगादन्यान्यवस्तूनि भवन्ति लोके ॥४॥

दुग्धे तदन्यान्यविशेषयोगादामिक्षिका वा दधि वा शरो वा ।
रसे तदन्यान्यबलप्रयोगात् परोऽक्षरो वा भवति क्षरो वा ॥५॥

तत्रेह सृष्टयर्थयुतिक्रमे यो भोगाय भोक्ता क्रमते स्वभोग्ये ।
स उच्यते तत्र वृषाऽथ योषा संज्ञायते भोग्यतया प्रतीता ॥६॥
संसृज्यते तत्र च यावदंशो वृष्णस्तमंशं कथयन्ति बीजम् ।
यावान् समन्वेत्यपि योषिदंशो योनिः स तावान् व्यपदिश्यतेऽत्र ॥७॥
मृत्युर्यदि स्यादशितोऽमृतेन स्वरूपसंसर्गत आत्मसृष्टिः ।
बलाशितेऽस्मिन्नमृते तु योनेः स्वरूपसंसर्गवशेन सृष्टिः ॥८॥
रसोऽयमात्मा पुरुषोऽथ तस्य तद्बलं तु योनिः प्रकृतिश्च कथ्यते ।
यावन्न जायेत समन्वयोऽनयोर्न तावदाभ्यां किमपीह सृज्यते ॥९॥
रसस्वरूपेण समन्विते बले कर्मात्मनः स्यात्पुरुषस्य संभवः ।
बलस्वरूपेण समन्विते रसे योनेः प्रकृत्या अपि संभवो नवः ॥१०॥

१०–त्रयः संसर्गाख्याः स्वरूपसंबन्धाः ।

स्वरूपसंसर्ग इह त्रिधा स्याद् बन्धश्च योगश्च तथा विभूतिः ।
अनुग्रहादेव भवेद् विभूतिर्यत्कौशलं कर्मसु योग एषः ॥१॥
बन्धस्तु सङ्गातिशयादिह स्यादेभिस्त्रिभिः संस्त्रियते स आत्मा ।
त आत्मसर्गास्त्रिविधाः प्रसिद्धाः संसर्गनाशं तु वदन्ति मोक्षम् ॥२॥
ब्रह्मप्रधानः स विभूतिसर्गः कर्म्मप्रधानः पुनरेष बन्धः ।
द्वयोस्तु साम्ये भवतीह योगो विश्वं त्रिसंसर्गवशात् प्रवृत्तम् ॥३॥

११–विभूतिसंसर्गः । [१]

यत्र द्वयोरन्वितयोस्तु सर्गादेकं मृतं स्यादमृतं द्वितीयम् ।
स्वतन्त्रमेकं परतन्त्रमन्यच्चान्वेति नान्वेति विभूतिरेषा ॥१॥
यद्दर्पणे सन्निहितं मुखं, जपापुष्पस्य वर्णः स्फटिकेऽवभासते ।
तत्राहितोऽर्थो विभवन् स्वमाश्रयं स्वेनैव रूपेण तदाऽवभासयेत् ॥२॥
आवेशसत्त्वे तु विभूतिरिष्टा, नात्राविशत् नात्र विभूतिरेषा ।
उदारवृत्तिः कथितोपरागादत्रोपरागं हि वदन्ति वृद्धाः ॥३॥
यत्ताम्रतन्तौ ज्वलतीह विद्युद्, यदग्नितापोऽस्ति जलेऽनुतप्ते ।
याङ्गारखण्डेऽङ्गिरसः स्थितिः सा विभूतिरस्तीति समर्थयामः ॥४॥
यदिच्छतो यत्नवतः स्थिरः करः प्रतिष्ठतीह प्रचरत्यनेकधा ।
प्राणस्य प्रज्ञानुचरस्य सा करे विभूतिरन्तर्निहिताऽप्यलिप्तवत् ॥५॥

उत्क्षिप्यते लोष्टमथो शरस्तयो र्यदाहितं स्याद् बलमन्तरान्तरे ।
शरो बलेऽसौ बलमस्ति तच्छरे विभूतिरेषा न शरेऽनुषज्जते ॥६॥
न चेष्टका शुष्कमृदा भवेत् ततो जलात् करोतीह मृदं सुपेशलाम् ।
तयेष्टकासंपदि शोष्यते जलं शिवाग्निवायुर्विभवत्यथेष्टकाम् ॥७॥
न लोहखण्डद्वितयं परस्परं संसृज्यते तेन तदग्निना द्वयम् ।
सुपेशलं चेदपि सृज्यतेऽञ्जसा शिवाग्निवायुर्विभवत्यनुष्म तत् ॥८॥
गजाश्ववेश्माद्रिवनादयो यदा दृष्टौ स्मृतौ वा प्रतिभाति तत्र हि ।
विज्ञानमेकं विभवत्यनुक्रमादमीषु भूयो महिमस्वनेकधा ॥९॥

१२—योगसंसर्गः । [२]

यत्र द्वयोरन्वितयोः स्वतन्त्रप्रवृत्तयोः कर्मणि साहचर्य्यात् ।
द्वियोगजं सृष्टमपूर्वमुद्यान्न चान्यतोन्यन्म्रियते स योगः ॥१०॥
प्राचीं प्रतीचीं च पृथक् पतत्रे पतत्रिणः संपततस्ततः स्यात् ।
गत्योर्द्वयोर्योगवशादुदीचीगतिर्विभिन्ना समकोणसिद्धा ॥११॥
यत्पाणिना पाणिरमुष्य घृष्यते बलाद् दृढोऽश्मा प्रतिहन्यतेऽश्मना ।
विरुद्धशक्तिद्वययोगतस्ततस्तदाऽनलश्चक्रगतिर्विजायते ॥१२॥
कृष्णोऽतिसूक्ष्मावरणोऽन्तराहितो बहिर्भवन् भास्वरशुक्ल ईक्ष्यते ।
रक्तः स वर्णस्तत एव शोणितो धूमाग्निरङ्गारशुचिः प्रगे रविः ॥१३॥
पीतेऽतिसूक्ष्मावरणेऽन्तराहितो बहिर्भवन् श्यामल ईक्ष्यते यदि ।
हरित् स वर्णस्तत एव शाखिनां पश्यन्ति पत्राणि हरीन्ति सर्वतः ॥१४॥

१३—बन्धसंसर्गः । [३]

यत्र द्वयोरन्वितयोरपूर्वं द्वियोगजं सृष्टमुदेति किन्तु ।
अन्योन्यमन्योन्यहतं मृतं सत् पृथक् स्वतन्त्रं न भवेत् स बन्धः ॥१५॥
यथाप्सु वायुः प्लवते स खण्डशो यदोदकैराव्रियते स बुद्बुदः ।
न चावृतिस्त्रुट्यति चेत् तदोभयं संसृज्य बद्धं भवदेति फेनताम् ॥१६॥
दुग्धं प्रतप्तं यदि शीतवायुनाऽभिभूयते वायुरयन्तु बध्यते ।
दुग्धस्य वायोरपि बन्धनान्मिथः शरः समुद्भूय पृथग् विजायते ॥१७॥
अग्निः क्रमादुत्क्रमते रसान्नयन्, वायुः क्रमादन्तरुपैति संदधत् ।
वायोः स्वयोग्ये हि रसेऽनुबन्धनादयं रसस्तत्र शरः प्रजायते ॥१८॥

१४—स्वरूप-संसर्गाणामुदाहरणम् ।

तृणेषु बन्धादिह[1] दुग्धमस्मिन् जलं विभूत्या,[2] द्रवताऽम्बु[3] योगात् ।
दुग्धे तृणं वृत्तिमदाहितं[4] चेदेकत्र संसर्गचतुष्कमित्थम् १६।।
स्वरूपसंसर्गिबलप्रबुद्धयात्मनः स्वरूपेऽस्य तथा स्वभावे ।
सक्तौ च वृत्तौ स्वयमेव भेदः प्रवर्तते तेन च वस्तुभेदः ।।२०।।

१५—वृत्तित्वसंबन्धनिर्देशः ।

स्वरूपसंबन्धविधाश्चतस्रो रसे बलानामुदिता इतीत्थम् ।
सर्ग्या असर्ग्याश्च तथात ऊर्ध्वं वृत्तित्वसंबन्धविधाः प्रदर्श्याः ।।१।।
यत्राश्रितस्याश्रयतोऽन्वयेन संसृज्य नापूर्वमुदेति किञ्चित् ।
यत्राश्रितं स्वाश्रयनैरपेक्ष्यात् प्रवर्तते कर्मसु वृत्तिता सा ।।२।।
यथा हि पथ्यस्य जनस्य गच्छतः पन्था निमित्तं ध्रुवमाश्रयत्वतः ।
न चैवमप्येष गति-स्वरूपगो वृत्तित्वमेवं तदुदाहरन्ति हि ।।३।।
यथायमाकाशगतः समीरणो व्याप्नोति चाकाशमशेषदिक्ष्वपि ।
न वायुनाकाशमिदं विलिप्यते तथाखिलं स्याद्रसवृत्ति तद्बलम् ।।४।।

१६—सामान्यवृत्तित्वम् । असंसर्गो वृत्तित्वसंबन्धः ।

रसे बलं सर्वबले रसो वा, सर्वोऽन्वितं रूपमिहास्ति शश्वत् ।
तयोर्न मात्रा नियमस्तदानीं सामान्यवृत्तित्वमिदं न सर्गः ।।५।।
यथा वने सन्ति मृगादिजन्तवो लुठच्चरा वा शतशः सहस्रशः ।
असद्भिरेतैर्न वनस्य हीयते वनं विनापि स्युरमी यतस्ततः ।।६।।
यथेह यच्च क्व च किञ्च लोके ब्रह्माण्डचक्रेऽखिलमेतदास्ते ।
सामान्यवृत्तित्वमिदं न तेभ्यो ब्रह्माण्डयोगादिह कोऽपि सर्गः ।।७।।

१७—त्रयः संसर्गाख्या वृत्तित्वसंबन्धाः [३]

आसक्त्युदारौ समवाय इत्थं वृत्तित्वसर्गोपि भवेत् त्रिधैव ।
तेन स्वरूपत्रयमुक्तवृत्तित्रयं षडेतेऽमृतमृत्युसर्गाः ।।८।।
स्वरूपसंसर्गिबलादिहात्मा विधीयतेऽनेकविधः स भोक्ता ।
वृत्तित्वसंसर्गिबलात्तु भोक्तुस्तस्यात्मनो भोग्यमुपस्थितं स्यात् ।।९।।

१८–उदारवृत्तित्वम् । संसर्गः [१]

बलस्य यस्यां रसवृत्तितायां सिध्यत्यसाधारणतैव तस्मिन् ।
निष्पन्दता वा रसलिप्तता वा न जायते सा तदुदारवृत्तिः ॥१०॥

यथायमाकाशगतः समीरो निर्लिप्त एव प्रचरत्यमुष्मिन् ।
भवत्यसाधारणतामुपेतः खभेदतस्तद्वदिहापि विद्यात् ॥११॥

यथा जलं पुष्करपत्रनिष्ठं निर्लिप्तमेव प्रचरत्यमुष्मिन् ।
भवत्यसाधारणतामुपेतं क्वचिद्भूतं तद्वदिहापि विद्यात् ॥१२॥

१९–समवायवृत्तित्वम् । संसर्गः [२]

बलस्य यस्यां रसवृत्तितायां सिद्धयेदवष्टम्भ इहाविदूरे ।
निष्पन्दमस्मिन्नवलम्बितं स्यान्न संचरेत् सा समवायवृत्तिः ॥१३॥

यथा पटस्तन्तुषु मृद्घटो वा मृत्स्वेव तिष्ठत्यवलम्बमानम् ।
निष्पन्दरुद्धं न ततः पृथक् स्यान्न चाश्रयं हन्ति तथेह विद्यात् ॥१४॥

यथा गुणा द्रव्यगता अमुष्मिन् प्रतिष्ठिताः सन्त्यवलम्बिनस्ते ।
निष्पन्दरुद्धा न ततः पृथक् स्युर्न वाश्रयं हन्युरिहापि तद्वत् ॥१५॥

इहेदमस्तीति मतिः पृथक्त्वकाभावेऽपि चेत् सा समवायवृत्तिता ।
यथा प्रदीपेऽर्चिरुपैति, शाखिनो वने, सरस्यम्बु, भटाश्वमूगताः ॥१६॥

२०–आसङ्गवृत्तित्वम् । संसर्गः [३]

बलस्य यस्यां रसवृत्तितायां बलेन लेपः पुरुषेऽत्र सिद्धयेत् ।
लेपाच्च तस्यावरणाद् विकारः स्यादात्मनः सा खलु सङ्गवृत्तिः ॥१७॥

यथाऽऽहितं सैन्धवखिल्यमप्सु व्याप्नोति ताश्चावृणुते विलिम्पत् ।
रूपाद्रसाद्वा विकरोति तोयं ह्यासक्तिवृत्त्यात्मबलं च तद्वत् ॥१८॥

यथा विशुद्धस्य पटस्य रञ्जनादन्तर्बहिस्तन्तुविकार ईक्ष्यते ।
तदङ्गलेपावरणात् तथात्मनो विकार आसक्तिवशेन जायते ॥१९॥

२१–वृत्तित्वसंसर्गोदाहरणानि ।

पत्रेऽन्तरे या सुदृढास्ति लेखा मस्यादिक्लृप्ता च बहिर्दृढा या ।
छाया मयूखादिकृता च लेखा क्रमेण सक्तिः समवाय्युदारौ ॥२०॥

अर्थेऽनपेक्षे प्रभवत्युदारता प्रज्ञस्य नात्र स्मरणं न संस्क्रिया।
संस्कारभावे समवाय इष्यतेऽथासक्तिरस्य व्यसनेषु जायते ।।२१।।

यत्रायमभ्यस्यति गद्यपद्ये तत् संस्क्रियास्मिन् समवैति तद्वत्।
स्याद्धारणाध्यानसमाधियोगात् स संयमो योगबलानि चास्मिन् ।।२२।।

यज्ञप्रभावाद् यजमान आत्मा संपद्यते हि द्विविधस्तयोः स्यात्।
साँस्कारिकत्वात् समवाय इत्थं सर्वत्र सम्बन्धगतिं प्रविद्यात् ।।२३।।

२२–कर्म्मात्मनि वृत्तित्वसंसर्गत्रयम्।

तत्रैककर्मात्मनि तस्य सक्तिरुदारवृत्त्यैव हि संनिधत्ते।
उदारसक्त्या हि परः स्वभावादाविश्य विश्वं स बिभर्ति नित्यम् ।।२४।।

कार्य्यप्रसूतिः समवायवृत्त्या द्वैकर्मिकत्वे समवायवृत्तिः।
ततोऽक्षरस्यैव तु कारणत्वं परस्य नैतत् समवायिभेदात् ।।२५।।

आसक्तिवृत्त्यैव भवेद् विकारो न त्वक्षरे नापि परे विकारः।
त्रैकर्मिके सक्त्युपपत्तितोऽयमसङ्ग आत्मा स परोऽक्षरश्च ।।२६।।

उदार एवं समवाय एवं व्यासक्तिरेवं त्विति वृत्तितेयम्।
त्रिधापि कर्म्मात्मनि कर्म्महेतोः प्रवर्तते शुद्धरसे तु नास्ति ।।२७।।

पर्य्याप्तिवृत्तित्वविशेषभेदाश्चतुर्विधः एवमिहोपदिष्टाः।
अतः परं पञ्च निदर्शयामोऽन्वाभक्तिवृत्तित्वविधा असर्गाः ।।२८।।

२३–उदूढसम्बन्धभेदाः (संहिताः)।

भूतप्रतिष्ठं क्वचिदस्ति भूतं प्राणेन वा स्याद्विधृतं च भूतम्।
प्राणः क्वचित् प्राणधृतोऽथ वा स्यात् त्रेधा तदित्थं प्रभवत्युदूढम् ।।१।।

अन्योन्यतश्चेद्विधृतिस्तदेकं प्राणद्वयोर्दूढमिदं बलिष्ठम्।
प्राणस्य भूते विधृतिस्तु मध्यं भूतद्वयोदूढमिदं निकृष्टम् ।।२।।

यच्छर्कराचूर्णचयोस्ति तस्मिन् चूर्णानि भूप्राणविधारितानि।
अधःस्थचूर्णं तु तदूर्ध्वचूर्णं प्रतिष्ठितं नो विधृतं मिथस्तत् ।।३।।

ये चैकलोष्टे परमाणवः स्युस्तेषामणूनां हि परस्परेण।
प्राणाः उदूढा अथवैक्यमासक्त्याप्ता इहैते सयुजोऽणवः स्युः ।।४।।

यथा हि तैलं च जलं च योगेप्यमिश्रमन्योन्यगतं विभाति।
प्राणास्त्रयः प्रज्ञगताश्च तद्वत् तिष्ठन्त्युदूढाः सयुजोऽप्यमिश्राः ।।५।।

त्रयः समुद्रा यजुषामिहाग्निर्ऋचां महोक्थं च महाव्रतं तु ।
साम्नां त एते त्रिविधाः समुद्रा उद्गूढवृत्त्यैव सहस्थिताः स्युः ॥६॥

एवं तदेकैकसमुद्रमध्ये महान्ति चोक्थानि महाव्रतानि ।
ये चाग्नयः साकमुद्गूढवृत्त्या तानि स्थितान्यत्र परस्परेण ॥७॥

२४–कोशाधानम् ।

अथान्तरिक्षोदर एष पृथ्वी बुध्नोस्ति कोशो वसुधानकोशः ।
द्यौरुत्तरं तस्य बिलं दिशस्तास्तत्स्रक्तयो विश्वमिदं हि तत्स्थम् ॥८॥

२५–आरण्यकीयसंहिताभेदास्त्रिखण्डाः ।

उद्गूढसम्बन्ध इहोच्यते यस्तां संहितामाहुरिहैतरेयाः ।
अङ्गानि च त्रीणि वदन्ति तस्याः ससंहिते ह्युत्तरपूर्वरूपे ॥९॥

स्यात् पूर्वरूपं पृथिवी तथा द्यौः स्यादुत्तरं रूपमथैष वायुः ।
स्यात् संहितेत्याह तु शूरवीरो माक्षव्य आकाशमवैन्न वायुम् ॥१०॥

आगस्त्य इत्याह समानमेतद् द्वयं यदाकाशमथैष वायुः ।
इत्थं निरुक्तान्यधिदैवतं तान्यध्यात्ममप्येवमुदाहरन्ति ॥११॥

वाक् पूर्वरूपं मन उत्तरं स्याद् वागुत्तरं वा मन एव पूर्वम् ।
स्यात् संहिता प्राण इहेति माण्डूकेयः प्रपश्यत्यपि शूरवीरः ॥१२॥

या संहिता प्राणमनोवचोभिः सा प्रष्टिवाहाश्वरथेन तुल्या ।
उद्गूढमत्रैव समस्तमेतद्विश्वं क्वचित् संसरतीव नित्यम् ॥१३॥

२६–शाकल्यसंहिताभेदाश्चतुःखण्डाः ।

अथैष शाकल्यमहर्षिरस्या अङ्गानि चत्वारि विविच्य वक्ति ।
यत्पूर्वरूपोत्तररूपसन्धिसन्धातृभिस्तानि पृथग् विभान्ति ॥१४॥

पृथ्वी तथा द्यौरथ वृष्टिरेवं पर्जन्य इत्थं त्वधिदैवतं तत् ।
अध्यात्ममप्येवमिदं वदन्ति यतोऽस्ति सर्वः पुरुषोऽयमान्दम् ॥१५॥

तस्याध ऊर्ध्वं विदले भवेतां तत्रोत्तरं द्यौरधरं तु पृथ्वी ।
तदन्तरं खं तु यथान्तरिक्षं प्राणस्त्विहामुत्र यथास्ति वायुः ॥१६॥

ज्योतींष्यपि त्रीणि यथा ह्यमुष्मिंस्तथैव चास्मिन् पुरुषेपि सन्ति ।
सूर्य्योऽस्ति चक्षुर्हृदयं तु विद्युद्रेतो ह्युपस्थेऽग्निरिवावभाति ॥१७॥

२७–तारुक्ष्यसंहिता । सामसंहिताख्या ।

अथाह तारुक्ष्यमहर्षिरित्थं वागस्ति रूपं हि रथन्तरस्य ।
प्राणस्तु रूपं बृहतस्तयोः सन्धीयेत रूपेण हि संहितेयम् ॥१८॥

धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोः रथन्तरं कश्चिदुदाजहार ।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोरग्नेश्च कश्चिद् बृहदाचकार ॥१९॥

२८–कौण्ठरव्यसंहिता । अवरोत्तराख्या ।

वाक्[१] प्राणतो[२]ऽसौ पवमानतो[३]ऽसौ विश्वैश्च[४] देवैरथ ते द्युलोकात्[५] ।
स ब्रह्मणे[६]त्याह तु कौण्ठरव्यो यां संहितां सा ह्यवरोत्तरा स्यात् ॥२०॥

पञ्चालचण्डस्तु महर्षिरेषा वाक्संहितेत्याह चराचराणाम् ।
वागेव सर्वं त्विदमस्ति वाचा सन्धीयतेऽन्योन्यमिदं समस्तम् ॥२१॥

छन्दांसि वेदा इतरे च सन्धीयन्ते हि वाचाऽस्त्यनया तदैक्यम् ।
वाचैव मित्राण्यपि सर्वभूतान्यमूनि वा संदधतीह सर्वे ॥२२॥

२९–प्रतर्दनसंहिता । द्विखण्डा ।

प्रतर्दनः पश्यति यावदेष प्रभाषते प्राणिति नैष तावत् ।
यावत्तु स प्राणिति नैष तावत् प्रभाषतेऽन्योन्यतदाहुतिः स्यात् ॥२३॥

यत्र त्वधीतेऽप्यथ भाषते वा प्राणस्तदा वाचि तदैक्यमेति ।
तूष्णीं स आस्तेऽप्यथ यत्र शेते प्राणे तदा वागियमैक्यमेति ॥२४॥

एकः सुपर्णोऽस्ति समुद्रमध्ये स एव विश्वं भुवनं विचष्टे ।
विशुद्धदृष्टया तमपश्यमन्ते माता च तं लेढि स मातरं च ॥२५॥

३०–अदितिसंहिता चतुःखण्डा ।

प्रजापतिश्चादितिसंहिताया अङ्गानि चत्वारि पृथग् विवक्ति ।
जाया हि पूर्वं पतिरुत्तरं स्यात् सन्धानसन्धी जननप्रजे स्तः ॥२६॥

३१–तित्तिरिसंहिता । चतुःखण्डा ।

अङ्गानि चत्वारि च संहितायामाचक्षते तित्तिरयोऽपि तद्वत् ।
तत्पूर्वरूपोत्तररूपयुग्मं सन्धिश्च सन्धानमिति द्वयं च ॥२७॥

तत्पूर्वरूपं प्रतियोगि यत्स्यादथानुयोग्युत्तररूपमाहुः ।
तदन्तरे तिष्ठति यः स सन्धिः सन्धानमेतत् त्रयबन्धि सूत्रम् ॥२८॥

पृथ्वी तथा द्यौरिदमन्तरिक्षं वायुस्तथेति ध्रियतेऽधिलोकम् ।
अग्निस्तथादित्य इमास्तथापोऽधिज्यौतिषं वैद्युत इत्यवेहि ॥२९॥

आचार्यको माणवकश्च विद्याऽथाध्यापनं चेत्यधिविद्यमूह्यम् ।
अधिप्रजं तानि भवन्ति माता पिता प्रजाऽथो जननं क्रमेण ॥३०॥

अध्यात्ममेतान्यधराहनुर्योत्तराहनुर्यास्त्यथ वाक् च जिह्वा ।
इत्थं नु सर्वत्र चतुष्टयं तत् संभावयन्ति क्रमशो यथार्थम् ॥३१॥

३२-बाध्वसंहिता-एकायनसंहिताख्या ।

शारीरकश्छान्दस एष वैदिको महानपीत्थं पुरुषाश्चतुर्विधाः ।
अस्मिन् शरीरे निवसन्ति संहितां तत्रैष बाध्वोऽनुविधं समीक्षते ॥३२॥

शारीरको योस्त्यशरीर आत्मा स प्रज्ञ एकोस्ति रसः शरीरे ।
अकार एवास्ति रसः स आत्माऽभिप्रेयते छन्दसि वाङ्मयेऽपि ॥३३॥

येनैष वेदानिह वेद तस्य ब्रह्मा रसो वेदमये स आत्मा ।
संवत्सरोऽन्यः पुरुषो महानादित्यो रसस्तस्य मतः पुराणैः ॥३४॥

भूतानि पूर्वाणि विनाशयत्यैक्याभावयत्येष नवानि तानि ।
स एष संवत्सर एव देहे स्थितो महापूरुष उक्त आत्मा ॥३५॥

प्रज्ञात्मको वर्ष्मणि योऽशरीरो यश्चैष आदित्य इहैकमेतत् ।
ततो निरुक्तोऽखिलजङ्गमानां स स्थावराणामपि सूर्य्य आत्मा ॥३६॥

छन्दोगसंघा हि महाव्रतं ते विदुर्महोक्थेऽपि च बह्वृचास्तम् ।
अध्वर्यवोऽग्नौ च तमेव पृथ्व्यां विव्यन्तरिक्षे च तमेव वायौ ॥३७॥

तमप्सु पश्यन्ति तमोषधीषु वनस्पतिष्वाकलयन्ति चन्द्रे ।
सर्वेषु भूतेषु स एष आत्मा विभाति संवत्सरसंमितः सन् ॥३८॥

चक्षुर्मयः श्रोत्रमयो मनोमयश्छन्दोमयो वाङ्मय एष दृश्यते ।
तत्पूरुषे चापरपूरुषास्त्रयः प्रज्ञाभिधे ते निवसन्ति संहिताः ॥३९॥

३३-अध्याहिताध्यारूढवृत्तित्वे (दहरोत्तरत्वम् ।)

यत्र द्वयोरन्वितयोर्भवेतामन्योन्ययोगाद्दहरोत्तरत्वे ।
अध्याहितः स्याद्दहरस्तथाध्यारूढो भवेदुत्तर एष तत्र ॥१॥

प्रासादका आवसथे भवेयुः प्रासादगर्भे स्युरनेकशालाः ।
शालेयगर्भे च भवन्त्यगारा एवं भवेतां दहरोत्तरत्वे ॥२॥

संवत्सराः पञ्च युगे निविष्टाः संवत्सरे द्वादश सन्ति मासाः ।
त्रिंशद्दिनानि प्रतिमासमुक्तान्येवं भवेतां दहरोत्तरत्वे ॥३॥

संवत्सरे द्वे अयने निविष्टे तत्रापि पूर्वापरपक्षसंस्थाः ।
तत्राप्यहोरात्रमहोमुहूर्ता एवं भवेतां दहरोत्तरत्वे ॥४॥

बृहस्पतौ सूर्य्यसमन्वयेन यथैव कालावयवाः स्युरेवम् ।
सूर्य्येन्दुयोगात् स्युरिमे च पूर्व्येष्वेवं भवेतां दहरोत्तरत्वे ॥५॥

खे राशयो द्वादश सन्ति भानां प्रत्येकतो द्वादश राशयः स्युः ।
तत्रापि च द्वादशराशयः स्युरेवं भवेतां दहरोत्तरत्वे ॥६॥

यथाविभक्तग्रहदायपूर्णं समाः शतं विंशमिहान्तरेऽपि ।
एकैकदायो ग्रहदायपूर्णोऽस्त्येवं भवेतां दहरोत्तरत्वे ॥७॥

३४—दहरोत्तरत्वे दुःषमादिचतुर्विभागाः ।

अत्रोत्तरस्मिन् परमे तदन्तस्तदन्तरेऽन्यं दहरं प्रतीयात् ।
तद्दुःषमं वा सुषमं समं वा वैषम्यतो वा प्रथते चतुर्धा ॥८॥

यत्रान्तरन्तःस्थितमेकमेवानेकं समं वा विषमं कथञ्चित् ।
तत्र व्यवस्था यदि नास्ति रूपे तद्दुःषमं स्याद्दहरोत्तरत्वम् ॥९॥

एकत्र चानेकविभक्तिसंस्था पुनस्तथान्तः सुषमं तदा स्यात् ।
एकैकतुल्याकृतयोऽन्तरन्तः क्रमात्स्युरेतद्विषमं समं वा ॥१०॥

सामान्यमात्रं तु रसोस्ति सत्ताविशेषमात्राणि पराण्यणूनि ।
तयोः प्रयोगाद्दहरोत्तरत्वं त्वापेक्षिकं दुःषममेव विद्यः ॥११॥

वाक् सर्वमेतत्पृथिवी तदन्तस्तदन्तरे प्राणिशरीरमस्ति ।
तदन्तरे यद् हृदयं तु गायत्र्येषा चतुष्पादपि दुःषमं तत् ॥१२॥

संवत्सरे चेदृतवोऽथ मासाः पक्षा अहोरात्रविभक्तयो वा ।
ये चेतरे तत्र कृता मुहूर्तादयो विभागाः सुषमं तु यत्स्यात् ॥१३॥

रथन्तरं पूर्वमसृज्यताप्यतो बृहद् बृहत् तेन रथन्तरं हि तत् ।
वैरूपमासीद् बृहतो बृहत् ततो बृहच्च वैराजमभूद् बृहत्तरम् ॥१४॥

वैराजतः शाक्वरमग्रतोऽभवद् बृहत्तमं, तत्र च रैवतं मतम् ।
बृहन्ति च त्रीणि रथन्तराणि च त्रीण्येव पृष्ठानि भवन्त्यमूनि षट् ॥१५॥

रथन्तरात् कह्यपि नावसृज्यते वैरूपमस्मादपि शाक्वरं च तत् ।
न चैवमस्माद् बृहतोऽवसृज्यते वैराजमेवं किल रैवतं च तत् ॥१६॥

रथन्तराद्यास्त्रिवृतो हि वाचो यासां हि नाभिः पृथिवी प्रतिष्ठा ।
मनांसि तु त्रीणि बृहन्मुखानि नाभिप्रतिष्ठा तपनोऽस्ति येषाम् ॥१७॥

यद्रैवते शाक्वरमस्ति तस्मिन् वैराजमस्मिंश्च विरूपमस्मिन् ।
बृहच्च तस्मिंस्तु रथन्तरं यत् सर्वं तदेतद्विषमावलम्बि ॥१८॥

स्याद्रैवतेऽन्तर्निहितं समं यद्वैराजमत्रापि बृहत् समं स्यात् ।
स्याच्छाक्वरेऽन्तर्निहितं समं यद्वैरूपमत्रापि रथन्तरं स्यात् ॥१९॥

शुक्लेऽस्ति कृष्णं च कनीनिकास्मिन्नक्षणां समं तद्दहरोत्तरत्वम् ।
चर्मासृगादिष्वपि केचिदाहू रेतोऽवसानं तु यथा कथंचित् ॥२०॥

३५–त्रिपुष्करं ब्रह्मपुरम् ।

यो वै बहिर्धा पुरुषादयं महाकाशः स तावान् पुरुषेऽन्तराहितः ।
आकाश एवं हृदयेऽन्तराहितोऽप्याकाश उक्तो दहराभिधोऽपरः ॥२१॥

यैर्यैर्बहिः पुष्करमस्ति पूर्णं पूर्णं हि तैः पुष्करमान्तरं तत् ।
तैः पुण्डरीकं दहरं च पूर्णं त्रिपुष्करं ब्रह्मपुरं निराहुः ॥२२॥

वाक्प्राणचक्षुःश्रुतितो मनस्तत् प्रवर्तते यद्वदिदं चतुष्पात् ।
तथाग्निवायूष्णगुदिग्भिरूर्ध्वोऽप्याकाश एष प्रथते चतुष्पात् ॥२३॥

प्रज्ञं मनो ब्रह्मपदे यदुक्तं त्रिपुष्करेऽन्तर्निहितं तदस्ति ।
लोकी न लोकादिह भिद्यते यन्मनोयमाकाश इतीष्यते तत् ॥२४॥

मनः स आकाश इहेष्यते यः प्राणाः समस्ता इह संनिविष्टाः ।
आकाश एषोऽस्ति पुनर्निविष्टः परत्र विज्ञानमयेऽक्षरेऽस्मिन् ॥२५॥

३६–ओतप्रोतभावसम्बन्धः ।

भेवेदनुस्यूतमिवैकमन्यत्रासक्तिमच्चेत् प्रभवेऽनुबद्धम् ।
स्यात् कार्य्यसामान्यमिदं तदोतप्रोतं हि सामान्यतया स्वयोनौ ॥२६॥

सर्वं ह्यनुस्यूतमिवाप्सु वायौ ताः सन्ति गान्धर्वजनेषु तत् खम् ।
आदित्यचन्द्रर्क्षकदैवतेन्द्रप्रजापतिब्रह्म जनेष्वतः स्यात् ॥२७॥

ऊर्ध्वं दिवो यद् यदवाक् पृथिव्याः द्यावापृथिव्यौ च यदन्तरास्ति ।
भूतं भविष्यच्च भवच्च सर्वं यदस्ति तं प्राण इति ब्रुवन्ति ॥२८॥

तस्मिन् समस्तं जगदेतदोतं प्रोतं स चाकाशगतोऽयमोतः ।
प्रोतः स चाकाश इहाक्षरे स्यात् तस्मिन्ननुस्यूतमिदं समस्तम् ॥२९॥

३७—ग्रहातिग्रहसबन्धः ।

अध्यात्मिकानामधिभूतधर्मैरासंस्रवो येन निरूपितः स्यात् ।
स हि ग्रहातिग्रहभाव उक्तोऽध्यात्मं ग्रहोभूतमतिग्रहः स्यात् ॥३०॥
प्राणो ह्यपानेन च वाक् तु नाम्ना रूपेण चक्षू रसना रसेन ।
श्रोत्रं तु शब्देन मनस्तु कामैः स्पर्शेन तु त्वक् किल कर्मणा दोः ॥३१॥
ग्रहो गृहीतस्तदतिग्रहेणेत्यतिग्रहे संस्रवते ग्रहोऽसौ ।
इत्थं जरत्कारुसुतार्तभागप्रश्ने पुरोवाच स याज्ञवल्क्यः ॥३२॥

३८—अध्यूढसम्बन्धः ।

छन्दोमितानीह पदानि यानि तेष्वेव गेयानि निवेशितानि ।
प्रगीयतेऽध्यूढमिदं हि पद्ये गेयं तदध्यूढमिदं प्रविद्यात् ॥३३॥

३९—षड्विकल्पसम्बन्धः ।

स्वरूपसम्बन्धवशाच्च नित्यं वृत्तित्वसम्बन्धवशाच्च भूयः ।
रसे बलं सर्वविधं प्रदृष्टं ततो विकल्पान् षडिमानि होचुः ॥३४॥

[1] कर्म त्वकर्मस्थमकर्म [2] कर्मसद् [3] भिन्नद्वयं तत् [4] तदभिन्नमद्वयम् ।
[5] अकर्म भिद्येत न कर्म [6] भिद्यतेऽध्यासोऽमृते स्यादिति षड् विकल्पनाः ॥३५॥

[1] घटो मृदि स्यात् मृदियं [2] घटे स्याद् [3] भिन्नौ तु तौ वा [4] मृदियं घटो वा ।
[5] भिन्ना तु मृन्नैष घटस्तु भिन्नो [6] घटो मृदध्यस्त इतीव विद्यात् ॥३६॥

४०—सर्वविधसंसर्गत्यागान्मोक्षसिद्धिः ।

बले बलानां च रसे बलानां सम्बन्धभेदा य इहोपपन्नाः ।
त इत्थमष्टादशधा निरुक्तास्तेषां विमोकादपवर्गमाहुः ॥३७॥
बलस्वरूपेण रसोऽवभासते रसस्वरूपेण बलं प्रवाहि वा ।
नान्योन्यमन्योन्यविनाकृतं भवेन्न चान्यतोऽन्यद् भवति क्वचित् पृथक् ॥३८॥

संसृज्यते वा प्रतिसृज्यते वाऽनुसृज्यते वाप्यमृते स मृत्युः ।
सर्गः स मोक्षस्त्वमृताद्विमोको मृत्योः सखण्डस्य न चाखिलस्य ।।३६।।

मितस्य कस्यापि रसस्य मायाव्यपायतः संभवतीह मुक्तिः ।
न तेन सर्वस्य मितस्य मायामुक्तिः प्रकल्प्या प्रतिभावभेदात् ।।४०।।

कुतः स आत्मा कुत एव शक्तिः कुतश्च संसर्गविशेषसिद्धिः ।
कुतश्च सृष्टिक्रम इत्यमेतन्न वेद्मि तद् वेद्मि यथा यदस्ति ।।४१।।

।। इति पूर्णद्विसत्योपनिषद्ब्रह्मकर्म्मसम्बन्धाधिकारो द्वितीयः पूर्णः ।।

नोटः—द्रष्टव्य 'सम्बन्धतालिका' पृष्ठ ३१८ पर ।

सम्बन्धतालिका ।

१	१	स्थानविरोधः	असंसर्गौ २	कर्म्मणि कर्म्मसम्बन्धाः ५
२	२	सामञ्जस्यम्		
३	३	ऐकात्म्यम्	संसर्गौ २	
४	४	ऐकभाव्यम्		
५	५	भक्तिः	असंसर्गः २	
६	१	अलक्षणम्	असंसर्गः १	ब्रह्मणि कर्म्मणां स्वरूप-सम्बन्धाः ४
७	२	विभूतिः	संसर्गाः ३	
८	३	योगः		
९	४	बन्धः		
१०	१	अमितवृत्तिता	असंसर्गः १	ब्रह्मणि कर्म्मणां पर्य्याप्ति-वृत्तिताः ४
११	२	उदारः	३	
१२	३	समवायः		
१३	४	आसङ्गः		
१४	१	संहिता	असंसर्गाः ५	ब्रह्मणि कर्म्मणाम्-अन्वाभक्ति वृत्तिताः ५
१५	२	दहरोत्तरभावः		
१६	३	ओतप्रोतभावः		
१७	४	ग्रहातिग्रहभावः		
१८	५	अध्यूढभावः		

२–अथ ब्रह्मकर्म्मणोः सम्बन्धाधिकारः ।

ब्रह्म और कर्म्म का सम्बन्धाधिकार प्रारम्भ--

१–ब्रह्मकर्मणोरलौकिकसम्बन्धाधिकरणम् ।

ब्रह्म और कर्म्म का अलौकिक सम्बन्धाधिकरण—

[हिन्दीविज्ञानभाष्य] विद्वान् मनुष्य सम्बन्ध को द्विनिष्ठ बतलाते हैं और उस सम्बन्ध में दोनों पदार्थों का व्यापार होता है। जिस प्रकार जब हम जल पर एक काष्ठ-खण्ड डालते हैं, उस समय जल में भी उस काष्ठ-खण्ड को धारण करने का व्यापार होता है। परन्तु यदि हम उसमें एक पत्थर डालें तो उसी समय वह जल के पैंदे में चला जाता है, क्योंकि पत्थर से जल की शक्ति कम है। अतएव मानना पड़ता है कि सम्बन्ध द्विनिष्ठ होता है और उसमें दोनों का ही व्यापार होता है। परन्तु प्रकृत में जो हम सम्बन्धगति बतलाने वाले हैं वह भिन्न ही प्रकार की है। यहाँ जो सम्बन्ध होता है–वह एकनिष्ठ ही समझना चाहिए और उसमें कृति (व्यापार) को कारण नहीं कह सकते। क्योंकि हमने ब्रह्म को निष्क्रिय बतलाया है, अतः उपर्युक्त द्विनिष्ठ सम्बन्ध यहाँ लागू नहीं हो सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है--

"सम्बन्धमाहुः कृतिनो द्विनिष्ठं तत्रोभयोरेव कृती भवेताम् ।
किन्त्वत्र सम्बन्धगतिर्विभिन्ना स एकनिष्ठोऽत्र कृतिर्न हेतुः" ॥१॥

हमने कर्म्म को आसक्तिस्वभावयुक्त बतलाया है। अतः यह कर्म्म उस ब्रह्म के साथ आसक्त रहता हुआ ही अपना स्वरूप संपादन करता है। अर्थात्–कर्म्म सदा ब्रह्म के साथ आसक्त ही रहता है–परन्तु ठीक इसके विपरीत ब्रह्म निरञ्जन है, अतः इसके साथ कर्म्म के आसक्त रहने पर भी इनका परस्पर बन्धभाव नहीं होने पाता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कर्म्मैतदासञ्जनमस्ति तस्मादासक्तमेवैतदुपैति रूपम् ।
निरञ्जनं ब्रह्म ततोऽत्र कर्म्म प्रसङ्गतोऽप्यस्ति न बन्धभावः" ॥२॥

जिसको कि हमने अब तक ब्रह्म कहा है–उसको ही हम रस नाम से कहते हैं एवं जिसको हमने कर्म्म कहा है–उसे ही हम बल नाम से पुकारा करते हैं। इन दोनों में से रस स्थिर है–शान्त है। इसी स्थिर एवं शान्त रस में बल प्रविष्ट हो रहा है, अतः बल के अनुरोध से हम रस को ही विश्व कहते हैं। अर्थात्–बल विना रस के रहता नहीं, अतः रस को विश्व कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यद् ब्रह्म तन्नाम रसं वदामो बलं वदामः पुनरत्र कर्म्म ।
रसः स्थिरस्तत्र बलं प्रविष्टं बलानुरोधाद् रस एव विश्वम्" ॥३॥

वही बल यत्नस्वरूप है एवं बल ही उस व्यापार का कारण है । इस प्रकार जो ही बल व्यापार है एवं जो ही बल कारण है–वही बल प्रयोग के लिए कैसे समर्थ हो सकता है ? जिस प्रकार कागज पर स्याही डाली जा सकती है–परन्तु कागज पर कागज क्या डाला जाय ? ठीक इसी प्रकार जो ही बल कारण है–वही बल प्रयोग में कैसे समर्थ हो सकता है ? अतः अयत्न एवं निर्हेतुक यह बल रस के साथ सदा आसक्त ही रहता है । क्योंकि यदि हम बल को रस से पृथक् मानकर फिर इसका मेल मानें तो इस मेल कराने वाले कारण को ढूंढना पड़ेगा । ऐसी अवस्था में ब्रह्म तो कारण हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह निष्क्रिय है । ठीक इसी प्रकार बल को भी कारण नहीं बतला सकते, अतः ब्रह्म के साथ कर्म्म को सदा युक्त ही मानना पड़ता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है––

"बलं हि यत्नो बलमेव हेतुर्बलप्रयोगाय बलं कुतः स्यात् ।
अयत्ननिर्हेतुकमेतदस्मिन् रसे बलं नित्ययुतं स्थितं स्यात्" ॥४॥

इन ब्रह्म और कर्म्म में से जो कर्म्म है वह तो सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है और जो ब्रह्म है–वह सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखता । ऐसी हालत में ब्रह्म और कर्म्म का सम्बन्ध एक तरफा मानना पड़ेगा । इस प्रकार इस बल में रस उदासीनतया (निरपेक्ष) रहता है । अतएव बल के साथ रस कभी भी आसक्त नहीं होता–अपि तु, बल ही रस के साथ आसक्त होता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है––

"एकस्तु सम्बन्धमपेक्षते परो नापेक्षते तेन स एकतः कृतः ।
तिष्ठत्युदासीनतया बले रसो न सज्ज्यते सज्ज्यत एव तद्बलम्" ॥५॥

चूंकि--इस रस में बल नितान्त संबद्ध रहता है, अतएव यह बल रसात्मना प्रतिभासित होता है अर्थात्–इसी रस के कारण प्रतिक्षण नष्ट होने वाला बल भी हमें स्थायी दिखलाई पड़ता है, परन्तु रस बल के साथ कभी भी संबद्ध नहीं होता, अतएव जब रस इस बल से अलग हो जाता है तो उसी समय यह बल विलीन हो जाता है । यदि रस भी बल के साथ बँधा रहता तो यह बल रस से पृथक् हो ही नहीं सकता था । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है––

"संबध्यते तत्र रसे बलं भृशं तेनेदमाभाति बलं रसात्मना ।
संबध्यते नैष रसो बले यतस्ततो रसोन्मुक्तमिदं विलीयते" ॥६॥

पूर्वोक्त बात का ही स्पष्टीकरण करते हैं–यदि रस भी बल के साथ बन्धन को प्राप्त हो जाय तो बल के नाश होने पर रस का भी नाश मानना पड़ेगा और इसी प्रकार बल के विकृत होने पर रस को

भी विकृत मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा होता नहीं है। न हम रस का नाश देखते हैं एवं न हम उसमें विकार देखते हैं, अतः मानना पड़ता है कि बल का रस के साथ सदा बन्ध रहने पर भी रस का बल के साथ कभी भी बन्धन नहीं होता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रसोऽपि चेत्तेन बलेन बन्धं यायात्तदा तस्य बलस्य नाशे।
रसोऽपि नश्येद्विकृते बले वा रसोऽपि तद्वद्विकृतोऽभविष्यत्" ॥७॥

इसी बात को दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जो ही मिट्टी की सत्ता थी, वही घट की भी सत्ता है—अर्थात्—दो चीज होने पर भी सत्ता एक ही है और यदि घड़ा तोड़ दिया जाय तो वह मिट्टी की सत्ता में परिणत हो जाएगा यदि मिट्टी का भी नाश हो जाएगा अथवा मिट्टी के कारणभूत बलों का नाश हो जाएगा अथवा उस पदार्थ की यदि शून्यावस्था भी हो जाएगी तब भी उस सत्ता का (अस्तित्व व्यवहार का) कभी भी नाश नहीं हो सकता। जैसे कि घड़ा है—मिट्टी है—मिट्टी का अभाव है—घड़ा है—घड़ा नहीं 'है'। अर्थात्—सत्ता का नाश कभी भी नहीं होता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रत्यक्षमीक्षे तु मृदो घटस्य वा सत्ता किलैका, घटनाशतोऽपि सा"।
मृन्नाशतो वा बलनाशतोऽपि वा शून्यस्थिता सा न कदापि नश्यति" ॥८॥

जिस प्रकार घड़े के टूटने से—तदाकाश के विनाश की वासना—घटक्षयोपाधिकृता है—वस्तुतः उस घटाकाश का अब भी (घटनाश पर) नाश नहीं हुआ है, तथैव घट की सत्ता अलग थी—पट की अलग थी—मृत्तिका की अलग थी—सूत्र की अलग थी—यह जो वासना है, वह घटपटक्षयोपाधिकृता ही समझना चाहिए। वस्तुतः सत्ता सर्वत्र एक ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथा घटाकाशविनाशवासना घटक्षयोपाधिकृता न वस्तुतः।
तथैव सत्ताविगमस्य धीरियं घटक्षयोपाधिकृता न वस्तुतः" ॥९॥

यदि घट के साथ सत्ता का बन्धन मान लिया जाय तो घट के नाश होने पर अवश्य ही उसका भी नाश हो जाए। परन्तु घटादि के नष्ट होने पर भी हम सत्ता का नाश नहीं देखते हैं, अतः मानना पड़ता है कि यह सत्ता-रस नित्य है—अनञ्जन है। इसी सत्ता-रस में सारे विश्व आसक्त हैं-परन्तु यह उनमें नहीं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"घटेन सत्ता यदि बन्धमेयात् घटाप्ययेऽवश्यमिदं त्वपेयात्।
सत्ता रसो नित्यमनञ्जनोऽयं तत्रैव विश्वानि न तेषु सोऽयम्" ॥१०॥

इस प्रकार यह रस यद्यपि न कहीं बल में सम्बद्ध होता है और न कभी विकार को ही प्राप्त होता है तथापि इस रस में बल एकतरफा ही सम्बद्ध रहता है-अर्थात् जिस प्रकार अन्तरिक्ष में वायु सम्बद्ध रहता है परन्तु अन्तरिक्ष वायु से जरा सा भी संसर्ग नहीं रखता तद्वत् प्रकृत में भी समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"इत्थं रसो यद्यपि न क्वचिद्बले सम्बन्धमायाति विकारमेति वा।
तथापि तस्मिन् बलमेकतः सदा सम्बद्धमेव ध्रियतेऽन्तरिक्षवत्" ॥११॥

अब यहाँ से कर्म्मों में जो कर्म्मों का सम्बन्ध इष्ट है-वह भिन्न भिन्न प्रकार का है। उनके विवेक के लिए अलग अलग सम्बन्ध के उन भेदों को बतलाते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथोदितः कर्मसु कर्मणां तु यः सम्बन्ध इष्टः स विभिन्नलक्षणः।
तयोर्विवेकाय पृथक् पृथक् पुनः सम्बन्धभेदानिह दर्शयाम्यहम्" ॥१२॥

——❀——

२-कर्म्मणि कर्म्मसम्बन्धाः पञ्चविधाः।

कर्म्म का कर्म्म के साथ सम्बन्ध पांच प्रकार का—

कर्म्म का कर्म्म के साथ सम्बन्ध-(१) स्थानावरोध, (२) समञ्जस, (३) ऐकात्म्यरूप, (४) ऐकभाव्यरूप एवं (५) भक्ति-इस क्रम से पाँच प्रकार का हुआ करता है। इन सम्बन्धों से कुछ विशेष प्रकार का सर्ग होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कर्मान्वयः कर्मणि पञ्चधा स्यात् स्थानावरोधेन समञ्जसेन।
ऐकात्म्यरूपेण तथैकभाव्यरूपेण भक्त्या च विशेषसर्गः" ॥१॥

(१) स्थानावरोधसम्बन्ध को ही-धामच्छद सम्बन्ध कहते हैं। एक लोटे में यदि ऊपर तक जल भर दिया जाय तो फिर उसमें और जल नहीं भरा जा सकता, क्योंकि लोटे में स्थित जल ने स्थानावरोध कर रक्खा है। इसी प्रकार मिट्टी से पूर्ण लोटे में भी स्थानावरोध के कारण और मिट्टी नहीं डाल सकते, क्योंकि उपरोक्त दोनों स्थलों में स्थितिविरोध है। लकड़ी में एवं भींत में कीला रुपा हुआ देखकर (ऐसे स्थल में स्थितिविरोध नहीं मान सकते) इस प्रकार का स्थितिविरोधाभाव नहीं समझना चाहिए। क्योंकि स्थान के विशकलिताणुयुक्त रहने से-लकड़ी एवं भित्ति में उन अणुओं के हट जाने से कीला गड जाता है। अर्थात्-जब हम भींत में कीला गाडते हैं तो उसके परमाणु संकुचित हो जाते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"जलेन पूर्णे न जलं मृदा न मृत्स्थितेर्विरोधान्मणिके निवेश्यते ।
स्थानाच्छ्लथाणोरपसर्पणात् त्वसौ शङ्कुर्निखातः क्षितिभित्तिदारुषु" ॥२॥

(२)एक प्रकाशयुक्त घर में १००ओं दीपकों का प्रकाश समा जाता है–यही समञ्जस सम्बन्ध है । अर्थात् यहाँ एक का एक से विरोध नहीं है । यहाँ पर जो अनेक दीप हैं–उनका प्रकाश यद्यपि बहुत अवकाश को चाहता है–अर्थात्- एक दीप के प्रकाश की अवधि १०० गज तक है, परन्तु ऐसा होने पर भी एक ही मकान में-तद्देशावच्छेदेन ही–उन सब दीपकों का प्रकाश समा जाता है । अर्थात्–चाहिए उन प्रकाशों को बहुत बडा मैंदान परन्तु सामञ्जस होने से थोड़ी दूर में ही सबका प्रकाश समा जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"समञ्जसत्वात्तु गृहे प्रकाशे दीपप्रकाशाः शतमाभवन्ति ।
दीपेषु भूयस्स्वधिकावकाशाऽवगाहिभासोऽपि स देशवृत्तेः" ॥३॥

इसी प्रकार काच में एवं चक्षु के अल्प देश में–तेज एवं नाना प्रकार के रूप (वृक्ष-पर्वत-नदी-मनुष्यसमुदाय) नाना दिशाओं से आ करके–जो एक साथ ही बैठ जाते हैं । हम उन सब पदार्थों का एककालावच्छेदेन ही प्रत्यक्ष करने लगते हैं–यह समञ्जस सम्बन्ध कहा जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यद्दर्पणे चक्षुषि चाल्पदेशे तेजांसि रूपाणि पृथग्विधानि ।
दिग्भ्यः समागत्य पृथग्विधाभ्यः सहैव तिष्ठन्ति समञ्जसं तत्" ॥४॥

यदि किसी वस्तु को कोई मनुष्य बल से एक तरफ विचलित कर रहा है, ऐसी अवस्था में यदि ठीक इसके सीध में–विरुद्ध दिशा के बल का आश्रय यदि उस वस्तु में हो जाय तो उसी समय वह वस्तुस्थिर हो जाती है । ऐसी स्थिति में विरुद्ध दिशाओं से आने वाले बलद्वय को एककालावच्छेदेन वह पदार्थ भोगता रहता है । जैसे–एक रस्से पर एक पहलवान दक्षिण दिशा से एवं एक उत्तर दिशा से यदि बल प्रयोग करता है तो उसी समय वह रस्सा स्थिर हो जाता है । यहाँ पर दोनों के बलों को एक-कालावच्छेदेन वह रस्सा पी रहा है–यही समञ्जस सम्बन्ध कहलाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विचाल्यमानं हि बलेन केनचिद् विरुद्धदिग्लब्धबलान्तराश्रयात् ।
स्थिरीभवेत् तत्र विरुद्धदिग्भवं बलद्वयं तद् युगपत् सहाश्नुते" ॥५॥

(३) तीसरा–ऐकात्म्य सम्बन्ध बतलाते हैं । इस सम्बन्ध में शरीर (स्वरूप) दो रहते हैं और आत्मा एक बन जाता है । जिस प्रकार–लोहा अग्नि के सम्बन्व से एवं चूर्ण पानी के साथ मिलने से

एवं मिट्टी अग्नि द्वारा पकने से जो स्वरूप धारण करती है–वह ऐकात्म्य सम्बन्ध कहलाता है । क्योंकि लोहे के प्रत्येक परमाणु में आग घुस जाता है–इन दोनों का आत्मा एक हो जाता है–इसी प्रकार चूर्ण पानी से एवं मिट्टी अग्नि से मिल जाती है–यही ऐकात्म्य सम्बन्ध कहलाता है ।

(४) चौथा–ऐकभाव्य सम्बन्ध बतलाते हैं । इस सम्बन्ध में शरीर भी एक ही बन जाता है । तेज (ऑक्सिजन) के एवं अम्बु (हाइड्रोजन) परमाणुओं का यदि मेल हो जाय तो पानी के परमाणु पैदा हो जाते हैं–यहाँ दोनों से तीसरी चीज पैदा होती है । यही ऐकभाव्य सम्बन्ध कहलाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अयोग्निना, चूर्णमथाम्बुना, धृतेरैकात्म्यमायाति, मृदग्निपाचिता ।
तेजोम्बुनोस्ते परमाणवो नवं जलाणुभावं जनयन्ति योजिताः" ॥६॥

(५) पाँचवां–भक्ति सम्बन्ध कहलाता है । दोनों दिशाओं में जड़ी हुई कीलों से दोनों प्रान्त भागों से बँधा हुआ जो अत्यन्त निर्बल सूत्र है–उसमें उस डोर से कहीं बलिष्ठ जो ढके हुए वस्त्रादि हैं–उस वस्त्र के रोओं का जो बल सूत्र में आ गया है–वह खूंटी की भक्ति का बल समझना चाहिए एवं खूंटी में–भित्ति की भक्ति का बल समझना चाहिए । एक सूत्र पर यदि हम धोती सुखावेंगे तो फौरन वह सूत्र नीचे गिर जाएगा । परन्तु उसी सूत्र को यदि हम खूंटियों से बाँध देंगे तो वह उस धोती को आसानी से अपने ऊपर ले लेता है । यह उसमें भित्ति का भक्तिबल समझना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अनिर्बले दिग्द्वयभित्तिकीलावलम्बितप्रान्तयुगे तु सूत्रे ।
सूत्राद्बलिष्ठं ध्रियतेऽवलम्ब्यं वस्त्रादि तद्भित्तिबलस्य भक्त्या" ॥७॥

एक बडे भारी उन्नत एवं वजनी किंवाड़ को–जो कि नीचे रखा हुआ–५० मनुष्यों से भी नहीं उठ सकता, उस किंवाड़ को एक छोटा सा दुबला-पतला आदमी बन्द कर देता है एवं वही किंवाड़ एक छोटी सी कंकरी से एवं कील से रुक जाता है । यहाँ–उस अबल (मनुष्य–लोष्ट कील) को प्रबल (पृथिव्यादि) का भक्त (आश्रय) समझना चाहिए । यद्यपि यह मनुष्य एवं लोष्टादि किंवाड़ के एक देश में ही क्रिया करते हैं–परन्तु सारा ही किंवाड़ रुक जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"महोन्नतं चापि महाबलिष्ठं कपाटमावर्तयते कृशोऽपि ।
लोष्टेन कीलेन च रुद्ध्यते तत् तत्राबलं तत् प्रबलस्य भक्तम्" ॥८॥

एक मनुष्य यद्यपि अत्यन्त दुर्बल है तथापि वह राजाज्ञया अत्यन्त बलशाली बडे बडे मनुष्यों पर भी आक्रमण कर देता है अथवा–उस राजा के न्याय एवं सिद्धान्त के जो विरोधी हैं–उन पर जो

आक्रमण कर देता है-वहाँ पर-इस निर्बल मनुष्य को प्रबल राजा का भक्त मानना पड़ता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

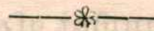
"यो दुर्बलोऽप्येकजनो बलिष्ठान् राजाऽऽज्ञयाऽऽक्रामति भूयसोऽपि।
तन्न्यायसिद्धान्तविरोधिनो वा तत्राबलं तत् प्रबलस्य भक्तम्" ॥९॥

पालकी में बैठा हुआ राजा-उस पालकी की भक्ति के आश्रित होता हुआ पालकी की गति के क्रम से नहीं जाता हुआ भी जा रहा है। यही भक्ति सम्बन्ध है। इस प्रकार-कर्म्म कर्म्म के इन पाँचों सम्बन्धों में से स्थानावरोध सम्बन्ध को ही प्रधान माना है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है-

"गच्छत्यगच्छन् शिविकास्थितो नरस्तद्भक्तिभूतः शिविकागतिक्रमात्।
इतीदृशे पञ्चविधेऽपि वान्वये स्थानावरोधोऽभिमतः प्रधानतः" ॥१०॥

परन्तु कर्म्म का ब्रह्म के साथ जो सम्बन्ध है-वह स्थानावरोध के लिए कभी भी उपपन्न नहीं होता है। इस पूर्ण रस में-अपूर्ण बल है, इसलिए उस ब्रह्म के साथ यह कर्म्म तादात्म्यरूपेण रहता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यः कर्मणो ब्रह्मणि संभवो न स स्थानावरोधाय कदापि जायते।
पूर्णे रसेऽपूर्णबलं यतस्ततस्तादात्म्यरूपेण युनक्ति सर्वतः" ॥११॥



३-ब्रह्मणि कर्म्मसम्बन्धास्त्रयोदशविधाः।
ब्रह्म और कर्म्म के-१३ प्रकार के सम्बन्ध—

ब्रह्म और कर्म्म निरन्तर रहने वाले दो पदार्थ हैं। इसी प्रकार इन दोनों के सम्बन्ध का उदय भी निरन्तर ही होता रहता है। परन्तु-इनके दो होने पर भी यह विशिष्टाद्वय है-अर्थात्-एक से एक जुदा नहीं होते। इसी प्रकार निरन्तर यह सम्बद्धरूप को ही धारण किए रहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

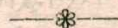
"शश्वद्धिते ब्रह्म च कर्म्म च द्वे तयोश्च सम्बन्ध उदेति शश्वत्।
द्वयं विशिष्टाद्वयमेतदेवं सम्बद्धरूपं ध्रियतेऽपि शश्वत्" ॥१॥

इस प्रकार रस में बल के साथ जो सम्बन्ध हैं-वे कुल १३ प्रकार के हैं। अब हम उन्हीं को बतलाते हैं-(१) अलक्षण, (२) विभूति, (३) योग, (४) बन्ध, (५) अमितवृत्तिता, (६) उदारवृत्तिः जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सम्बन्धभेदास्तु रसे बलस्य त्रयोदशाहुः किल तान् वदामः ।
अलक्षणं चाथ विभूतियोगौ बन्धोऽमिता वृत्तिरुदारवृत्तिः" ।।२।।

(७) समवायवृति, (८) आसङ्गवृत्ति, (९) अध्यूढसम्बन्ध, (१०) सन्धिसम्बन्ध, (११) दहरोत्तरत्वसम्बन्ध, (१२) ओतप्रोतत्वसम्बन्ध, (१३) ग्रहोद्ग्रहत्वसम्बन्ध । इस प्रकार ब्रह्म और कर्म्म के ये ही १३ प्रकार के सम्बन्ध होते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्यात्सप्तमीयं समवायवृत्तिरासङ्गवृत्तिः पुनरष्टमी स्यात् ।
अध्यूढसन्धी दहरोत्तरत्वौतप्रोतभावौ च ग्रहोद्ग्रहत्वम्" ।।३।।



४–त्रयोदशविधानां सम्बन्धभेदानां स्वरूपवृत्तित्वाभ्यां विभागः ।

तेरह प्रकार के सम्बन्ध-भेदों का स्वरूप एवं वृत्ति से विभाग बतलाना—

ये १३ प्रकार के सम्बन्ध परस्पर बदलते रहते हैं अर्थात् इन सम्बन्धों में परस्पर सांकर्य हुआ करता है । इस प्रकार इन सम्बन्धों का जो परिवर्तन है–वह न तो आकस्मिक होता है–न किसी फल को उद्देश्य करके होता है–न किसी इच्छा से होता है, अपि तु–इनके विपर्य्य में स्वभाव ही कारण है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अन्योन्यमेते परिवर्त्तिताः स्युस्तेषाममीषां परिवर्तनं यत् ।
आकस्मिकं तन्न फलान्न कामात् स्वभाव एवात्र परं निदानम्" ।।४।।

स्वरूप सम्बन्ध–१–अलक्षण, २–विभूति, ३–योग एवं ४–बन्ध–इस क्रम से ४ (चार) प्रकार का है । इसी प्रकार वृत्तित्वसम्बन्ध भी अमितवृत्तिता-सम्बन्ध से ले कर ग्रहोद्ग्रहत्व-सम्बन्ध तक क्रमशः ९ प्रकार का है । इन नो (९) में से भी पर्य्याप्तिवृत्तित्वसम्बन्ध १–अमितवृत्तिता, २–उदार, ३–आसङ्ग एवं ४–समवाय–इस क्रम से ४ प्रकार का है एवं अन्वाभक्तिवृत्तित्व सम्बन्ध भी १–सन्धि, २–दहरोत्तरत्व, ३–ओतप्रोतत्व, ४–ग्रहातिग्रहत्व एवं ५–अध्यूढत्व–इस क्रम से ५ (पाँच) प्रकार का है । इस प्रकार ये १३ सम्बन्धस्वरूप-पर्य्याप्तिवृत्तित्व एवं अन्वाभक्तिवृत्तित्व में बँटे हुए हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

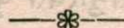
"स्वरूपसम्बन्धविधाश्चतस्रो वृत्तित्वसम्बन्धविधास्ततोऽन्याः ।
पर्य्याप्तवृत्तित्वविधाश्चतस्रोऽन्वाभक्तिवृत्तित्वविधास्तु पञ्च" ।।५।।

पुरुष और प्रकृति (रसबल) का यह स्वरूपसम्बन्ध, उद्भाव कर व्यक्त कराने वाला है। अर्थात्-हम इसी स्वरूपसम्बन्ध के कारण इस पुरुष प्रकृति का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। पश्चात् जो पर्य्याप्ति-वृत्तित्वसम्बन्ध है, वह रसबल का आयोजक (पूर्णसम्बन्ध कराने वाला) बनता है। जैसे पूर्णवस्तु से-पूर्ण का सम्बन्ध कर दिया-यह पर्य्याप्तिवृत्तित्वसम्बन्ध कहलाएगा। परन्तु जो दो वस्तुओं की सन्धि (मिलाने) का हेतु है-वह अन्वाभक्तिवृत्तित्व सम्बन्ध होता है। बस, विना इस स्वरूपसम्बन्ध के एवं पर्य्याप्तिवृत्तित्वसम्बन्ध के इस रसबल का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते-जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"उद्भावकं स्यात् पुरुषप्रकृत्योः स्वरूपमायोजकमेतयोः स्यात्।
पर्याप्तिवृत्तित्वमथैवमन्वाभक्तिस्तु पुंसोरिह सन्धिहेतुः" ॥६॥

जिस समय रस में-पेट में मृत्यु छिप (लीन हो) जाता है-तब हम उसे स्वरूपसम्बन्ध कहते हैं, क्योंकि इस समय वह ब्रह्म का ही स्वरूप बन गया है। परन्तु जब दोनों अलग-अलग रहते हैं, तब उसे वृत्तित्वसम्बन्ध कहने लगते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा—

"अन्तः प्रवेशादविविक्ततायां स्वरूपसम्बन्ध इति प्रसिद्धिः।
विविक्तभावेन तयोः प्रतीतौ वृत्तित्वसम्बन्धमुदाहरन्ति" ॥७॥



५-तेषां पुनः संसर्गासंसर्गाभ्यां विभागः।

फिर-इन्हीं सम्बन्धों का संसर्ग एवं असंसर्ग से विभाग-

यदि दो को मिलकर किसी अपूर्व वस्तु की सृष्टि हो तो उसे संसर्गसम्बन्ध एवं समन्वय-सम्बन्ध कहते हैं। यह संसर्गसम्बन्ध ६ प्रकार के होते हैं और असंसर्गसम्बन्ध सात (७) प्रकार का अन्य होता है-जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

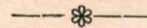
"अपूर्वसृष्टिर्यदि चेदुभाभ्यां संसर्ग उक्तः स समन्वयोऽपि।
षडत्र संसर्गविधाः स्युरेवं सप्तत्वसंसर्गविधाः स्युरन्याः" ॥१॥

बन्ध-योग-विभूति। आसङ्ग-उदार एवं समवाय-ये ६ संसर्गसम्बन्ध होते हैं। इनमें से आदि के तीन स्वरूपसंसर्ग एवं अन्त के तीन पर्य्याप्तिवृत्तित्व संसर्गनाम से क्रमशः कुल संसर्गसम्बन्ध ६ प्रकार का होता है-जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"बन्धश्च योगश्च विभूतिनामाऽऽसङ्गोऽप्युदारः समवाय इत्थम्।
त्रिधा स्वरूपं त्रिविधा च वृत्तिः संसर्गसम्बन्धविधाः षडेताः" ॥२॥

अलक्षण–अमितवृत्तिता-अध्यूढ-ग्रहातिग्रहभाव-ओतप्रोतभाव-दहरोत्तरभाव-सहिता (सन्धि)–इन सातों से न सृष्टि होती है और न मोक्ष ही होता है, अतः ये सब सातों असंसर्गसम्बन्ध कहलाते हैं–जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अलक्षणे चामितवृत्तितायामध्यूढसन्ध्यादिकपञ्चके च ।
न सर्गक्लृप्तिर्न च मोक्षक्लृप्तिस्तस्मादसंसर्गविधाः स्युरेताः" ।।३।।



६–स्वरूपसंसर्गाणां वृत्तित्वसंसर्गाणां च परिभाषा ।
स्वरूपसंसर्ग एवं वृत्तित्वसंसर्ग की परिभाषा—

शुद्ध एवं शान्त–रसमय ब्रह्म में बल उत्थित होता है एवं गिरता हुआ फिर उसी में लीन हो जाता है। फिर उसी में से उत्पन्न होता है–फिर यह बल ब्रह्मस्वरूप में ही लीन हो जाता है। फिर यह बल उसी में से उठता है। यह जो बल का सम्बन्ध है–वह वृत्तित्वसम्बन्ध कहलाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"बलं रसे ब्रह्मणि चोत्थितं पतन्निलीयते तत्र पुनर्विजायते ।
तत्र स्वरूपेण निलीयते पुनः समुत्थितं वृत्तितयाऽनु सज्जते" ।।४।।

जिस शान्तरस में बल का उदय होता है–वहाँ पर इस बल और रस का संसर्गसम्बन्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संसर्ग बाहरी चीज के आकर मिलने का नाम है–यहाँ तो इसी रस में से यह बल उठा है। परन्तु बलान्तर से उपहित जो रस है (बलवद् रस) वह यदि रसान्तर से उपहित रसवद्-बल से यदि संसर्ग करे तो यह अवश्य संसर्गसम्बन्ध हो गया। जैसे एक लोटे में–शुद्ध पानी है और एक में रंग घुला हुआ है। चूँकि यहाँ पर विजातीय बल है, अतः इनके मेल को हम संसर्गसम्बन्ध कहेंगे–जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यत्रोदयं याति बलं तु तद्रसे संसर्ग एतस्य विधीयते नहि ।
बलान्तरेणोपहिते रसान्तरे बलान्तरं याति समन्वयः स हि" ।।५।।

परन्तु ठीक इसके विरुद्ध रसवद् बल का–बलवद् रस के साथ संसर्ग होने पर भी यदि वह-बल विजातीय नहीं है तो ऐसी स्थिति में रस-रस में मिल जाएगा और बल-बल में, अतः दोनों के एक होने से यहाँ संसर्गसम्बन्ध हटकर स्वरूपसम्बन्ध हो जायगा। जैसे–एक मणिक में शुद्ध जल है। बस, इसी में दूसरे शुद्ध जल को डाल दें तो वहाँ उस पानी-पानी का स्वरूप एक ही बन जाएगा, अतएव पानी में पानी डालने से कोई यह नहीं कहता कि पानी में पानी मिला हुआ है–परन्तु ठीक इसके विपरीत

रंग डालने से फौरन रंग युक्त पानी का व्यवहार होने लगता है, अतः सजातीय बल में स्वरूपसम्बन्ध ही होता है, परन्तु विजातीय सम्बन्ध में तो वृत्तित्व सम्बन्ध ही होगा-जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रसो रसेनैक्यमुपैति चेद्बलं बलेन भूयोऽप्युभयं यदेकताम् ।
तदा स्वरूपं प्रथते ततोऽन्यथा वृत्तित्वमेवेति मुहुर्विचिन्त्यताम्" ।।६।।

जिन वस्तुओं में जो एक स्वाभाविक बल की धारा चल रही है-उसका उपमर्दन करके अथवा अनुपमर्दन कर के यदि उसमें और बल-प्रवाह का योग किया जाए तो वह संसर्गसम्बन्ध कहलाएगा। जैसे-लकड़ी में एक प्रकार का बल चल रहा है-उसका अग्नि द्वारा हमने उपमर्दन कर डाला-यहाँ जो अग्नि का सम्बन्ध काष्ठ से है-वह संसर्ग सम्बन्ध कहलाएगा। इसी प्रकार मिट्टी में जो एक स्वाभाविक बल धारा चल रही है-उस को न हटाकर जो मुष्टयादि से बलप्रयोग किया जाता है-यह भी संसर्ग-सम्बन्ध ही कहलाता है। गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"बलप्रवाहं प्रथमप्रवृत्तं यदोपमर्द्यानुपमर्द्य वाऽस्मात् ।
प्रवर्ततेऽन्यः प्रबलः प्रवाहः संसर्गसम्बन्धगतिस्तदा स्यात्" ।।७।।

—*—

७—अलक्षणमसंसर्गः स्वरूपसम्बन्धः ।

अलक्षण असंसर्ग—स्वरूपसम्बन्ध—

उपरोक्त प्रकरण में जो हमने रसबल का स्वरूपसम्बन्ध बतलाया है, वह दो या तीन प्रकार का समझना चाहिए। रस के पेट में मृत्यु का सो जाना और अमृत का मृत्यु को खा जाना एवं मृत्यु का अमृत को खा जाना। जिस समय रस के पेट में बल (मृत्यु) सो जाता है-उस हालत में यह बल रस-स्वरूप में परिणत हो जाता है। परन्तु इसी सम्बन्ध से रस कभी भी बलस्वरूप में परिणत नहीं होता। अर्थात्-मृत्यु के रसाभ्यन्तर होने से यह भले ही रसरूप बन जाय, परन्तु रस अब भी मृत्यु से बेलाग ही है। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्वरूपसम्बन्धगतिर्द्विधा स्यान्मृत्युप्रसुप्त्याऽमृतमृत्युभुक्त्या ।
स्वापे बलं स्यात्तु रसस्वरूपं बलस्वरूपस्तु रसो न तेन" ।।८।।

स्वभाव से ही यह रस न सो कर उठता है और न सोता है। क्योंकि-जागना तो सोने की अपेक्षा रखता है। चूंकि रस कभी सोता नहीं, इसलिए इसका जागना भी नहीं हो सकता। बस, यही कारण है कि रस कभी भी बलस्वरूप में परिणत नहीं होता। परन्तु बल ठीक इसके विपरीतधर्म्मा है। वह

सोता भी है, जागता भी है। अतः जब इसकी सुप्तावस्था होती है तब यह रस स्वरूप में परिणत हो जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सुप्त्वा न जागर्ति रसो न शेते ततो रसो नास्ति बलस्वरूपः।
जागर्ति निद्राति बलं ततस्तत् सुप्तं भवत्येव रसस्वरूपम्" ॥९॥

अतएव जिस समय बल रस में सोता हुआ रहता है, तब वह स्वरूप (रसरूप) एवं अलक्षण कहलाने लगता है। ऐसी स्थिति में सर्ग क्रिया सर्वथा बन्द रहती है। परन्तु इसके विपरीत यदि अमृत मृत्यु को खा जाय अर्थात् मृत्यु की सुषुप्ति तो हो नहीं और भुक्ति हो जाए, वहाँ आत्मसृष्टि हो जाती है। क्योंकि यहाँ पर रसप्रधानतया बल की ही भुक्ति मालूम होती है। इसी प्रकार यदि मृत्यु अमृत को खा जाय तो जगत् सृष्टि होने लगती है, क्योंकि यहाँ रस की भुक्ति है अर्थात् जगत् में बल ही बल दृष्टि-गोचर होता है, अतः मानना पड़ता है कि यहाँ रस की भुक्ति है। इस प्रकार एक (१) रस में बल की सुप्ति से असर्ग एवं रस में बल की मुक्ति से (२) आत्मसर्ग एवं (३) बल में रस की मुक्ति से जगत्-सर्ग समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रस्वापतो यत्र भवेत् स्वरूपमलक्षणं तन्न च तत्र सर्गः।
अन्योन्यभोगात्तु तयोः स्वरूपे समन्वयोऽस्तीह ततोऽस्ति सर्गः" ॥१०॥

—❀—

८—अलक्षणसम्बन्धोदाहरणानि।

अलक्षण-सम्बन्ध के उदाहरण—

जिस प्रकार हमारे पैरों में चलने के लिए बल मौजूद है हाथ में क्षेपण का बल मौजूद है—इसी प्रकार, मुख में बोलने का बल मौजूद है। इस प्रकार सभी इन्द्रियों में तत्-तद् बल के रहने पर भी हम निरन्तर ही इनमें कार्य्य होता नहीं देखते—बस, इसी को अलक्षणबल कहते हैं, क्योंकि यहाँ बल रस में सूता (सोया) हुआ है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथास्ति पादे गतये बलं करे तत्क्षेपणायास्ति बलं तथा मुखे।
वक्तुं बलं किन्तु न सर्वदा ततः कार्य्याणि लोके, तदलक्षणं बलम्" ॥१॥

जिस प्रकार इस बीज में क्रमशः सूर्य्यादि के रस को निरन्तर खैंच कर वृक्षाङ्कुरोत्पत्ति के लिए एवं स्कन्धशाखाविटपादिभूति के लिए आज भी यह सारा बल मौजूद है, परन्तु यह बल अलक्षण कहलाता है, अतः जब तक पानी का सम्बन्ध इसके साथ न किया जाए, तब तक यह बल अलक्षण ही कहलाएगा। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथात्र बीजेऽस्ति कुटाङ्कुरोद्भिदे रसानिहाकृष्य निरन्तरं क्रमात् ।
स्कन्धप्रशाखाविटपादिभूतये बलं तथाप्यद्य तदस्त्यलक्षणम्" ।।२।।

इसी आकाश में–भीतर के मकान में अन्धकार है, वृक्ष के नीचे छाया है–मैदान में धूप है–इस प्रकार ये भिन्न-भिन्न प्रकार के बल दिन के अवकाश में स्पष्ट मालूम होते हैं। परन्तु वही आकाश रात्रि को सब बलों से अलक्षित हो जाता है। यद्यपि रात्रि में भी ये सारे बल मौजूद हैं, परन्तु उस समय अलक्षणसम्बन्ध से हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"इहावकाशेऽस्ति तमस्तथेह च्छाया तथेहातप एष इत्थम् ।
लक्ष्यन्त एते हि दिवावकाशा नक्तं तदाकाशमलक्षणं स्यात्" ।।३।।

ठीक इसी प्रकार इस विशुद्ध अमृत में यह मृत्यु सोता हुआ है, अतएव ऐसी हालत में मृत्यु के अव्यक्त होने से वह हमें दिखलाई नहीं पड़ता। इसी प्रकार जो कि मृत्यु अपने कमी–ज्यादा के तारतम्य से–भिन्न-भिन्न प्रकार से–अमृत के स्वरूप को दिखलाया करता था, उसी मृत्यु के आज रस में सो जाने से अतएव उसके न रहने से अमृत भी आज हमें अलक्ष्य ही दिखाई पड़ता है। क्योंकि अमृत का लक्षण तो बल ही है। जब बल ही सुप्त है तो अमृत का प्रत्यक्ष कौन करावे ? जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

तथा विशुद्धेऽस्त्यमृते स मृत्युः सुप्तस्तोऽव्यक्ततयास्त्यलक्ष्यः ।
वैविध्यतो लक्षयतेऽमृतं यः स नास्ति तेनामृतमप्यलक्ष्यम्" ।।४।।

इस मृत्यु के पेट में बाहर भीतर-चारों तरफ-आसमन्तात् अमृत लिपटा हुआ है। ऐसी हालत में यह मृत्यु अमृतस्वरूप ही बन जाता है। ऐसी अवस्था में जो रस में बल है–वह सर्वात्मना अविविक्त रहने से–अलक्षण कहलाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तदन्तरे तत्परितो बहिर्वाऽऽहितं हि मृत्यावमृतं समन्तात् ।
तत्रास्य मृत्योरमृतं स्वरूपं सर्वाविविक्तं तदलक्षणं स्यात्" ।।५।।

इस प्रकार इस जगत् का जो आदि कारणस्वरूप बल है–वह सोते रहने के कारण 'अलक्षण' कहलाता है। उसी अलक्षण बल में जब रस की भुक्ति होने लगती है तो इस लक्ष्य जगत् की सृष्टि होने लगती है। इसी प्रकार नाना जगत् का निर्म्माण हुआ करता है। इस प्रकार इन्हीं जगत् समूहों का–सुप्तिक्रम से प्रलय एवं भुक्ति क्रम से उदय हुआ करता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अलक्षणं तज्जगतोऽस्य रूपमाद्यं ततो लक्ष्यमिदं जगत् स्यात् ।
नाना जगन्ति प्रभवन्ति तेषामन्यान्यकालाः प्रलयोदयाः स्युः" ।।६।।

६–संसर्गसम्बन्धे सम्बन्धिनोर्बीजयोनित्वाभ्यां विभागः।

संसर्गसम्बन्ध में सम्बन्धियों का बीज और योनिक्रम से विभाग—

जिस समय एक का दूसरे में आधान हो जाता है–उस समय उस वस्तु में अभ्याहित (रखी हुई) अन्य वस्तु यदि उस पूर्व वस्तु के पेट में चली जाती है तो उसका प्रातिस्विकस्वरूप नष्ट हो जाता है, ऐसे समय में एक वस्तु ने एक बस्तु को खा लिया-ऐसा व्यवहार होने लगता है और इसे ही 'भुक्त' शब्द से कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आधीयतेऽन्यत्र यदन्यदस्मिन्नभ्याहितं चेदुदरेऽन्तरेति ।
स्वरूपतस्तच्च्यवते तदानीं भुक्तं तदन्येन तदन्यदाहुः" ॥१॥

वैदिकपरिभाषा के अनुसार भोक्ता को अन्नाद एवं भोज्य को अन्न कहते हैं। इनमें से जो अन्नाद है, वह दो प्रकार का होता है। कहीं तो यह अन्नाद खाली जगह की पूर्ति के लिए अन्न खाया करता है। जैसे एक तालाब भरा हुआ है–उसमें एक मोरी लगी हुई है। उसमें से जो अहर्निश जल निकल रहा है, उसकी पूर्ति दूसरी वारीप्रणाली (अन्य झरना) से होती रहती है। यह जो तालाब का दूसरे झरने से पानी का खाना है, वह विस्रस्त भाग की पूर्ति के लिए समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अन्नादनं तद् द्विविधं क्वचिद्वा विस्रस्तभागप्रतिपूरणाय ।
ह्रदे प्रणालीहृतवारिपूर्त्यै वारिप्रणाल्याऽपरयाऽभ्युपैति" ॥२॥

इस प्रकार दीपक की लौ में संस्रित (खाली) भाग की पूर्त्ति क्रमशः प्रविष्ट होता हुआ तैल किया करता है। यहाँ पर भी जो लौ का तैल भक्षण है–वह विस्रस्तभाग की पूर्त्ति के लिए ही होता है। इसी प्रकार प्राणिमात्र जो यहाँ अन्न भक्षण करते हैं–यह अन्नभक्षण खाली जगह की पूर्त्ति के लिए ही समझना चाहिए। क्योंकि हमारे में से हर समय कुछ न कुछ खर्च होता ही रहता है। बस, इसी भाग की पूर्त्ति अन्न द्वारा होती रहती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"दीपार्चिषि स्रंसितभागपूर्तिं करोति तैलं क्रमशः प्रविष्टम् ।
जीवोऽपि सर्वोऽन्नमिहात्ति तत् तद्विस्रस्तभागप्रतिपूर्तिहेतुः" ॥३॥

इस प्रकार एक तरह का अन्नाद बतला कर अब दूसरे प्रकार का बतलाते हैं–उपरोक्त उदाहरणों में अन्न के खाने से नई सृष्टि कुछ भी नहीं हुई थी, परन्तु कहीं-कहीं यह अन्न नवीन चीज पैदा करने के लिए अन्नाद के साथ समन्वित होता है। एक पिष्ट के विशेष योग से लोक में अन्यान्य वस्तुएँ पैदा होती हैं। अर्थात्–एक बल में भिन्नजातीय और बल डालने से दूसरी-दूसरी वस्तुएँ बन जाती हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथ क्वचिद्वा नववस्तुसृष्टचै तदन्नमन्नादसमन्वितं स्यात् ।
एकस्य पिष्टस्य विशेषयोगादन्यान्यवस्तूनि भवन्ति लोके" ।।४।।

जैसे यदि गर्म दुग्ध में दही का संसर्ग किया जाए तो आमिक्षा एवं कुछ शीतल दूध में दही के प्रयोग से दधि एवं तीव्र अग्निसंयोग से मलाई बन जाती है। इसी प्रकार रस में अन्यान्य बलप्रयोग से वही रस अक्षररूप में परिणत हो जाता है एवं वही रस क्षररूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार उपरोक्त उदाहरण केवल अन्य वस्तुस्वरूप को पैदा करने वाले बतलाए गए हैं। इस प्रकार एक विस्रस्त-भागपूर्त्ति करने वाला एवं एक नया सर्ग करने वाला-दो प्रकार का अन्नाद समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"दुग्धे तदन्यान्यविशेषयोगादामिक्षिका वा दधि वा शरो वा ।
रसे तदन्यान्यबलप्रयोगात् परोऽक्षरो वा भवति क्षरो वा" ।।५।।

इस नई सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम में भोग के लिए स्वभोग्य पर जो भोक्ता आक्रमण करता है-वह उस सृष्टि में 'वृषा' कहलाता है। एवं उसी सृष्टिक्रम में जो वस्तु भोग्यतया प्रतीत होती है-उसका 'योषा' नाम रक्खा जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तत्रेह सृष्ट्यर्थयुतिक्रमे यो भोगाय भोक्ता क्रमते स्वभोग्ये ।
स उच्यते तत्र वृषाऽथ योषा संज्ञायते भोग्यतया प्रतीता" ।।६।।

इस सृष्टिक्रम में जितना अंश वृषा का युक्त होता है-उसी अंश को विद्वान् लोग बीज कहते हैं एवं जितना अंश योषा का अन्वित होता है-वह इस विज्ञानशास्त्र में 'योनि' शब्द से कहा जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"संसृज्यते तत्र च यावदंशो वृष्णस्तमंशं कथयन्ति बीजम् ।
यावान् समन्वेत्यपि योषिदंशो योनिः स तावान् व्यपदिश्यतेऽत्र" ।।७।।

मृत्यु को यदि अमृत खा जाए तो वहाँ स्वरूपसंसर्ग से आत्मसृष्टि होती है, क्योंकि वहाँ रसभाग उद्बुद्ध एवं बलभाग उन्मुग्ध रहता है। परन्तु अमृत को यदि बल खा जाए तो (योने) स्वरूप संसर्ग-वश से यहाँ जगत् की सृष्टि होती है, क्योंकि यहाँ बल-स्वरूप उद्बुद्ध एवं रसस्वरूप उन्मुग्ध है-ऐसी हालत में यहाँ जो-स्वरूपसंसर्ग होगा, वह बलप्राधान्येन जगत् के निर्म्माण का ही साधक होगा। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

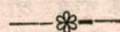
"मृत्युर्यदि स्यादशितोऽमृतेन स्वरूपसंसर्गत आतमसृष्टिः ।
बलाशितेऽस्मिन्नमृते तु योनेः स्वरूपसंसर्गवशेन सृष्टिः" ।।८।।

इस सृष्टपदार्थ का जो रसभाग है–वही इसका आत्मा है एवं इसे ही 'पुरुष' कहते हैं। और जो बलभाग है–उसे 'योनि' एवं प्रकृति कहते हैं। इस प्रकार इस पुरुष और प्रकृति (योषा-वृषा) का जब तक संसर्ग न होगा, तब तक संसार का कोई भी पदार्थ नहीं बन सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रसोऽयमात्मा पुरुषोऽथ तस्य तद्बलं तु योनिः प्रकृतिश्च कथ्यते।
यावन्न जायेत समन्वयोऽनयोर्न तावदाभ्यां किमपीह सृज्यते" ॥९॥

'रस' यदि मृत्यु को खा जाता है तो वह बल भी रसस्वरूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार रसस्वरूप से समन्वित जो बल है–उसमें कर्म्मात्मा-पुरुष का उद्भव होता है अर्थात् रसवद्बल से कर्म्मात्मा उत्पन्न होता है। ठीक इसके विपरीत बलस्वरूपयुक्त रस में जगत्रूप नई-नई सृष्टि होती है–अर्थात्–बलवद्रस से जगत् का निर्माण होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रसस्वरूपेण समन्विते बले कर्मात्मनः स्यात्पुरुषस्य सम्भवः।
बलस्वरूपेण समन्विते रसे योनेः प्रकृत्या अपि सम्भवो नवः" ॥१०॥



१०–त्रयः संसर्गाख्याः स्वरूपसम्बन्धाः।

संसर्गाख्य तीन स्वरूप-सम्बन्ध

इस विज्ञानशास्त्र में स्वरूपसंसर्ग–तीन (३) प्रकार के माने गए हैं–(१) बन्ध, (२) योग, (३) विभूति। इनमें से अनुग्रह से विभूतिसम्बन्ध होता है एवं जो कर्म्म में कौशल **(योगः कर्मसु कौशलम्)** है–उसे 'योग' कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

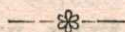
"स्वरूपसंसर्ग इह त्रिधा स्याद् बन्धश्च योगश्च तथा विभूतिः।
अनुग्रहादेव भवेद् विभूतिर्यत्कौशलं कर्मसु योग एषः" ॥१॥

इसी प्रकार जहाँ सङ्घातिशय हो जाता है, उसे 'बन्ध' कहते हैं। बस, इन्हीं तीन सम्बन्धों से आत्मा संस्कृत होता है। अर्थात्–आत्मा के स्वरूप सम्पादन करने वाले ये ही तीन सम्बन्ध हैं। इस प्रकार आत्मा के सर्ग करने वाले ये तीन सम्बन्ध प्रसिद्ध हैं, परन्तु यदि इन तीनों का नाश हो जाए तो ऐसी अवस्था में सर्वथा ही संसर्गनाश से उसे मोक्ष कहने लगते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"बन्धस्तु सङ्घातिशयादिह स्यादेभिस्त्रिभिः संस्क्रियते स आत्मा।
त आत्मसर्गास्त्रिविधाः प्रसिद्धाः संसर्गनाशं तु वदन्ति मोक्षम्" ॥२॥

इन तीनों सम्बन्धों में से विभूति सम्बन्ध ब्रह्म-प्रधान समझना चाहिए-अर्थात् यहाँ बल अनुचर रहता है। ठीक इसके विपरीत बन्धसम्बन्ध बलप्रधान रहता है अर्थात् अमृत मृत्यु से ढका रहता है। परन्तु जहाँ दोनों समानभाव से रहते हैं उसे 'योगसम्बन्ध' कहते हैं। बस, सारा जगत् इन्हीं तीन सम्बन्धों से बना हुआ है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ब्रह्मप्रधानः स विभूतिसर्गः कर्मप्रधानः पुनरेष बन्धः ।
द्वयोस्तु साम्ये भवतीह योगो विश्वं त्रिसंसर्गवशात् प्रवृत्तम्" ।।३।।



११-विभूतिसंसर्गः (१)

विभूतिसंसर्ग—

जहाँ दो के मिलने से सृष्टि हो-वहाँ पर यदि एक मृत हो एवं एक अमृत हो, एक स्वतन्त्र हो-एक परतन्त्र हो। दोनों में से एक तटस्थ हो एवं एक योग करना चाहता हो तो ऐसी जहाँ पर स्थिति हो-वह 'विभूतिसम्बन्ध' कहलाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यत्र द्वयोरन्वितयोस्तु सर्गादेकं मृतं स्यादमृतं द्वितीयम् ।
स्वतन्त्रमेकं परतन्त्रमन्यच्चान्वेति नान्वेति विभूतिरेषा" ।।१।।

जो कि काच में हमारे मुख का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है एवं जपापुष्प का रङ्ग स्फटिकमणि पर आभासित हो रहा है-वहाँ जो आहित अर्थ (मुखरङ्गादि) है-वह फैलता हुआ अपने आश्रयभूत काच को एवं स्फटिक को अपने ही रूप से आभासित करता है अर्थात् यद्देशावच्छेदेन मुख है-तद्देशावच्छेदेन काच का स्वरूप नहीं दीखता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यद्दर्पणे सन्निहितं मुखं, जपापुष्पस्य वर्णः स्फटिकेऽवभासते ।
तत्राहितोर्थो विभवन् स्वमाश्रयं स्वेनैव रूपेण तदाऽवभासयेत्" ।।२।।

इस प्रकार यद्यपि यहाँ मुखादि का काचादि पर विभव है तथापि हम इस को विभूति-सम्बन्ध कहने के लिए तय्यार नहीं, क्योंकि आवेश होने पर ही विभूतिसम्बन्ध कहलाता है। चूँकि प्रकृत में मुखादि का आवेश नहीं होने पाता, अपि तु, काच के ऊपरी भाग पर ही हमारा मुख संलग्न रहता है, न कि काच के प्रत्येक अवयव में, अतः इसको विभूति सम्बन्ध नहीं कह सकते। यहाँ पर जो हमें काच का स्वरूप नहीं दीखता, उसमें मुखावरण ही कारण है, अतः यहाँ पर मुख का काच के साथ उपराग (स्नेह) होने से यहाँ मुख काच के साथ उदारवृत्ति सम्बन्ध से रहता है क्योंकि अनुभवी विद्वानों ने उपराग को ही उदारवृत्ति कहा है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आवेशसत्त्वे तु विभूतिरिष्टा, नात्राविशत् नात्र विभूतिरेषा ।
उदारवृत्तिः कथितोपरागादत्रोपरागं हि वदन्ति वृद्धाः" ।।३।।

जो कि ताम्रतन्तु (बिजली का तार) में बिजली जलती है एवं जो कि गरम जल में अग्नि का ताप है और जो कि कोयले में अङ्गिरा की स्थिति है-यह सब विभूति सम्बन्ध है-ऐसा हम निश्चय करते हैं । क्योंकि यहाँ प्रत्येक अवयव में विद्युत् आदि का आवेश होता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

'यत्ताम्रतन्तौ ज्वलतीह विद्युद्, यदग्नितापोऽस्ति जलेऽनुतप्ते ।
याङ्गारखण्डेऽङ्गिरसः स्थितिः सा विभूतिरस्तीति समर्थयामः" ।।४।।

इच्छा के होते ही जो एक आन्तर व्यापार होता है, उससे सर्वथा स्थिर हाथ उन्नत हो जाता है एवं ऊपर नीचे इतस्ततः अनेक प्रकार से घूमने लगता है । यहाँ पर प्रज्ञानात्मा के अनुचर प्राण की (क्योंकि विना इच्छा (प्रज्ञान) के प्राण (यत्न) कभी भी नहीं हो सकता) उस हाथ में विभूति समझनी चाहिए जो कि विभूति यद्यति हाथ के प्रत्येक अवयव में अन्तर्हित है तथापि वह बिल्कुल उस हाथ से निर्लिप्त है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यदिच्छतो यत्नवतः स्थिरः करः प्रतिष्ठतीह प्रचरत्यनेकधा ।
प्राणस्य प्रज्ञानुचरस्य सा करे विभूतिरन्तर्निहिताऽप्यलिप्तवत्" ।।५।।

जिस समय एक पत्थर हम उछालते हैं अथवा एक बाण फैंकते हैं, इन दोनों में ही जो हमारे हाथ का दिया हुआ बल है-वह बल शर के प्रत्येक अवयव में व्याप्त है एवं शर बल के प्रत्येक अवयव में व्याप्त है । इस प्रकार इस शर में अथवा लोष्ट में जो बल है-वह विभूतिसम्बन्ध से रहता है, अतएव यह विभूति (बल) शर के साथ कभी भी आसक्ति नहीं करती है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"उत्क्षिप्यते लोष्टमथो शरस्तयो र्यदाहितं स्याद् बलमन्तरान्तरे ।
शरो बलेऽसौ बलमस्ति तच्छरे विभूतिरेषा न शरेऽनुषज्जते" ।।६।।

ईंट कभी भी सूखी मिट्टी से नहीं बन सकती, अतएव इस मिट्टी को पानी से लोचदार बना लिया जाता है । ऐसी मिट्टी से जब ईंट तय्यार हो जाती है तो शिवाग्निवायु उस जल को सोखकर उस ईंट पर विभवसम्बन्ध से बैठता है । परन्तु उस ईंट के साथ शिवाग्निवायु (अग्नि पर परमाणु) आज भी लिप्त नहीं होते । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

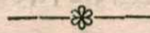
"न चेष्टका शुष्कमृदा भवेत् ततो जलात् करोतीह मृदं सुपेशलाम् ।
तयेष्टकासंपदि शोष्यते जलं शिवाग्निवायुर्विभवत्यथेष्टकाम्" ॥७॥

दो लोह के टुकड़े परस्पर कभी भी नहीं जुड़ सकते, अतः लोहखण्डद्वय को अग्नि से यदि पिघला लिया जाता है तो आसानी से आपस में जुड़ जाते हैं, क्योंकि इनमें शिवाग्निवायु विभवसम्बन्ध से बैठ गया है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"न लोहखण्डद्वितयं परस्परं संसृज्यते तेन तदग्निना द्वयम् ।
सुपेशलं चेदपि सृज्यतेऽञ्जसा शिवाग्निवायुर्विभवत्यनुष्म तत्" ॥८॥

हाथी-घोड़ा-घर-पर्वत-वन इत्यादि पदार्थ जब दृष्टि में एवं तदनन्तर स्मरण में जो आभासित होते हैं एवं विज्ञान ही क्रमशः इन सब पदार्थों में विभवसम्बन्ध से रहता है । इस प्रकार उपरोक्त सभी सम्बन्धों में एक स्वतन्त्र है—एक परतन्त्र है, एक अन्वित है और एक अन्वित होता हुआ भी अनन्वित है—इसे ही विभूतिसम्बन्ध कहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"गजाश्ववेश्माद्रिवनादयो यदा दृष्टौ स्मृतौ वा प्रतिभाति तत्र हि ।
विज्ञानमेकं विभवत्यनुक्रमादमीषु भूयो महिमस्वनेकधा" ॥९॥



१२–योगसंसर्गः । (२)

योगसंसर्ग—

एक ही कर्म्म में जहाँ दोनों का योग हो और दोनों ही स्वातन्त्र्येण एककालावच्छेदेन उस कर्म्म में प्रवृत्त हों, ऐसी स्थिति में दोनों के योग से जो एक तीसरी नवीन ही चीज पैदा हो और एक एक से मरे नहीं–बस, इसे ही योग सम्बन्ध कहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यत्र द्वयोरन्वितयोः स्वतन्त्रप्रवृत्तयोः कर्म्मणि साहचर्य्यात् ।
द्वियोगजं सृष्टमपूर्वमुद्यान्न चान्यतोन्यन्म्रियते स योगः" ॥१०॥

एक पक्षी (चील) के दोनों पंख पृथक्-पृथक् एक पूर्व दिशा में उडने का बल लगा रहा है एवं एक पश्चिम दिशा में बल लगा रहा है । ऐसी स्थिति में दोनों हीं की गति से एक तीसरी ही हृद् केन्द्र से ठीक समकोण बनाती हुई–उत्तर दिग्-गति उत्पन्न हो जाती है । ध्यान रहे–यहाँ गति दोनों की हो रही है । यदि ये पंख पक्षी के हृदयबिन्दु की सीध में होकर क्रिया करते तो उसी समय एक गति एक को मार कर उस पक्षी को स्थिर बना देती, जैसे कि एक रस्से को दो पहलवान सीध में खैंचते हैं तो

वह रस्सा स्थिर हो जाता है क्योंकि वहाँ एक गति एक गति को मार देती है एवं जिस तरह एक नाव के दोनों खूंटों पर रस्सा बाँध के यदि खैंचा जाए तो नाव उसी समय स्थिर हो जाती है। परन्तु ये पंख पक्षी के हृदय की समान रेखा पर न होकर उससे तिरछे हैं। बस, यही कारण है कि वहाँ एक गति को एक नहीं मार सकती, अतएव एककालावच्छेदेन दोनों में क्रिया होने से एक समकोण सिद्धा गति उत्पन्न होती है। इसे ही योग कहते हैं। जैसे नाव के दोनों खूंटों पर रस्सा बाँध के एक ईशान-कोण की तरफ खैंचे और एक वायव्यकोण की तरफ खैंचे तो नाव ठीक उत्तर की तरफ जाएगी तद्वत् यहाँ भी समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्राचीं प्रतीचीं च पृथक् पतत्रे पतत्रिणः संपततस्ततः स्यात्।
गत्योर्द्वयोर्योगवशादुदीचीगतिर्विभिन्ना समकोणसिद्धा" ॥११॥

जिस समय हाथ से हाथ का घर्षण किया जाए एवं बड़ी ताकत से पत्थर से पत्थर रगड़ा जाए–ऐसी हालत में विरुद्धशक्तिद्वय के योग से एक तीसरी ही आग की चक्रगति उत्पन्न होती है–इसे भी योग सम्बन्ध ही कहते हैं। अग्नि का स्वभाव है कि जब कभी उत्पन्न होता है, तब गोलचक्र बनता हुआ ही निकलता है। यह चक्र यन्त्रों द्वारा देखा जा सकता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

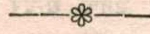
"यत्पाणिना पाणिरमुष्य घृष्यते बलाद् दृढोऽश्मा प्रतिहन्यतेऽश्मना।
विरुद्धशक्तिद्वययोगतस्ततस्तदाऽनलश्चक्रगतिर्विजायते" ॥१२॥

यदि अतिसूक्ष्म चमकदार काले वस्त्र के बीच में होकर परली पार रखा हुआ कोई भास्वर शुक्ल पदार्थ यदि देखा जाए तो वह बिल्कुल लाल दीखेगा और यही कारण है कि यद्यपि हमारे शरीर में वैश्वानराग्नि भास्वर शुक्ल है तथापि बाहर के काले पर्दे की वजह से हमें वह शोणित (लाल) दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार अग्नि में जो धूआँ है, वह भी लाल दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार प्रातःकाल एवं सायंकाल पृथिवी की भूमा के कारण स्वच्छ भी सूर्य्य हमें लाल दिखाई पड़ता है। इन सब दृष्टान्तों में दो से एक तीसरी चीज उत्पन्न होती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कृष्णोऽतिसूक्ष्मावरणोऽन्तराहितो बहिर्भवन् भास्वरशुक्ल ईक्ष्यते।
रक्तः स वर्णस्तत एव शोणितो धूमाग्निरङ्गारशुचिः प्रगे रविः" ॥१३॥

इसी प्रकार अतिसूक्ष्म चमकदार पीले आवरण के अन्दर हो के यदि उस पार नीली वस्तु देखी जाए तो फौरन वह वस्तु दोनों के योग से हमें हरित दिखलाई देगी, अतएव भास्वर शुक्ल पीतिमा को लिए हुए उसके अन्दर से जब हम कृष्णवर्णयुक्त पृथिवी को देखते हैं तो फिर वह पत्ता हमें हरित दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार उपरोक्त सभी उदाहरण योगसम्बन्ध के समझने चाहिएँ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पीतेऽतिसूक्ष्मावरणेऽन्तराहितो बहिर्भवन् श्यामल ईक्ष्यते यदि ।
हरित् स वर्णस्तत एव शाखिनां पश्यन्ति पत्राणि हरीन्ति सर्वतः" ।।१४।।



१३–बन्धसंसर्गः । (३)

बन्धसंसर्ग—

जहाँ परस्पर दो पदार्थों के अन्वित होने से–दोनों के योग से एक अपूर्व वस्तु पैदा हो किन्तु वे दोनों पदार्थ एक से एक मृत होता हुआ पृथक् स्वतन्त्र न हो सके तो उसे ही बन्ध-सम्बन्ध कहते हैं । अर्थात् दोनों के मरने से एवं स्वतन्त्र न होने से यदि तीसरी वस्तु बने तो उसे ही बन्ध-सम्बन्ध कहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यत्र द्वयोरन्वितयोरपूर्वं द्वियोगजं सृष्टमुदेति किन्तु ।
अन्योन्यमन्योन्यहतं मृतं सत् पृथक् स्वतन्त्रं न भवेत् स बन्धः" ।।१५।।

जिस समय वायु पानी में घुस पड़ता है, वह वायु खण्ड-खण्ड होकर जब पानी के स्तर में आ जाता है तो उसे बुदबुद कहते हैं । इस प्रकार यदि उस वायु के ऊपरी भाग का जलस्तर यदि कुछ समय तक न हटे तो थोड़ी ही देर में वह पानी और वायु मिलकर फेनरूप में परिणत हो जाएँगे–इसे ही बन्ध-सम्बन्ध कहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथाप्सु वायुः प्लवते स खण्डशो यदोदकैराव्रियते स बुद्बुदः ।
न चावृतिस्त्रुट्यति चेत् तदोभयं संसृज्य बद्धं भवदेति फेनताम्" ।।१६।।

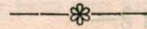
गर्म दूध यदि शीतलवायु से अभिभूत (युक्त) होता है तो ऐसी हालत में यह वायु उस दूध के पकड़ में आ जाता है । इस प्रकार थोड़ी ही देर में दूध के और जितने अंश में वायु घुसा है, उतने ही दूध के योग से (बन्धन से) दोनों के ही स्वरूप को नष्ट करती हुई एक तीसरी मलाई बन जाती है । यही बन्ध-सम्बन्ध कहलाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"दुग्धं प्रतप्तं यदि शीतवायुनाऽभिभूयते वायुरयन्तु बध्यते ।
दुग्धस्य वायोरपि बन्धनान्मिथः शरः समुद्भूय पृथग् विजायते" ।।१७।।

इसी को स्पष्ट करते हैं—

जिस समय स्थाली में रखे हुए दूध के नीचे अग्निप्रयोग जब करते हैं तो अग्नि स्थाली के परमाणुओं में से प्रवेश करता हुआ रस को (दूध को) लेने की इच्छा करता है। बस, अग्नि की इस क्रिया से दूध ऊपर की ओर उठता है। फौरन उसी समय इस दूध में पोल देख के शीतल वायु उन रिक्तस्थानों का सन्धान करता हुआ उनके अन्दर जा बैठता है। इस प्रकार उस वायु के साथ स्वयोग्य (जितनी कि दूर वायु घुसा है तावन्मात्र) इसमें बन्धन होने से यह रस शररूप में परिणत होता है। इस प्रकार उपर्युक्त सभी दृष्टान्त बन्धसंसर्ग के समझने चाहिएँ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अग्निः क्रमादुत्क्रमते रसान्नयन्, वायुः क्रमादन्तरुपैति संदधत्।
वायोः स्वयोग्ये हि रसेऽनुबन्धनादयं रसस्तत्र शरः प्रजायते" ॥१८॥



१४–स्वरूप-संसर्गाणामुदाहरणम्।

विभूति-योग-बन्ध इत्यादि स्वरूपसम्बन्धों के उदाहरण—

हम गाय को चारा खिलाते हैं, तभी वह दूध देती है। इससे सिद्ध हुआ कि इस तृणसमूह में ही दूध रखा हुआ है। यहाँ पर जो तृण और दूध का सम्बन्ध है, वह 'बन्ध' संसर्ग समझना चाहिए। क्योंकि हम इसमें से दूध को पृथक् नहीं कर सकते।

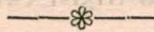
परन्तु जब गाय का दूध निकलता है–उस समय जो उसमें पानी का सम्बन्ध है, उसे 'विभूति सम्बन्ध' कहेंगे। अर्थात्–दूध के प्रत्येक अवयव में पानी के विद्यमान रहने पर भी वह दूध से लिप्त नहीं होने पाता। परन्तु इस स्वाभाविक दूध में ऊपर से यदि और जल डाला जाए तो यहाँ जो इस पानी का सम्बन्ध होगा, वह 'योग सम्बन्ध' कहलाएगा। क्योंकि दोनों से एक 'जल–विशिष्ट दूध' यह तीसरी अवस्था होने पर भी दोनों ही आज भी अपने स्वरूप में मौजूद हैं। परन्तु इस दूध में यदि ऊपर से एक तृण डाल दिया जाए तो इस तृण और दूध का सम्बन्ध वृत्तित्वसम्बन्ध कहलाएगा। इस प्रकार एक ही दूध में विभूति-योग-बन्ध-वृत्तित्व–ये चारों सम्बन्ध मौजूद हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तृणेषु बन्धादिह दुग्धमस्मिन् जलं विभूत्या,द्रवताऽम्बुयोगात्।
दुग्धे तृणं वृत्तिमदाहितं चेदेकत्र संसर्गचतुष्कमित्थम्" ॥१९॥

पदार्थ का–यह स्वरूपसंसर्गसम्बन्धिबल–प्रवृद्धि का कारण होता है, अतएव इस पदार्थ के स्वरूप में एवं स्वभाव में–सक्ति में एवं वृत्ति में स्वतः ही भेद होता है, इसी कारण से वस्तुभेद भी

हो जाता है । अर्थात्–इसी स्वरूपसम्बन्ध के तारतम्य से प्रत्येक पदार्थों के स्वरूपादि भिन्न–भिन्न प्रतिभासित होते रहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्वरूपसंसर्गिबलप्रवृद्धयात्मनः स्वरूपेऽस्य तथा स्वभावे ।
सक्तौ च वृत्तौ स्वयमेव भेदः प्रवर्तते तेन च वस्तुभेदः" ॥२०॥



१५–वृत्तित्वसंम्बन्धनिर्देशः ।

वृत्तित्व सम्बन्ध निर्देश—

इस रस में इस प्रकार चार (४) प्रकार के स्वरूप–सम्बन्ध बतला दिए गए हैं । इन चारों में से तीन सम्बन्ध नई चीज पैदा करने के कारण सर्ग्य हैं और चौथा वृत्तित्व किसी भी चीज के पैदा न करने के कारण असर्ग्य है । अब इसके वाद वृत्तित्वसम्बन्ध कितने प्रकार के हैं–यह बतलाते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्वरूपसंबन्धविधाश्चतस्रो रसे बलानामुदिता इतीत्थम् ।
सर्ग्या असर्ग्यश्चि तथात ऊर्ध्वं वृत्तित्वसंबन्धविधाः प्रदर्श्याः" ॥१॥

जहाँ पर आश्रित और आश्रय के अन्वय से–परस्पर मेल से जहाँ कोई अपूर्वता पैदा न हो और आश्रित वस्तु आश्रय की अपेक्षा न रखता हुआ कर्म्म में प्रवृत्त होता हो–बस, यही जो आश्रित-आश्रय का परस्पर सम्बन्ध हो, इसे ही '**वृत्तिता-सम्बन्ध**' कहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा कहा है—

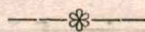
"यत्राश्रितस्याश्रयतोऽन्वयेन संसृज्य नापूर्वमुदेति किञ्चित् ।
यत्राश्रितं स्वाश्रयनैरपेक्ष्यात् प्रवर्तते कर्मसु वृत्तिता सा" ॥२॥

जिस प्रकार मार्ग में चलते हुए मनुष्य का यह मार्ग आश्रयसम्बन्ध से अवश्य ही निमित्त-भूत होता है तथापि यह रास्ता उसकी गति से सम्बद्ध नहीं होता अर्थात्–मनुष्य के चलने पर भी रास्ता नहीं चलता–बस इसी सम्बन्ध को '**वृत्तित्वसम्बन्ध**' कहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा ने कहा है—

"यथा हि पथ्यस्य जनस्य गच्छतः पन्था निमित्तं ध्रुवमाश्रयत्वतः ।
न चैवमप्येष गति-स्वरूपगो वृत्तित्वमेवं तदुदाहरन्ति हि" ॥३॥

जिस प्रकार आकाशगत वायु ने सभी दिशाओं में आकाश को व्याप्त कर रखा है तथापि वायु से यह आकाश लिप्त नहीं होने पाता—तद्वत्—यह सारा बल यद्यपि रस में आसक्त है तथापि रस बल से युक्त (आसक्त) नहीं होने पाता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथायमाकाशगतः समीरणो व्याप्नोति चाकाशमशेषदिक्ष्वपि ।
न वायुनाकाशमिदं विलिप्यते तथाखिलं स्याद्रसवृत्ति तद्बलम्" ॥४॥



१६—सामान्यवृत्तित्वम् । असंसर्गो वृत्तित्वसंबन्धः ।

सामान्यवृत्तित्व-असंसर्गवृत्तित्व सम्बन्ध—

रस में बल एवं सर्वबल में रस—इस प्रकार ये दोनों परस्पर मिलितस्वरूप को लिए हुए ही निरन्तर रहते हैं। इस प्रकार एतादृश रसबल की जब कि हम कोई अवधि (सीमा) कायम नहीं कर सकते—ऐसे समय में—इस—रसबल का पूर्वोक्त सम्बन्ध सामान्यवृत्तित्व एवं असंसर्गवृत्तित्व सम्बन्ध कहाएगा—क्योंकि ऐसे रसबल से नई वस्तु पैदा नहीं होती। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रसे बलं सर्वबले रसो वा, सर्वोऽन्वितं रूपमिहास्ति शश्वत् ।
तयोर्न मात्रा नियमस्तदानीं सामान्यवृत्तित्वमिदं न सर्गः" ॥५॥

जिस प्रकार इस वन में हजारों मृगसिंहादि एवं लुटेरे निवास करते हैं। परन्तु इनके न रहने पर भी वन के स्वरूप में परिवर्त्तन नहीं होता एवं ये सिंहादि विना वन के भी रह सकते हैं—अर्थात् दोनों ही निरपेक्ष हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथा वने सन्ति मृगादिजन्तवो लुठच्चरा वा शतशः सहस्रशः।
असद्भिरेतैर्न वनस्य हीयते वनं विनापि स्युरमी यतस्ततः" ॥६॥

जिस प्रकार इस संसार में जो कुछ भी पदार्थजात हैं, वे सब इसी ब्रह्माण्ड चक्र के अन्तर्गत हैं। बस, इस, ब्रह्माण्ड का और दृश्य पदार्थों का जो परस्पर सम्बन्ध है, वह सामान्यवृत्तित्व सम्बन्ध कहलाएगा, क्योंकि इनके साथ ब्रह्माण्ड के योग न रहने पर भी कोई नई चीज का सर्ग नहीं होता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथेह यच्च यत्र च किञ्च लोके ब्रह्माण्डचक्रेऽखिलमेतदास्ते ।
सामान्यवृत्तित्वमिदं न तेभ्यो ब्रह्माण्डयोगादिह कोऽपि सर्गः" ॥७॥

१७–त्रयः संसर्गाख्या वृत्तित्वसंबन्धाः (३)

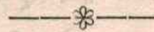
तीन संसर्ग नामक वृत्तित्व सम्बन्ध–

इस प्रकार १-आसक्ति २-उदार एवं ३-समवाय–इस क्रम से वृत्तित्व संसर्ग भी तीन ही प्रकार का होता है। इस तरह तीन स्वरूपसम्बन्ध एवं पूर्वोक्त तीन वृत्तित्वसम्बन्ध–ये ६ओं ही सम्बन्ध–रस और बल के भिन्न भिन्न स्वरूप बतलाने में कारण बनते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आसक्त्युदारौ समवाय इत्थं वृत्तित्वसर्गोपि भवेत् त्रिधैव ।
तेन स्वरूपत्रयमुक्तवृत्तित्रयं षडेतेऽमृतमृत्युसर्गाः" ॥८॥

इन ६ओं सम्बन्धों में से जो स्वरूपसम्बन्ध है–उससे अनेक प्रकार के (भिन्न भिन्न प्रकार के) आत्माओं का स्वरूप बनता है। बस, इस आत्मा को 'भोक्ता' कहते हैं। ठीक इसके विपरीत-वृत्तित्व-संसर्गिबल–इस भोक्तास्वरूप आत्मा के लिए भोग्यस्वरूप बनता है अर्थात् स्वरूपसम्बन्ध से भोक्ता का एवं वृत्तित्वसम्बन्ध से भोग्य का निर्म्माण होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्वरूपसंसर्गिबलादिहात्मा विधीयतेऽनेकविधः स भोक्ता ।
वृत्तित्वसंसर्गिबलात्तु भोक्तुस्तस्यात्मनो भोग्यमुपस्थितं स्यात्" ॥९॥



१८–उदारवृत्तित्वम् । संसर्गः (१)

उदारवृत्तित्व–संसर्ग –

जिस रसवृत्तिता में बल की असाधारणता ही सिद्ध होती है, ऐसे बल में रस के संसर्ग से यदि निष्पन्दता (अक्षुब्धता) एवं रसलिप्तता–यदि न हो तो यहाँ इस बल को उदारवृत्तित्वसम्बन्ध कहेंगे। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

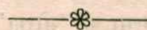
"बलस्य यस्यां रसवृत्तितायां सिध्यत्यसाधारणतैव तस्मिन् ।
निष्पन्दता वा रसलिप्तता वा न जायते सा तदुदारवृत्तिः" ॥१०॥

जिस प्रकार यह आकाशगत वायु आकाश से निर्लिप्त होता हुआ ही इस आकाश में बहता है, परन्तु निर्लिप्त होते हुए भी इस वायु में आकाश–भेद से–यह वायु असाधारणता (भिन्नत्व) को प्राप्त हो जाता है–तद्वत् रस-बल के पूर्वोक्त सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथायमाकाशगत: समीरो निर्लिप्त एव प्रचरत्यमुष्मिन् ।
भवत्यसाधारणतामुपेत: स्वभेदतस्तद्वदिहापि विद्यात्" ॥११॥

जिस प्रकार जलबिन्दु कमल पत्र पर बैठा हुआ उस पत्र से निर्लिप्त ही रहता हुआ इस पत्र में विचरता है, परन्तु पत्रों के भेद से अलग अलग रखा हुआ असाधारणता को प्राप्त होता है–तद्वत् प्रकृत में भी समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में असङ्गता ही प्रधान है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथा जलं पुष्करपत्रनिष्ठं निर्लिप्तमेव प्रचरत्यमुष्मिन् ।
भवत्यसाधारणतामुपेतं क्वचिद्भृतं तद्वदिहापि विद्यात्" ॥१२॥



१६–समवायवृत्तित्वम् । संसर्गः (२)

समवायवृत्तित्व सम्बन्ध–

*"बलस्य यस्यां रसवृत्तितायां सिद्धयेदवष्टम्भ इहाविदूरे ।
निष्पन्दमस्मिन्नवलम्बितं स्यान्न संचरेत् सा समवायवृत्ति:" ॥१३॥

"यथा पटस्तन्तुषु मृद्घटो वा मृत्स्वेव तिष्ठत्यवलम्बमानम् ।
निष्पन्दरुद्धं न तत: पृथक् स्यान्न चाश्रयं हन्ति तथेह विद्यात्" ॥१४॥

"यथा गुणा द्रव्यगता अमुष्मिन् प्रतिष्ठिता: सन्त्यवलम्बिनस्ते ।
निष्पन्दरुद्धा न तत: पृथक् स्युर्न वाश्रयं हन्युरिहापि तद्वत्" ॥१५॥

जिस रसवृत्तिता में–बल की पकड़ सिद्ध हो जाए अर्थात्-बल रस में गिरफ्त हो जाए–भिन्नता के न रहने पर भी जहाँ पर–"इसमें यह है–" यह बुद्धि होती हो–उसी को **'समवायवृत्तिता'** कहते हैं। जिस प्रकार दीप में लौ, वन में वृक्ष, समुद्र में पानी, सेना में योद्धा इत्यादि उपरोक्त सभी स्थलों में पदार्थभेद रहने पर भी–"इसमें यह"–ऐसा व्यवहार लोक-सिद्ध है, क्योंकि वस्तुत: दीप ही तो लौ है, भटसमूह ही तो सेना है–इस प्रकार और स्थलों पर भी समझ लेना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

* १३ से १५ तक के श्लोकों का हिन्दीविज्ञानभाष्य उपलब्ध नहीं हुआ है, अत: यहाँ मूल संस्कृत श्लोक मात्र उद्धृत किये गए हैं। (सं०)

"इहेदमस्तीति मतिः पृथक्त्वकाभावेऽपि चेत् सा समवायवृत्तिता ।
यथा प्रदीपेऽर्चिरुपैति, शाखिनो वने, सरस्यम्बु, भटाश्चमूगताः" ॥१६॥

२०–आसङ्गवृत्तित्वम् । संसर्गः (३)

आसङ्गवृत्तित्व सम्बन्ध—

जिस रसवृत्तिता में–बल का बल के साथ–इस रस में लेप सिद्ध हो जाय तो–इस लेप की वजह से उस आत्मा के ऊपर आवरण आ जाता है । बस इसी आवरण के कारण आत्मा विकृत हो जाता है–इसी को 'सङ्गवृत्ति' कहते हैं । अर्थात्–उस बल की इस आत्मा पर छाप पड़ जाती है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"बलस्य यस्यां रसवृत्तितायां बलेन लेपः पुरुषेऽत्र सिद्ध्येत् ।
लेपाच्च तस्यावरणाद् विकारः स्यादात्मनः सा खलु सङ्गवृत्तिः" ॥१७॥

जिस तरह पानी में पड़ा हुआ नमक का टुकड़ा उसमें व्याप्त हो जाता है और खुद उस पानी से लिपटता हुआ उस पानी को भी आवृत कर देता है और यही नमक आसक्तिवृत्ति से उस पानी के आत्म-बल (प्रातिस्विक स्वरूप) को एवं रूप को एवं स्वाद को विकृत कर देता है तद्वत्-प्रकृत में भी समझना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथाऽऽहितं सैन्धवखिल्यमप्सु व्याप्नोति ताश्चावृणुते विलिम्पत् ।
रूपाद्रसाद्वा विकरोति तोयं ह्यासक्तिवृत्त्यात्मबलं च तद्वत्" ॥१८॥

जिस प्रकार शुद्ध कपड़े के रंग देने पर–उस वस्त्र के बाहर एवं भीतर से सभी तन्तु विकृत-भासित होते हैं, क्योंकि इस पर रङ्ग का लेप (आसक्ति) चढा हुआ है–तद्वत् यहाँ भी आसक्ति वश से आत्मा में विकार उत्पन्न होता है । अर्थात्–वस्तुतः आत्मा सर्वथा निर्विकृत ही है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथा विशुद्धस्य पटस्य रञ्जनादन्तर्बहिस्तन्तुविकार ईक्ष्यते ।
तदङ्गलेपावरणात् तथात्मनो विकार आसक्तिवशेन जायते" ॥१९॥

२१–वृत्तित्वसंसर्गोदाहरणानि ।

वृत्तित्वसंसर्ग के उदाहरण–अर्थात्–उदारवृत्तित्व-समवायवृत्तित्व एवं आसङ्गवृत्तित्व-संसर्ग का एकत्र समावेश—

हाथी छाप या रानी छाप जो एक कागद है, उसमें कागद के अन्दर ही जो कि एक दृढ रेखा है (रानी की छाप) है एवं इस कागज पर स्याही से खींची हुई जो एक दृढ रेखा है एवं एक जो–सूर्य्य की किरणों से प्रतिबिम्बत होकर इस पत्र पर रेखा पड़ रही है–ये तीनों रेखा एक क्रम से–आसक्ति-उदार एवं समवाय वृत्ति से इस पत्र में अवलम्बित हैं। इसमें प्रतिबिम्बत रेखा–उदारसम्बन्ध से, स्याही की रेखा–समवायसम्बन्ध से एवं ठप्पे की कुदरती रेखा आसक्तिसम्बन्ध से समझनी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पत्रेऽन्तरे या सुदृढास्ति लेखा मस्यादिक्लृप्ता च बहिर्दृढा या।
छाया मयूखादिकृता च लेखा क्रमेण सक्तिः समवाय्युदारौ" ॥२०॥

उदारता सम्बन्ध में विषय की अपेक्षा बिल्कुल नहीं रहती, अर्थात्–विषय के साथ इसकी लपेट नहीं होने पाती, अतएव प्रज्ञानात्मा का (उदार सम्बन्ध करने वाले का) न यहाँ स्मरण ही होता है और न क्रिया ही होने पाती है। परन्तु ठीक इसके विपरीत यदि विषय के साथ इसका संस्कार हो जाय तो यह समवायवृत्ति कहायेगी। परन्तु यदि इन विषयों में प्रज्ञान बिल्कुल ही चिपट जाय तो यह आसक्ति सम्बन्ध कहाएगा। इस आसक्ति में विषय के अधीन आत्मा हो जाता है और समवाय में आत्मा के अधीन विषय रहता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अर्थेऽनपेक्षे प्रभवत्युदारता प्रज्ञस्य नात्र स्मरणं न संस्क्रिया।
संस्कारभावे समवाय इष्यतेऽथासक्तिरस्य व्यसनेषु जायते" ॥२१॥

जिस समय यह मनुष्य किसी गद्य-पद्य का बार बार यदि अभ्यास करता है तो थोड़े ही समय में उस गद्य-पद्य का उसके साथ समवायसम्बन्ध हो जाता है अर्थात् उस गद्य-पद्य का इस मनुष्य के साथ दृढ सम्बन्ध हो जाता है। इसी प्रकार धारणा-ध्यान एवं समाधि योग से जो फिर एक सम्बन्ध होता है–उसे संयम कहते हैं। इसी तरह उपरोक्त क्रियाओं से संयम द्वारा इस मनुष्य में यौगिक शक्तियों का प्रादुर्भाव हो जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यत्रायमभ्यस्यति गद्यपद्ये तत् संस्क्रियास्मिन् समवैति तद्वत्।
स्याद्धारणाध्यानसमाधियोगात् स संयमो योगबलानि चास्मिन्" ॥२२॥

यज्ञ के प्रभाव से यजमान एक नया 'दैवात्मा' सम्पन्न करता है। यह आत्मा दो प्रकार का होता है–एक सांस्कारिक एवं दूसरा[1]। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

१ यजमानात्मा (सं०)।

"यज्ञप्रभावाद् यजमान आत्मा संपद्यते हि द्विविधस्तयोः स्यात् ।
साँस्कारिकत्वात् समवाय इत्थं सर्वत्र सम्बन्धगतिं प्रविद्यात्" ।।२३।।



२२-कर्म्मात्मनि वृत्तित्वसंसर्गत्रयम् ।

कर्मात्मा में वृत्तित्व नाम के तीन सम्बन्ध-अर्थात् तीनों का एकत्र समावेश—

जब कि रस एक ही पदार्थ है एवं बल भी जब एक ही पदार्थ है तो फिर क्या कारण है कि इसी रस में अव्यय-अक्षर-क्षर इत्यादि नाना भाव उत्पन्न हो जाते हैं-यदि कोई ऐसा प्रश्न करे तो उसका उत्तर यही है कि यद्यपि रस एक है तथापि यहाँ केवल सम्बन्धभेद से ही ये तीन भाव पैदा होते हैं। बस-उन्हीं सम्बन्धों को बतलाते हैं-यहाँ एक ही शुद्ध कर्म्मात्मा नामक रस में इस बल की जो सक्ति है, वह उदारवृत्त्या ही ठहरती है। बस-इस उदारसक्ति से यह पर (अव्यय) स्वभाव से ही तत्तत् पदार्थों में आविष्ट होकर संसार का पालन किया करता है-अर्थात्-रस का बल के साथ जब उदारवृत्ति सम्बन्ध होता है, तब वही रस अव्यय नाम से व्यवहृत होता है। यहाँ पर यह सम्बन्धसक्ति होते हुए भी उदार कहलाता है। यह एक अद्भुत ही सम्बन्ध समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तत्रैककर्मात्मनि तस्य सक्तिरुदारवृत्त्यैव हि संनिधत्ते ।
उदारसक्त्या हि परः स्वभावादाविश्य विश्वं स बिभर्ति नित्यम्" ।।२४।।

संसार के यावन्मात्र पदार्थ समवायवृत्ति से बना करते हैं और उदार में समवाय है नहीं-क्योंकि वहाँ रस बल की प्राथमिक चिति है अर्थात्-यह सम्बन्ध एककर्म्मक है, परन्तु समवाय सम्बन्ध होता है द्विकर्म्मक। इस प्रकार जब पूर्वोक्त चिति की फिर यदि चिति होती है तो तदवच्छिन्न (द्विकर्म्म) रस ही अक्षर कहलाने लगता है। इसी को समवायवृत्तित्व सम्बन्ध कहते हैं। इस प्रकार ऐसी अवस्था में इस जगत् का कारण अक्षर ही हो सकता है न कि अव्यय, क्योंकि यहाँ (अक्षर में) समवाय सम्बन्ध का भेद है और वह अक्षर में है नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि जहाँ प्राथमिकचिति पर और एक चिति हो जाए तो तदवच्छिन्न रस ही अक्षर कहलाने लगता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कार्य्यप्रसूतिः समवायवृत्त्या द्वैकर्मिकत्वे समवायवृत्तिः ।
ततोऽक्षरस्यैव तु कारणत्वं परस्य नैतत् समवायिभेदात्" ।।२५।।

परन्तु संसार में जितना हम विकार देखते हैं-वह सब न समवाय से ही होता है और न उदार से ही, अपि तु, यह विकार 'आसक्ति' से ही होता है। अतएव यह विकार न अव्यय में होता है और न अक्षर में। परन्तु जब दो चितियों पर यदि और एक चिति हो जाए तो बस, यही आसक्ति सम्बन्ध

कहलाएगा और एतदवच्छिन्न रस को ही 'क्षर' कहते हैं। इस प्रकार आसक्तिमय यह क्षर ही है, वह आत्मस्वरूप अव्यय और अक्षर तो आज भी असंग ही है। सारांश यह हुआ कि रस-बल की प्राथमिक चिति को 'अव्यय' कहते हैं। चिति में फिर जो संचिति होती है—उसे अक्षर एवं पुनः संचिति में यदि संचिति हो तो उसे 'क्षर' कहते हैं। इस प्रकार केवल सम्बन्ध-भेद से ही यह रस—'अव्यय-अक्षर-क्षर' रूप में परिणत हो जाता है—जैसा कि भगवान् कहते हैं—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः"॥[1]

जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आसक्तिवृत्त्यैव भवेद् विकारो न त्वक्षरे नापि परे विकारः।
त्रैकर्मिके सक्तयुपपत्तितोऽयमसङ्ग आत्मा स परोऽक्षरश्च" ॥२६॥

इस प्रकार उदार-समवाय-एवं आसक्ति ये तीनों ही वृत्तित्वसम्बन्ध-कर्म्म के कारण कर्म्मातमा में ही पैदा होते हैं। शुद्ध रस में तो आज भी इन सम्बन्धों का अभाव ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"उदार एवं समवाय एवं व्यासक्तिरेवं त्विति वृत्तितेयम्।
त्रिधापि कर्म्मात्मनि कर्म्महेतोः प्रवर्तते शुद्धरसे तु नास्ति"॥२७॥

इस प्रकार ६ (नौ) वृत्तित्व सम्बन्धों में से ४ (चार) पर्य्याप्ति वृत्तित्व नाम के सम्बन्ध बतला चुके जो कि सृष्टि पैदा करने वाले थे। अब यहाँ से ५ (पाँच) अन्वाभक्ति नामक-असर्ग्यवृत्तिता के भेद बतलाते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पर्य्याप्तिवृत्तित्वविशेषभेदाश्चतुर्विधा एवमिहोपदिष्टाः।
अतः परं पञ्च निदर्शयामोऽन्वाभक्तिवृत्तित्वविधा असर्ग्याः" ॥२८॥

—❀—

२३—उदूढसम्बन्धभेदाः (संहिताः)।

उदूढसम्बन्धभेद (संहिता)—

---

१ गीता १५।१६-१७।

वैदिकपरिभाषानुसार उद्ढसम्बन्ध को 'संहितासम्बन्ध' कहते हैं। ऋग्वेद का और यजुर्वेदादि का क्या सम्बन्ध है–यदि कोई पूछे तो इनका 'उद्ढसम्बन्ध' ही बतलाना चाहिए। इस प्रकार मण्डल से मण्डल का, अध्याय से अध्याय का, सूक्त से सूक्त का, ऋचा से ऋचा का–इत्यादिकों का यदि कोई सम्बन्ध है तो वह **'उद्ढसम्बन्ध'** ही है। बस, इसी सम्बन्ध के कारण इनका नाम ऋग्वेद संहिता-यजुर्वेद-संहिता इत्यादि संहितापरक रखा है। अब यहाँ से इन्हीं सम्बन्धों को बतलाते हैं–कहीं पर भूत भूत पर प्रतिष्ठित है–कहीं प्राण से भूत पकड़ा हुआ है और कहीं प्राण प्राण से बद्ध है। बस, संसार में जो ये तीन सम्बन्ध हैं–उन्हीं को **'उद्ढसम्बन्ध'** कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है —

"भूतप्रतिष्ठं क्वचिदस्ति भूतं प्राणेन वा स्याद्विधृतं च भूतम्।
प्राणः क्वचित् प्राणधृतोऽथ वा स्यात् त्रेधा तदित्थं प्रभवत्युदूढम्"॥१॥

यदि प्राण प्राण की परस्पर विधृति हो जाय तो ऐसी हालत में वह वस्तु एक ही वस्तु बन जाती है। बस, यह जो उद्ढसम्बन्ध है, वह सबसे बलिष्ठ सम्बन्ध कहलाता है। इसी प्रकार प्राण की पकड़ यदि भूत में हो जाए तो यह सम्बन्ध मध्यम श्रेणि का होता है। इसी प्रकार जो भूत भूत का परस्पर सम्बन्ध है–यह सर्वथा निकृष्ट दर्जे का होता है। किसी पुस्तक पर यदि एक दूसरी पुस्तक रख दें तो यह भूत भूत का सम्बन्ध कहलाएगा। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अन्योन्यतश्चेद्विधृतिस्तदेकं प्राणद्वयोदूढमिदं बलिष्ठम्।
प्राणस्य भूते विधृतिस्तु मध्यं भूतद्वयोदूढमिदं निकृष्टम्"॥२॥

जो कि एक बालू मिट्टी का ढेर है–उसमें जो उस पूर्व ढेले पर पार्थिव-प्राण से पकड़े हुए जो अन्य मिट्टी की राशि पड़ी हुई है–अर्थात् तो एक ढेरी पर एक एवं उस पर फिर ढेरी–इत्यादि। वह ऊपर पड़ी हुई मिट्टी की राशि–अधस्थ ढेर पर प्रतिष्ठित रहती हुई भी परस्पर बेलाग है–अर्थात्–जितना ही पार्थिव प्राण का सम्बन्ध नीचे की ढेरी से है–उतना ही उस ऊपर की ढेरी से है, परन्तु इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। बस, यह जो पार्थिवप्राण और भूतप्राण का सम्बन्ध है, वह प्राण और भूत का सम्बन्ध कहलाएगा। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यच्छर्कराचूर्णचयोस्ति तस्मिन् चूर्णानि भूप्राणविधारितानि।
अधःस्थचूर्णे तु तदूर्ध्वचूर्णं प्रतिष्ठितं नो विधृतं मिथस्तत्"॥३॥

इसी प्रकार जो एक ढेले में परमाणु हैं–उन परमाणुओं का और अणुओं से जो परस्पर सम्बन्ध होने से ढेले में बलिष्ठता आ गई है–वह प्राणों के परस्पर 'उद्ढ' (मिल जाने से) हो जाने के कारण समझनी चाहिए। अर्थात्–अणुप्राण और परमाणु-प्राण के मिलने से एक बलिष्ठ वस्तु का निर्माण हो गया अथवा इस पिण्ड में परमाणु और अणु–दोनों ही आसक्ति सम्बन्ध से युक्त हो रहे हैं–ऐसा समझना

चाहिए । उभयथापि–यहाँ प्राण प्राण का सम्बन्ध सिद्ध होता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ये चैकलोष्टे परमाणवः स्युस्तेषामणूनां हि परस्परेण ।
प्राणाः उदूढा अथवैक्यमासक्त्याप्ता इहैते सयुजोऽणवः स्युः" ॥४॥

जिस प्रकार–तेल और पानी के मेल होने पर भी–तेल और पानी परस्पर अमिलित ही भासित होते हैं एवं जिस प्रकार प्राज्ञप्राण–वैश्वानरप्राण और तैजसप्राण–इस प्राणत्रय से प्रज्ञानात्मा का योग–होने पर भी वह इन तीनों से पृथक् है–तद्वत्–इस लोष्ट में यह परमाणु उदूढ सम्बन्ध से सयुक् होने पर भी एक से एक मिलने नहीं पाता अर्थात्–सभी परमाणु स्वतन्त्र हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथा हि तैलं च जलं च योगेप्यमिश्रमन्योन्यगतं विभाति ।
प्राणास्त्रयः प्रज्ञगताश्च तद्वत् तिष्ठन्त्युदूढाः सयुजोऽप्यमिश्राः" ॥५॥

इसी प्रकार यजुः का अग्नि समुद्र, ऋक् का महोक्थ समुद्र और साम का महाव्रत समुद्र–ये तीनों ही वाक् समुद्र उदूढ सम्बन्ध से साथ रहते हैं अर्थात्–इनका परस्पर उदूढ ही सम्बन्ध है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"त्रयः समुद्रा यजुषामिहाग्निर्ऋचां महोक्थं च महाव्रतं तु ।
साम्नां त एते त्रिविधाः समुद्रा उदूढवृत्त्यैव सहस्थिताः स्युः" ॥६॥

इस प्रकार उस एक एक समुद्र में जो सहस्रशः महोक्थ हैं एवं महाव्रत हैं एवं अग्नि हैं–उन सब की जो परस्पर स्थिति है–वह उदूढसम्बन्ध-युक्त ही समझनी चाहिए । इसी सम्बन्ध को विवहन (विवाह) सम्बन्ध भी कहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एवं तदेकैकसमुद्रमध्ये महान्ति चोक्थानि महाव्रतानि ।
(अग्नींश्च तानाहुरुदूढवृत्त्या सह)[1] स्थितान्यत्र परस्परेण" ॥७॥

—❀—

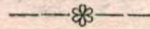
२४–कोशाधानम् ।

कोशाधान (वसुधान कोश) (डब्बी)

१ 'येचाग्नयः साकमुदूढवृत्त्या तानि' इति पाठभेदः शुद्धिपत्रादुद्धृतः ।

ऋग्वेद में एक वसुधान कोश माना गया है-जिसमें कि यह सारा जगत् बन्द है। बस, उस वसुधान कोश के नीचे के एवं ऊपर के स्तर का जो सम्बन्ध है-वह भी 'उदूढ' नाम का ही सम्बन्ध है-उसे ही बतलाते हैं-यह पृथिवी-इस कोश का पिंजरा है और यह द्यौ इसका ढक्कन है-और अन्तरिक्ष उदरस्थानीय है अर्थात्-वस्तु रखने के लिए पोल है और इसके चौतरफ जो दिशाएँ हैं वे इसकी किनार-स्थानीय हैं। इस प्रकार का यह वसुधान कोश है जिसमें कि सारा विश्व स्थित है। बस, उपरोक्त पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ एवं दिशाओं का जो परस्पर सम्बन्ध है-वह 'उदूढ सम्बन्ध' कहलाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथान्तरिक्षोदर एष पृथ्वी बुध्नोस्ति कोशो वसुधानकोशः।
द्यौरुत्तरं तस्य बिलं दिशस्तास्तत्स्त्रक्तयो विश्वमिदं हि तत्स्थम्" ॥८॥



२५-आरण्यकीयसंहिताभेदास्त्रिखण्डाः।

आरण्यकीय संहिताभेद-तीन विभाग से—

उपरोक्त द्यावापृथिवी का जो 'उदूढ सम्बन्ध' बतलाया है, उसको (उदूढ-सम्बन्ध को) यहाँ पर ऐतरेय महर्षि संहिता नाम से पुकारते हैं। और इस संहिता के वे तीन अङ्ग मानते हैं संहिता-पूर्वरूप और उत्तर रूप। इसी को स्पष्ट करते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"उदूढसम्बन्ध इहोच्यते यस्तां संहितामाहुरिहैतरेयाः।
अङ्गानि च त्रीणि वदन्ति तस्याः ससंहिते ह्युत्तरपूर्वरूपे" ॥९॥

इस द्यावापृथिवी में पूर्वरूप पृथिवी है और उत्तररूप द्यौ है और वायु संहिता है। यह मत शूरवीर नामक महर्षि का है। परन्तु माक्षव्य नाम के महर्षि वायु के स्थान में आकाश को संहिता मानते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्यात् पूर्वरूपं पृथिवी तथा द्यौः स्यादुत्तरं रूपमथैष वायुः।
स्यात् संहितेत्याह तु शूरवीरो माक्षव्य आकाशमवैन्न वायुम्" ॥१०॥

इस प्रकार उपरोक्त मतद्वैविध्य का निर्णय अगस्त्यनाम के महर्षि करते हैं कि-उपरोक्त दोनों ही मत समान हैं क्योंकि आकाश भी अन्तरिक्ष में ही है और वायु भी अन्तरिक्ष में ही है। इस प्रकार यह निरुक्ति द्यावापृथिवी की आधिदैविक समझनी चाहिए। इसी तरह अध्यात्म में भी इसी संहिता के क्रम को उदाहरणरूप से बतलाते हैं।। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

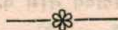
"आगस्त्य[1] इत्याह समानमेतद् द्वयं यदाकाशमथैष वायुः ।
इत्थं निरुक्तान्यधिदैवतं तान्यध्यात्ममप्येवमुदाहरन्ति" ॥११॥

मनुष्य के शरीर में वाक्-प्राण और मन-ये तीन पदार्थ होते हैं। इनमें से वाक् पूर्वरूप है और मन उत्तररूप है। (यहाँ मन को उत्तररूपत्व दो मनुष्यों के संभाषण में प्राप्त हो सकता है, क्योंकि हम वाक् से बोलते हैं। इसलिए हमारी वाक् पूर्वरूप है और उसको मन ग्रहण करता है, अतः वह उत्तररूप स्थानापन्न है) अथवा मन पूर्व रूप है और वाक् उत्तररूप है-(यह अपने में ही समझना चाहिए) और प्राण संहिता है। यह मत माण्डूकेय ऋषि का एवं शूरवीर ऋषि का है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"वाक् पूर्वरूपं मन उत्तरं स्याद् वागुत्तरं वा मन एव पूर्वम् ।
स्यात् संहिता प्राण इहेति माण्डूकेयः प्रपश्यत्यपि शूरवीरः" ॥१२॥

इस प्रकार इस प्राण-वाक् और मन की जो संहिता बतलाई है, इस संहिता को वेद में प्रष्टिवाहाश्वरथ के तुल्य बतलाई है अर्थात्-इस संहिता का नाम प्रष्टिवाह संहिता है। (जिस रथ में दो घोड़े आगे हों और एक घोड़ा उन उन दो घोड़ों के आगे हो-वह पृष्टिवाह रथ कहलाता है।) अतः यहाँ पर शरीर रथस्थानापन्न है, मन और प्राण-वाक् अथवा प्राण-दो घोड़ों के स्थानापन्न हैं और वाक् अथवा मन एक अश्व के स्थानापन्न है। बस, इसी वाक्-प्राण और मन में सारा विश्व सदा सर्वदा-विचरता (ओतप्रोत) रहता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"या संहिता प्राणमनोवचोभिः सा प्रष्टिवाहाश्वरथेन तुल्या ।
उदूढमत्रैव समस्तमेतद्विश्वं क्वचित् संसरतीव नित्यम्" ॥१३॥



२६—शाकल्यसंहिताभेदाश्चतुःखण्डाः ।

शाकल्यसंहिताभेद-४-खण्डयुक्त-(ऐतरेय संहिता)—

यहाँ पर शाकल्य महर्षि-इस संहिता के चार हिस्से विवेचनपूर्वक बतलाते हैं। वे कहते हैं कि इसमें पूर्वरूप-उत्तररूप-सन्धि-एवं सन्धान ये चार भाग अलग-अलग मालूम होते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

१ स्व० शास्त्री जी ने 'आगस्त्य' की जगह 'अगस्त्य' पाठ किया है।

"अथैष शाकल्यमहर्षिरस्या अङ्गानि चत्वारि विविच्य वक्ति ।
यत्पूर्वरूपोत्तररूपसन्धिसन्धातृभिस्तानि पृथग् विभान्ति" ।।१४।।

पृथिवी पूर्वरूप है-द्यौ उत्तररूप है-वृष्टि सन्धि है और पर्जन्य सन्धाता है । यह क्रम अधिदैवत में है । इसी प्रकार अध्यात्म में भी ये ही चार अङ्ग बतलाते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

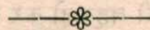
"पृथ्वी तथा द्यौरथ वृष्टिरेवं पर्जन्य इत्थं न्वधिदैवतं तत् ।
अध्यात्ममप्येवमिदं वदन्ति यतोऽस्ति सर्वः पुरुषोऽयमान्दम्" ।।१५।।

इस मनुष्य के अधोभाग एवं ऊर्ध्वभाग-इस तरह से दो विभाग होते हैं । इनमें से नाभि से नीचे का भाग अधोभाग कहलाता है और नाभि से ऊँचे का भाग-ऊर्ध्वभाग कहलाता है । इनमें उत्तर-भाग द्यौ है और अधरभाग पृथिवी है । इसके बीच में जो एक दहराकाश है-वह अन्तरिक्षस्थानापन्न है (अर्थात् सन्धि है) । और जिस प्रकार आधिदैविक में सन्धाता वायु है-तद्वत् यहाँ प्राण सन्धाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तस्याध ऊर्ध्वं विदले भवेतां तत्रोत्तरं द्यौरधरं तु पृथ्वी ।
तदन्तरं खं तु यथान्तरिक्षं प्राणस्त्विहामुत्र यथास्ति वायुः" ।।१६।।

इसी प्रकार जिस तरह आधिदैविक में सूर्य्य-विद्युत् और अग्नि-ये तीन ज्योतिएँ हैं-तद्वत्-इस पुरुष में भी सूर्य्य चक्षुः स्थानापन्न है-हृज्ज्योति-विद्युत्स्थानापन्न है और उपस्थ अग्निस्थानापन्न है । इसी उपस्थ अग्नि से-स्त्री-रूप सोम से संयोग होने से सृष्टिसर्जन होता है । सारांश यह हुआ कि जो कुछ आधिदैविक में है-वह सब अध्यात्म में भी समझना चाहिए, अतएव श्रुति कहती है-**'पूर्णमदः पूर्णमिदम्०'** । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ज्योतींष्यपि त्रीणि यथा ह्यमुष्मिंस्तथैव चास्मिन् पुरुषेपि सन्ति ।
सूर्य्योऽस्ति चक्षुर्हृदयं तु विद्युद्रेतो ह्युपस्थेऽग्निरिवावभाति" ।।१७।।



२७-तारुक्ष्यसंहिता । सामसंहिताख्या ।

तारुक्ष्य संहिता (साम नाम की संहिता)—

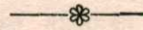
तारुक्ष्य महर्षि का मत है कि इस पृथिवी के रथन्तर का रूप वाक् है और सूर्य्य के बृहत्साम का रूप प्राण है । यद्यपि सारा जगत् ही वाक्प्राणमय है तथापि सूर्य्य में प्राण उल्बण रहता है और

वाक् अनुल्बण रहती है। अतः इस साम का रूप प्राण बतलाया है–'**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः**'। इसी तरह पृथिवी में वाक् उल्बण रहती है और प्राण अनुल्बण रहता है, अतः रथन्तर का रूप 'वाक्' बतलाया गया है। इस प्रकार इस सूर्य और पृथिवी का जो संघाता है–वह यही वाक् प्राण है अर्थात्–यह संहिता वाक्प्राणरूपा है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथाह तारुक्ष्यमहर्षिरित्थं वागस्ति रूपं हि रथन्तरस्य।
प्राणस्तु रूपं बृहतस्तयोः सन्धीयेत रूपेण हि संहितेयम्" ॥१८॥

इस रथन्तर को १–धाता, २–द्युतान, ३–सविता और ४–विष्णु-इन चारों से युक्त कई ऋषि बतलाते हैं अर्थात्–इन्हीं चारों से रथन्तर का स्वरूप बनता है। इसी प्रकार कई धाता-द्युतान-सविता-विष्णु और अग्नि–इन पाँच से बृहत्साम को युक्त बतलाते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोः रथन्तरं कश्चिदुदाजहार।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोरग्नेश्च कश्चिद् बृहदाचकार" ॥१९॥



२८–कौण्ठरव्यसंहिता। अवरोत्तराख्या।

कौण्ठरव्यसंहिता—

कौण्ठरव्य नाम के महर्षि एक अवरोत्तरा नाम की संहिता मानते हैं। (अवर-प्रतियोगिका-उत्तरानुयोगिका संहिता=अवरोत्तरा संहिता) अर्थात्–छोटी वस्तु जहाँ बडी में मिलती जाए–यह जो संहिता है, वह 'अवरोत्तरा' नाम से कही जाती है। जिस प्रकार-जिस समय हम कुछ बोलते हैं, वह वाक्-अखिल विश्व में व्यापक प्राण में चली जाती है, फिर यह प्राण पवमान में, पवमान विश्वेदेवों में और विश्वेदेव द्युलोक में और यह द्युलोक ब्रह्म में लीन हो जाता है, इस प्रकार वही हमारी वाक् क्रमशः अवरोत्तर सम्बन्ध से ब्रह्म में लीन हो जाती है। इस प्रकार यह जो वागादि का सम्बन्ध है–वह 'उद्-ढसम्बन्ध' कहलाता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह सदा मितभाषी बने। क्योंकि जो कुछ हम बोलते हैं–उसी समय वायु में उसी प्रकार की लहर हो कर वह हमारे ऊपर असर करती हैं, अतः हमें सदा शुभ एवं मितभाषण ही करना चाहिए। इस प्रकार जो अपने को पूर्ण आस्तिक मानते हुए भी वस्तुतः नास्तिक ही हैं–वे जो इन स्तोत्रपाठादि पर आक्षेप करते हैं–यह उनकी सरासर भ्रान्ति ही समझनी चाहिए, क्योंकि इन स्तोत्रपाठादि से वैज्ञानिक क्रमानुसार उसी समय तत्तद्देवता का पुद्गल वायु में बन जाता है और वही हमें वरप्रदानादि किया करता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

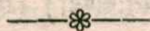
"वाक् प्राणतोऽसौ पवमानतोऽसौ विश्वैश्च देवैरथ ते द्युलोकात् ।
स ब्रह्मणेत्याह तु कौण्ठरव्यो यां संहितां सा ह्यवरोत्तरा स्यात्" ॥२०॥

परन्तु पञ्चालचण्ड महर्षि का मत है कि वस्तुतः इस सारे चर-अचरात्मक जगत् की केवल वाक् ही संहिता है। जो कुछ तुम संसार में देख रहे हो, वह सब वाक् ही है–"**वागेवेदं सर्वम्**"। इस प्रकार विश्व के यावन्मात्र पदार्थों का इसी वाक् द्वारा सन्धान होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पञ्चालचण्डस्तु महर्षिरेषा वाक्संहितेत्याह चराचराणाम् ।
वागेव सर्वं त्विदमस्ति वाचा सन्धीयतेऽन्योन्यमिदं समस्तम्" ॥२१॥

सम्पूर्ण छन्दों का–सम्पूर्ण वेदों का एवं और भी पुराणादि इतर शास्त्रों का इसी वाक् द्वारा सन्धान होता है और इसी वाक् में यह सब प्रपञ्च ओतप्रोत हो रहे हैं। कहाँ तक कहें?–इसी वाक् से सारे मित्रों का–सम्पूर्ण भूतजातों का सन्धान हो रहा है। इस प्रकार पार्थिव प्रपञ्च एवं द्यौ प्रपञ्च–सब इसी वाक् में लीन हो रहा है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"छन्दांसि वेदा इतरे च सन्धीयन्ते हि वाचाऽस्त्यनया तदैक्यम् ।
वाचैव मित्राण्यपि सर्वभूतान्यमूनि वा संदधतीह सर्वे" ॥२२॥



२९–प्रतर्दनसंहिता। द्विखण्डा।

प्रतर्दनसंहिता-द्विखण्डा—

प्रतर्दन नाम के महर्षि यहाँ संहिता दो खण्डयुक्त मानते हैं। वे कहते हैं कि जब मनुष्य कुछ बोलता है, उस समय उसमें प्राणन (श्वास) क्रिया नहीं होती और जब वह प्राणन (श्वास) क्रिया करता है, तब बोल नहीं सकता। इस प्रकार जब वह बोलता है, उस समय इस वाक् में प्राण की आहुति लग जाती है अर्थात्–वह प्राण वाक् के ही अन्तर्हित हो जाता है। और जब वह श्वास लेता है तब वाक् की प्राण में आहुति हो जाती है। इस प्रकार यह स्वाभाविक यज्ञ इस समय प्रत्येक प्राणिमात्र में हुआ करता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रतर्दनः पश्यति यावदेष प्रभाषते प्राणिति नैष तावत् ।
यावत्तु स प्राणिति नैष तावत् प्रभाषतेऽन्योन्यतदाहुतिः स्यात्" ॥२३॥

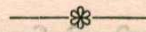
जब कोई विद्यार्थी पढता है अथवा और कुछ बोलता है, उस समय प्राण उस वाक् में एकता को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार जब यह चुप रहता है अथवा सो जाता है, ऐसी हालत में–इस प्राण में

वाक् एकता को प्राप्त हो जाती है, अतः संसार का यावन्मात्र प्रपञ्च इसी वाक्-प्राण की क्रिया से व्याप्त है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यत्र त्वधीतेऽप्यथ भाषते वा प्राणस्तदा वाचि तदैक्यमेति ।
तूष्णीं स आस्तेऽप्यथ यत्र शेते प्राणे तदा वागियमैक्यमेति" ॥२४॥

समुद्र में एक पक्षी बैठा हुआ है । वही पक्षी सारे विश्व की निगरानी कर रहा है । जब हमने उसे विशुद्ध दृष्टि से देखा तो मालूम हुआ कि वह माँ को चाटता था और उसको माँ चाटती थी । यहाँ पर पक्षी से प्राण का मतलब है–अर्थात्–इस जगत्स्वरूप समुद्र में यह पक्षीस्वरूप प्राण बैठा हुआ संसार का सञ्चालन करता है और यह प्राण वाक् (माता) में ओतप्रोत है और यह वाक् प्राण में ओत-प्रोत है । इस प्रकार सारा विश्व इन्हीं दोनों से व्याप्त है–यह प्रतर्दन का मत है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एकः सुपर्णोऽस्ति समुद्रमध्ये स एव विश्वं भुवनं विचष्टे ।
विशुद्धदृष्ट्या तमपश्यमन्ते माता च तं लेढि स मातरं च" ॥२५॥

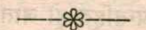


३०–अदितिसंहिता चतुःखण्डा ।

अदितिसंहिता (चतुःखण्डा) (ऐतरेयारण्यक)—

प्रजापति नाम के महर्षि ने अदिति नाम की संहिता को चार (४) अङ्गों में विभक्त करके बतलाया है । जिस प्रकार जाया पूर्वरूप, पति उत्तररूप, प्रजा सन्धि एवं जननक्रिया सन्धान–इस प्रकार सभी वस्तु-निर्म्माणक्रम में ये चार अंग समझने चाहिएँ । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रजापतिश्चादितिसंहिताया अङ्गानि चत्वारि पृथक् विवक्ति ।
जाया हि पूर्वं पतिरुत्तरं स्यात् सन्धानसन्धी जननप्रजे स्तः" ॥२६॥



३१–तित्तिरिसंहिता । चतुःखण्डा ।

तित्तिरिसंहिता (चतुःखण्डा)—

इसी प्रकार तित्तिरि (कृष्णयजुर्वेदी) महर्षि भी संहिता में चार (४) ही अङ्ग मानते हैं । पूर्व एवं उत्तर रूपात्मक एक युग्म (जोड़ा) एवं सन्धि और सन्धानात्मक–दूसरा युग्म । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अङ्गानि चत्वारि च संहितायामाचक्षते तित्तिरयोऽपि तद्वत् ।
तत्पूर्वरूपोत्तररूपयुग्मं सन्धिश्च सन्धानमिति द्वयं च" ॥२७॥

यहाँ पर जो पूर्वरूप है–उसे वे प्रतियोगी कहते हैं एवं उत्तररूप को अनुयोगी कहते हैं और इन दोनों के बीच में जो स्थित होता है, उसे 'सन्धि' कहते हैं । और इन तीनों को जो एक सूत्र में बद्ध करता है, उसे 'सन्धान' कहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तत्पूर्वरूपं प्रतियोगि यत्स्यादथानुयोग्युत्तररूपमाहुः ।
तदन्तरे तिष्ठति यः स सन्धिः सन्धानमेतत् त्रयबन्धि सूत्रम्" ॥२८॥

पृथिवी पूर्वरूप–द्यौ उत्तररूप–अन्तरिक्ष सन्धि एवं वायु सन्धाता–यह क्रम आधिदैविक में समझना चाहिए । इसी प्रकार अग्नि पूर्वरूप–आदित्य उत्तर रूप–विद्युत् सन्धि एवं आपः-सन्धाता–यह क्रम अधि-ज्योति में समझना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पृथ्वी तथा द्यौरिदमन्तरिक्षं वायुस्तथेति ध्रियतेऽधिलोकम् ।
अग्निस्तथादित्य इमास्तथापोऽधिज्यौतिषं वैद्युत इत्यवेहि" ॥२९॥

एवमेव–आचार्य पूर्वरूप, शिष्य उत्तररूप, विद्या-सन्धि एवं पाठनक्रिया सन्धान इत्यादि क्रम अधिविद्य का समझना चाहिए । इसी तरह–माता पूर्वरूप, पिता–उत्तररूप, प्रजा–सन्धि और जनन-क्रिया–सन्धान यह क्रम अधिप्रजा में समझना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"आचार्यको माणवकश्च विद्याऽथाध्यापनं चेत्यधिविद्यमूह्यम् ।
अधिप्रजं तानि भवन्ति माता पिता प्रजाऽथो जननं क्रमेण" ॥३०॥

इसी प्रकार-अधरा हनु (नीचे के होठ के पास का हिस्सा) पूर्वरूप एवं उत्तरा हनु–उत्तररूप, जिह्वा–सन्धि और वाक् सन्धाता–यह क्रम अध्यात्म में समझना चाहिए । इस प्रकार सर्वत्र ही क्रमशः ये ही चारों अङ्ग समझने चाहिएँ । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अध्यात्ममेतान्यधराहनुर्योत्तराहनुर्यास्त्यथ वाक् च जिह्वा ।
इत्थं नु सर्वत्र चतुष्टयं तत् संभावयन्ति क्रमशो यथार्थम्" ॥३१॥

—※—

३२–बाध्वसंहिता-एकायनसंहिताख्या ।

बाध्वसंहिता एकायनसंहिताख्या—

बाध्व महर्षि के मतानुसार संहिता १–शरीरपुरुष (जीवात्मा), २–महान् पुरुष (सूर्य्यसम्बन्धि-विज्ञानात्मा), ३–वैदिक पुरुष (शब्द का विज्ञान) और ४-छान्दसपुरुष (शब्द) इन चारों पुरुषों युक्त मानते हैं–अर्थात् वे संहिता चतुःपुरुषात्मिका मानते हैं। और उनका सिद्धान्त है–ये चारों ही पुरुष हमारे (मनुष्य) के शरीर में रहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"शारीरकश्छान्दस एष वैदिको महानपीत्थं पुरुषाश्चतुर्विधाः ।
अस्मिन् शरीरे निवसन्ति संहितां तत्रैष बाध्वोऽनुविधं समीक्षते" ।।३२।।

इन चारों पुरुषों की क्या पहचान है ?–यह क्रम से बतलाते हैं। एक शरीर में रहने वाला पार्थिव सम्बन्धि जो अशरीर आत्मा है–उसी को प्रज्ञानात्मा एवं प्रज्ञ भी कहते हैं। यह शरीर में एक ही है और रस-स्वरूप है–अर्थात्–जितना हमें ज्ञान होता है–बस, यह ज्ञानादि जिसे होते हैं–वही रस-स्वरूप प्रज्ञानात्मा नाम का–शारीरक पुरुष हमारे शरीर में–**'आलोमभ्यः-आनखाग्रेभ्यः'**–तक व्याप्त है और इसकी उपनिषत् यही रस है। इसी प्रकार जो हम बोलते हैं–इस वाङ्मय प्रपञ्च में–अधिष्ठित जो एक रस है–अकार ही है और वह अकार रस-स्वरूप है। अर्थात्–इसी रसात्मक अकार (छन्द) पुरुष से–सारे संसार के–वाक् प्रपञ्च का विस्तार होता है। जैसा कि श्रुति कहती है–**'अकारो वै सर्वा वाक् स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना सा बह्वी नानारूपा भवति'**। इस प्रकार यह छन्दःपुरुष भी हमारे शरीर में स्थित है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी कहते हैं—

"शारीरको यास्त्यशरीर आत्मा स प्रज्ञ एकोस्ति रसः शरीरे ।
अकार एवास्ति रसः स आत्माऽभिप्रेयते छन्दसि वाङ्मयेऽपि" ।।३३।।

और जिस पुरुष से इस संसार में हम वेद्य पदार्थों को (ऋग्-यजुः-साम) को जानते हैं–वही 'वेदपुरुष' कहलाता है अर्थात्–शब्द का विज्ञान जिससे हो–उसे 'वेदपुरुष' कहते हैं और खाली शब्द को 'छान्दसपुरुष' कहते हैं। इस प्रकार इस पुरुष का ब्रह्मा ही रस है–यह ब्रह्मा वेदमय है और यही ब्रह्मा इसका आत्मा है। अर्थात्–जितना हमें पदार्थ-ज्ञान संसार में होता है, वह इसी वेद-पुरुष की बदौलत होता है। चौथा महान्-पुरुष कहलाता है। इस महापुरुष को संवत्सर-पुरुष भी कहते हैं। इसका रस एवं आत्मा–यही आदित्य भगवान् है–यही पुराने महर्षियों का मत है। अर्थात्–इसी संवत्सर के तेज से हमारे शरीर का निर्म्माण होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"येनैष वेदानिह वेद तस्य ब्रह्मा रसो वेदमये स आत्मा ।
संवत्सरोऽन्यः पुरुषो महानादित्यो रसस्तस्य मतः पुराणैः" ।।३४।।

यही महान्-पुरुष पहले की वस्तुओं को नष्ट करता जाता है और नये-नये पदार्थ बनाता जाता है। यही-वह संवत्सर नामक हमारे शरीर में घुस कर महापुरुष-नाम का आत्मा (विज्ञानात्मा) कहलाने लगता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"भूतानि पूर्वाणि विनाशयत्यैक्याभावयत्येष नवानि तानि ।
स एष संवत्सर एव देहे स्थितो महापूरुष उक्त आत्मा" ।।३५।।

शरीर में जो अशरीर प्रज्ञानात्मा बतलाया है, वह और जो आदित्य महानात्मा (विज्ञानात्मा) बतलाया है-वह एक चीज समझनी चाहिए। **'योऽसौ सोऽहम्-योऽहम्-सोऽसौ'-इत्यादिश्रुतेः**। बस, यही सूर्य्य सम्पूर्ण जड़ एवं चेतन का निर्म्माण करने वाला बतलाया गया है। **'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'**-इति। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रज्ञात्मको वर्ष्मणि योऽशरीरो यश्चैष आदित्य इहैकमेतत् ।
ततो निरुक्तोऽखिलजङ्गमानां स स्थावराणामपि सूर्य्य आत्मा" ।।३६।।

इस सूर्य्य को वेद में-ऋग्-यजुः-साम का घन बतलाया गया है-जैसा कि श्रुति कहती है-**'त्रयी वा एष तपति'-इति**।

अतएव सामवेदी-इस सूर्य्य को महाव्रत में प्रत्यक्ष करते हैं अर्थात् साम को 'महाव्रत' कहते हैं अतः उसी का प्रत्यक्ष (पहचान) ये लोग इसी महाव्रत में करते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेदी-महोक्थ में एवं यजुर्वेदी अग्नि में इसका प्रत्यक्ष करते हैं। इतना ही नहीं-अपि तु, इसी सूर्य्य की पृथिवी में-स्वर्ग में-अन्तरिक्ष में-वायु में-किं बहुना सर्वत्र उसी की महिमा का अवलोकन करते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है -

"छन्दोगसंघा हि महाव्रते तं विदुर्महोक्थेऽपि च बह्वृचास्तम् ।
अध्वर्यवोऽग्नौ च तमेव पृथ्व्यां दिव्यन्तरिक्षे च तमेव वायौ" ।।३७।।

और भी महर्षिगण उसी को पानी में, उसी को औषधियों में एवं उसी को वनस्पतियों में एवं उसी को चन्द्रमा में देखते हैं। अर्थात्-चन्द्रमा का प्रकाश इसी सूर्य्य का प्रकाश है। इस प्रकार सर्वभूतों में यही सूर्य्य आत्मा-संवत्सर रूप धारण करता हुआ व्याप्त रहता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तमप्सु पश्यन्ति तमोषधीषु वनस्पतिष्वाकलयन्ति चन्द्रे ।
सर्वेषु भूतेषु स एष आत्मा विभाति संवत्सरसंमितः सन्" ।।३८।।

और यही सूर्य्य पुरुष चक्षुर्मय-श्रोत्रमय-मनोमय-छन्दोमय एवं वाङ्मय कहा जाता है। इस प्रकार इस प्रज्ञानात्मक शारीरकपुरुष में दूसरे तीन पुरुष भी मिलित रूप से रहते हैं। इस प्रकार यह संहिता बाभ्व के मत से–'**चतुःपुरुषसंहिता**' कहलाती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"चक्षुर्मयः श्रोत्रमयो मनोमयश्छन्दोमयो वाङ्मय एष दृश्यते।
तत्पूरुषे चापरपूरुषास्त्रयः प्रज्ञाभिधे ते निवसन्ति संहिताः" ॥३९॥

—※—

३३–अध्याहिताध्यारूढवृत्तित्वे (दहरोत्तरत्वम्।)

अध्याहिताध्यारूढवृत्तित्व (दहरोत्तरत्व)—

जहाँ पर परस्पर दो वस्तुओं के अन्वित होने से जो एक प्रकार का सम्बन्ध होता है–उसे 'दहरोत्तरसम्बन्ध' कहते हैं। इस सम्बन्ध में जितना दहर का भाग है, वह अन्तःप्रविष्ट रहता है और उत्तर का जो भाग है–वह उस अन्तःप्रविष्ट दहर पर गालिब रहता है। बस–यह स्थिति जहाँ हो–उसे '**दहरोत्तरसम्बन्ध**' कहना चाहिए। अर्थात्–जहाँ एक वस्तु एक के पेट में है, ऐसी स्थिति में जो इन छोटी-बडी–वस्तुओं का सम्बन्ध है–वह 'दहरोत्तरसम्बन्ध' कहलाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यत्र द्वयोरन्वितयोर्भवेतामन्योन्ययोगाद्दहरोत्तरत्वे।
अध्याहितः स्याद्दहरस्तथाध्यारूढो भवेदुत्तर एष तत्र" ॥१॥

इसी सम्बन्ध को दृष्टान्तों द्वारा बतलाते हैं। एक गाँव में अनेक महल बने हुए हैं एवं उस प्रत्येक महल में अनेक शालाएँ बनी हुई हैं एवं शालाओं के अन्दर अनेक कमरे बने हुए हैं। इस प्रकार इस दहरोत्तरसम्बन्ध में यही क्रम रहा करता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रासादका आवसथे भवेयुः प्रासादगर्भे स्युरनेकशालाः।
शालेयगर्भे च भवन्त्यगारा एवं भवेतां दहरोत्तरत्वे" ॥२॥

जिस समय सूर्य्य एवं चन्द्रमा जिस रेखा से (एक बिन्दु से) गति प्रारम्भ करते हैं, ठीक उसी बिन्दु पर फिर–इन दोनों का योग ६ठे वर्ष में हुआ करता है। इस प्रकार इन ५ वर्षों का एक 'सौरयुग' कहलाता है। इस तरह एक युग में ५ संवत्सर एवं एक संवत्सर में १२ महिने एवं एक (१) महिने में ३० दिन कहे गये हैं। इस प्रकार 'दहरोत्तरसम्बन्ध' इसी प्रकार का हुआ करता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"संवत्सराः पञ्च युगे निविष्टाः संवत्सरे द्वादश सन्ति मासाः।
त्रिंशद्दिनानि प्रतिमासमुक्तान्येवं भवेतां दहरोत्तरत्वे" ॥३॥

एक संवत्सर में उत्तरायण एवं दक्षिणायन–दो अयन प्रविष्ट हैं। उनमें भी प्रत्येक मास में एक शुक्लपक्ष है एवं एक कृष्णपक्ष है। फिर उस पक्ष में भी रात और दिन प्रविष्ट हैं एवं उस रात एवं दिन में भी २४ घण्टे प्रविष्ट हैं। बस, इसी प्रकार का जो इनका सम्बन्ध है–वह 'दहरोत्तरसम्बन्ध' कहलाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"संवत्सरे द्वे अयने निविष्टे तत्रापि पूर्वापरपक्षसंस्थाः।
तत्राप्यहोरात्रमहोमुहूर्ता एवं भवेतां दहरोत्तरत्वे" ॥४॥

प्राचीन समय में समयविभाग एवं नक्षत्रराशि आदि की गणना बृहस्पति के सम्बन्ध से होती थी। चूँकि नक्षत्र को तारा भी कहते हैं, अतः इसके साथ बृहस्पति के सम्बन्ध होने से तारा को बृहस्पति की निदानविद्या द्वारा 'स्त्री' बतलाने लग गए। इस प्रकार इस सूर्य्य और सूर्य्य के योग से जिस प्रकार समय विभाग था तद्वत् ही आज तो सूर्य्य इन्दु के सम्बन्ध से समझना चाहिए। अर्थात्–जब ताराओं की गतिविधि चन्द्रमा से जाने-जाने लगी, तब लोग निदानविद्या से चन्द्रमा एवं तारा (गुरुपत्नी) का सम्बन्ध बतलाने लग गए। बस, उपर्युक्त जो सम्बन्ध है–उसे ही 'दहरोत्तरसम्बन्ध' कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"बृहस्पतौ सूर्य्यसमन्वयेन यथैव कालावयवाः स्युरेवम्।
सूर्य्येन्दुयोगात् स्युरिमे च पूर्व्येष्वेवं भवेतां दहरोत्तरत्वे" ॥५॥

आकाश में नक्षत्रों की मेषादि बारह (१२) राशिएँ मानी गई हैं। इस प्रकार सबकी (नक्षत्रों की) ये बारह राशियाँ होती हैं। परन्तु इसी प्रकार प्रत्येक ग्रह में फिर बारह (१२) राशियाँ होती हैं। फिर उसमें भी प्रत्येक में बारह (१२) राशियाँ होती हैं। इसी को ज्योतिष में दशा–प्रत्यन्तरदशा-सूक्ष्मान्तरदशा-प्राणदशा–इत्यादि शब्द से व्यवहार करते हैं। उपरोक्त राशिभाग–अन्ततोगत्वा प्राण पर विश्राम करता है अर्थात्–जितनी देर में हम एक श्वास लेते हैं, उतनी देर में सब राशियों का भोग हो जाता है। बस, यह जो इनका परस्पर सम्बन्ध है–उसे 'दहरोत्तरसम्बन्ध' कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"खे राशयो द्वादश सन्ति भानां प्रत्येकतो द्वादश राशयः स्युः।
तत्रापि च द्वादशराशयः स्युरेवं भवेतां दहरोत्तरत्वे" ॥६॥

जिस प्रकार विंशोत्तरी दशा में आदित्यादिग्रहों का दायविभाग विभक्त है-अर्थात् १२० वर्ष में ९ ग्रहों के-किसी के ६, किसी के १० इत्यादि भोगकाल बँटे हुए हैं-तद्वत् ही प्रत्येक दाय में भी इन सब का भोग होता है अर्थात् खाली आदित्य की दशा में भी सब का भोग हो जाता है। बस, इसे ही 'दहरोत्तरसम्बन्ध' कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथाविभक्तग्रहदायपूर्णं समाः शतं विंशमिहान्तरेऽपि ।
एकैकदायो ग्रहदायपूर्णोऽस्त्येवं भवेतां दहरोत्तरत्वे" ॥७॥

—※—

३४-दहरोत्तरत्वे दुःषमादिचतुर्विभागाः ।

दुःषमादिविभाग से दहरोत्तर सम्बन्ध बतलाना—

इस विश्व में जहाँ पर 'महान्' की परिसमाप्ति है अर्थात्-इससे बडा यह-इससे भी बडा यह-इस प्रकार जो सबसे बडा है, जिससे कि बडा कोई नहीं है-उस महान् में भीतर-भीतर जो दहरोत्तरभाव है अर्थात्-इससे छोटा यह, फिर इससे छोटा यह, जो क्रमशः 'दहरोत्तरभाव' है-वह दुःषम-सुषम-विषम एवं सम भेद से चार प्रकार का समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अत्रोत्तरस्मिन् परमे तदन्तस्तदन्तरेऽन्यं दहरं प्रतीयात् ।
तद्दुःषमं वा सुषमं समं वा वैषम्यतो वा प्रथते चतुर्धा" ॥८॥

जिस दहरोत्तरभाव में उस अध्यारूढ वस्तु के अन्दर एक अथवा अनेक पदार्थ विद्यमान हैं एवं उनमें से भी कोई समरूप से है और कोई विषमरूप से है अर्थात्-यदि उन अन्तःस्थित पदार्थों में कोई व्यवस्था नहीं है तो यह दुःषम 'दहरोत्तरसम्बन्ध' कहलायेगा। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यत्रान्तरन्तः स्थितमेकमेवानेकं समं वा विषमं कथञ्चित् ।
तत्र व्यवस्था यदि नास्ति रूपे तद्दुःषमं स्याद्दहरोत्तरत्वम्" ॥९॥

एक ही वस्तु में जहाँ अनेक विभक्ति संस्था हों और फिर एक-एक संस्था में और संस्थाएँ हों। यह जो संस्थाओं का सम्बन्ध है, वह 'सुषमसम्बन्ध' कहलाएगा। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा ने कहा है—

"एकत्र चानेकविभक्तिसंस्था पुनस्तथान्तः सुषमं तदा स्यात् ।
एकैकतुल्याकृतयोऽन्तरन्तः क्रमात्स्युरेतद्विषमं समं वा" ॥१०॥

अखिल विश्व में एक सत्ता नाम का रस अभिव्याप्त है अर्थात्–अस्ति व्यवहार का कहीं भी अभाव नहीं है, यहाँ तक कि नास्ति में भी अस्ति प्रविष्ट है। परन्तु इस सामान्य सत्ता में जो विशेष-भाव (पुस्तक-घट-पटादि) एवं सूक्ष्मअणु स्थित हैं। इनका जो परस्पर सम्बन्ध है, वह दुःषम 'दहरोत्तरसम्बन्ध' कहलाएगा। क्योंकि एक से एक वस्तु सर्वथा भिन्न है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सामान्यमात्रं तु रसोस्ति सत्ताविशेषमात्राणि पराण्यणूनि ।
तयोः प्रयोगाद्दहरोत्तरत्वं त्वापेक्षिकं दुःषममेव विद्मः" ॥११॥

इस पृथिवी का जो 'रथन्तर साम' है–उस सबको 'वाक्' कहते हैं। फिर इस 'वाक्' के अन्दर 'पृथिवी' है एवं इस पृथिवी के अन्दर अनन्त प्राणियों के शरीर हैं। एवं प्रत्येक शरीर में हृदय (दहराकाश) है। इस प्रकार यह चतुष्पाद् 'गायत्री' कहलाती है। बस, इनका जो परस्पर सम्बन्ध है, वह भी दुःषम सम्बन्ध ही कहलाता है, क्योंकि यहाँ रथन्तर का एवं पृथिवी का सम्बन्ध तो सम (व्यवस्थित) है, परन्तु इस पृथिवी में कितने मनुष्य शरीर हैं–यह सर्वथा अव्यवस्थित है, अतः जहाँ सम एवं विषम सम्बन्ध हो–उसे 'दुःषम' कहते हैं, अतएव प्रकृत में दुःषम सम्बन्ध बतलाया गया है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"वाक् सर्वमेतत्पृथिवी तदन्तस्तदन्तरे प्राणिशरीरमस्ति ।
तदन्तरे यद् हृदयं तु गायत्र्येषा चतुष्पादपि दुःषमं तत्" ॥१२॥

संवत्सर में पहले ऋतुविभाग है, फिर ऋतु में मास विभाग है। मास में पक्ष का विभाग है, पक्ष में दिन-रात का विभाग है। फिर दिन-रात में और जो घण्टों का हिसाब विभक्त है, यह सब सुषमसम्बन्ध समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"संवत्सरे चेदृतवोऽथ मासाः पक्षा अहोरात्रविभक्तयो वा ।
ये चेतरे तत्र कृता मुहूर्तादयो विभागाः सुषमं तु तत्स्यात्" ॥१३॥

सबसे पहले पृथिवी का रथन्तर पृष्ठ है, पश्चात् सूर्य्य का बृहत्साम है। फिर पृथिवी का वैरूप नाम का द्वितीय पृष्ठ है–जो कि रथन्तर नाम से ही बोला जाता है। (यह इस सूर्य्य के बृहत् साम से बडा ऊपर का) समझना चाहिए। फिर इससे भी बडा सूर्य्य का 'वैराज' नाम का पृष्ठ है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है।

रथन्तरं पूर्वमसृज्यताप्यतो बृहद् बृहत् तेन रथन्तरं हि तत् ।
वैरूपमासीद् बृहतो बृहत्, ततो, बृहच्च वैराजमभूद् बृहत्तरम्" ॥१४॥

और इस वैराज से भी बृहत्तर एक और पृथिवी का ही 'शाक्वर पृष्ठ' है एवं फिर इसके ऊपर सूर्य्य का आखिरी पृष्ठ सबसे बडा 'रैवत' नाम का समझना चाहिए। इस प्रकार तीन बृहत् पृष्ठ एवं तीन ही रथन्तर पृष्ठ–कुल मिला के ये ६ पृष्ठ होते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

वैराजतः शाक्वरमग्रतोऽभवद् बृहत्तमं, तत्र च रैवतं मतम्।
बृहन्ति च त्रीणि रथन्तराणि च त्रीण्येव पृष्ठानि भवन्त्यमूनि षट्"॥१५॥

इस प्रकार रथन्तर से कभी वैरूप अलग नहीं होता एवं वैरूप से कभी 'शाक्वर' अलग नहीं होता एवं शाक्वर से कभी 'बृहत्' अलग नहीं रहता एवं बृहत् से वैराज एवं वैराज से रैवत कभी अलग नहीं होता अर्थात् ये पृष्ठ सदा परस्पर मिले हुए ही रहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रथन्तरात् कर्ह्यपि नावसृज्यते वैरूपमस्मादपि शाक्वरं च तत्।
न चैवमस्माद् बृहतोऽवसृज्यते वैराजमेवं किल रैवतं च तत्" ॥१६॥

इस प्रकार वाक् के जो तीन रथन्तरादि पृष्ठ बतलाए हैं, उनकी नाभि (केन्द्र) एवं प्रतिष्ठा पृथिवी समझनी चाहिए। अर्थात् ये तीनों ही पृष्ठ पृथिवी केन्द्र से बद्ध समझने चाहिएँ। मन के जो तीन बृहत् साम हैं–उनका केन्द्र एवं प्रतिष्ठा–इस सूर्य्य को समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रथन्तराद्यास्त्रिवृतो हि वाचो यासां हि नाभिः पृथिवी प्रतिष्ठा।
मनांसि तु त्रीणि बृहन्मुखानि नाभिप्रतिष्ठा तपनोऽस्ति येषाम्" ॥१७॥

जो कि रैवत पृष्ठ में शाक्वर पृष्ठ है एवं शाक्वर में वैराज है एवं वैराज में वैरूप साम है एवं वैरूप में बृहत् है एवं बृहत् में जो रथन्तर है–ये सभी परस्पर विषमावलम्बि ही समझने चाहिएँ। अर्थात् एक नीचे से मिलता है तो ऊपर बढ जाता है एवं यदि एक ऊपर की रेखा से मिलता है तो नीचे से घट जाता है। इस प्रकार ये व्यवस्थित नहीं हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यद्रैवते शाक्वरमस्ति तस्मिन् वैराजमस्मिंश्च विरूपमस्मिन्।
बृहच्च तस्मिंस्तु रथन्तरं यत् सर्वं तदेतद्विषमावलम्बि" ॥१८॥

परन्तु इनमें से जो रैवतपृष्ठ है–उसके अन्दर जो वैराजपृष्ठ है–वह समरूप से ही समझना चाहिए एवं वैराज के अन्दर जो बृहत् है, उसे भी समसम्बन्धयुक्त समझना चाहिए। अर्थात् सूर्य्य केन्द्र से शुरु कर प्रातिस्विक इन पृष्ठों का सम्बन्ध कायम किया जाए तो वह समसम्बन्ध ही कहलाएगा। इसी प्रकार शाक्वर के अन्तर्निहित जो वैरूप है एवं वैरूप के अन्तर्निहित जो रथन्तर है, उनका भी परस्पर

समसम्बन्ध समझना चाहिए। इस प्रकार प्रातिस्विक रूप से इन पृष्ठों का सम-सम्बन्ध होने पर भी मिलित का दुःषम दहरोत्तरत्व ही समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्याद्रैवतेऽन्तर्निहितं समं यद्वैराजमत्रापि बृहत् समं स्यात्।
स्याच्छाक्वरेऽन्तर्निहितं समं यद्वैरूपमत्रापि रथन्तरं स्यात्" ॥१९॥

इसी प्रकार हमारी आँख में पहले एक सफेद चीज है, फिर उसमें एक काला चक्कर है फिर उसमें एक कनीनिका है फिर उसमें जो एक पतला सा गोल सुराख है, वही हमारी चक्षुरिन्द्रिय है। इस प्रकार का जो इनका परस्पर सम्बन्ध है, उसे सम- दहरोत्तरत्व सम्बन्ध समझना चाहिए। इसी प्रकार कई आदमियों के मत से त्वचा एवं रुधिरादि से प्रारम्भ कर रेत (वीर्य्य) तक जो उत्तरोत्तर सम्बन्ध है, वह सम-सम्बन्ध है। परन्तु यह समसम्बन्ध यथाकथञ्चित् ही समझना चाहिए। क्योंकि प्रकृत में रुधिरादि की मात्रा के कमी-ज्यादा के कारण समत्व ठीक ठीक उपपन्न नहीं हो सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"शुक्लेऽस्ति कृष्णं च कनीनिकास्मिन्नक्ष्णां समं तद्दहरोत्तरत्वम्।
चर्मासृगादिष्वपि केचिदाहू रेतोऽवसानं तु यथा कथंचित्" ॥२०॥

——※——

३५–त्रिपुष्करं ब्रह्मपुरम्।

त्रिपुष्कर ब्रह्मपुर—

संसार के प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में ब्रह्मा रहा करता है। बस, इसी ब्रह्मा के बदौलत उस उस पदार्थ की स्थिति कायम रहती है–जैसा कि श्रुति कहती है–**'प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते'**–इत्यादि। यही भगवान् ब्रह्मा अपना स्थान तीन पुष्करयुक्त कायम करते हैं अर्थात् प्रत्येक प्राणिशरीर में किंवा जड़ पदार्थ में यह ब्रह्मा अपने तीन विभाग कायम करते हैं। इस ब्रह्मा का तीसरा विभाग ३३ पर जाके समाप्त होता है, अतएव इसी ब्रह्मा के ३३ तक अवस्थान होने पर वह वस्तु हमें ३३ (अहर्गण) तक दिखलाई पड़ती है। बस, इसी तीन पुष्करयुक्त ब्रह्मा का हम प्रकृत से दहरोत्तर सम्बन्ध बतलाते हैं—

इस पुरुष (प्राणिशरीर) से बाहर ३३ तक जो एक महाकाश है, वही आकाश (उतना ही) इस शरीर में है। अर्थात् एक शरीराकाश है जो भी उस ३३ के अन्तर्गत होने से तद्रूप ही है एवं फिर इसके हृदय में अन्तर्निहित एक आकाश है जिसका कि दूसरा नाम दहराकाश भी है। इस प्रकार १–महाकाश, २–शरीराकाश, एवं ३–दहराकाश–ये तीन आकाश इस मनुष्य के होते हैं। इन आकाशों का जो परस्पर सम्बन्ध है–वह 'दहरोत्तर' सम्बन्ध समझना चाहिए और ये ही तीन पुष्कर कहलाते हैं–अर्थात् वही उक्थप्रजापति ३३ तक गया है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

यो वै बहिर्धा पुरुषादयं महाकाशः स तावान् पुरुषेऽन्तराहितः ।
आकाश एवं हृदयेऽन्तराहितोऽप्याकाश उक्तो दहराभिधोऽपरः" ॥२१॥

इस प्रकार जिन-जिन पदार्थों से बाहर का पुष्कर पूर्ण है, उन-उन से भीतर का (शरीर का) पुष्कर भी पूर्ण समझना चाहिए एवं उन्हीं पदार्थों से पुण्डरीक नामक दहराकाश भी पूर्ण समझना चाहिए । अर्थात् जो पदार्थ (वागादि) शरीर में हैं, उन्हीं का तो ३३ तक मण्डल बनता है अतः जो परमाकाश में हैं वे 'दहर' में हैं एवं जो 'दहर' में हैं, वे 'परमाकाश' में हैं । इस प्रकार इन तीनों पुष्करों को 'ब्रह्मपुर' कहा करते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यैर्यैर्बहिः पुष्करमस्ति पूर्णं पूर्णं हि तैः पुष्करमान्तरं तत् ।
तैः पुण्डरीकं दहरं च पूर्णं त्रिपुष्करं ब्रह्मपुरं निराहुः" ॥२२॥

जिस प्रकार वाक्-प्राण-चक्षु एवं श्रोत्र को लेकर प्रवृत्त होता हुआ मन 'चतुष्पात्' कहलाता है तद्वत् अग्नि-वायु-आदित्य एवं दिशाओं को लेता हुआ यह आकाश भी 'चतुष्पात्' कहलाता है अर्थात् ये ही चारों अग्न्यादि हमारे शरीर में वाक्-प्राणादि कहलाने लगते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"वाक्प्राणचक्षुःश्रुतितो मनस्तत् प्रवर्तते यद्वदिदं चतुष्पात् ।
तथाग्निवायूष्णगुदिग्भिरूर्ध्वोऽप्याकाश एष प्रथते चतुष्पात्" ॥२३॥

इस शरीर में जो हमने प्रज्ञ मन (अनिन्द्रिय मन) बतलाया है, वह इस त्रिपुष्कर ब्रह्म के अन्तर्निहित रहता है । इस प्रकार यह मन लोकी है और वागादि इसके लोक हैं । परन्तु लोकी लोक से भिन्न नहीं है, अतः इस वागादिको भी अभेदेन मन कहने लग गए हैं । अर्थात् अभेदेन इदं, मनः-अयं आकाशः-ऐसा भी व्यवहार इष्ट ही है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रज्ञं मनो ब्रह्मपदे यदुक्तं त्रिपुष्करेऽन्तर्निहितं तदस्ति ।
लोकी न लोकादिह भिद्यते यन्मनोयमाकाश इतीष्यते तत्" ॥२४॥

इस प्रकार जिसको हमने मन आकाश कहा है, उसमें वागादि-वागादि सभी प्राण प्रविष्ट समझने चाहिएँ । इस प्रकार वागादि सब प्राणविशिष्ट एक जो आकाश है-वह उस विज्ञानमय अक्षर में लीन समझना चाहिए । इस प्रकार इस आकाश एवं अक्षरादि का जो सम्बन्ध है-उसे 'दहरोत्तर सम्बन्ध' समझना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"मनः स आकाश इहेष्यते यः प्राणाः समस्ता इह संनिविष्टाः ।
आकाश एषोऽस्ति पुनर्निविष्टः परत्र विज्ञानमयेऽक्षरेऽस्मिन्" ॥२५॥

३६–ओतप्रोतभावसम्बन्धः ।

ओतप्रोतभावसम्बन्ध—

किसी अन्यवस्तु में कोई एक पदार्थ यदि अनुस्यूत हो जाए–अर्थात् उस पदार्थ में वह पदार्थ पू-जाए एवं वह पदार्थ उसके साथ आसक्ति करता हुआ–अपने उक्त कारणस्वरूप उस पदार्थ में अनुबद्ध (पकड़ में) हो जाए तो ऐसी हालत में जो वस्तुजात का सम्बन्ध है–वह ओतप्रोत सम्बन्ध कहलाता है। अर्थात् सामान्यतया वह पदार्थ अपनी योनि (उपादनकारण) में ही विद्यमान रहता है। अर्थात् उपादानकारण एवं कार्य का जो सम्बन्ध है–वह ओतप्रोतभाव ही समझना चाहिए–जैसे मिट्टी और घड़े का। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"भवेदनुस्यूतमिवैकमन्यत्रासक्तिमच्चेत् प्रभवेऽनुबद्धम् ।
स्यात् कार्य्यसामान्यमिदं तदोतप्रोतं हि सामान्यतया स्वयोनौ" ।।२६।।

इसी को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं–संसार के जितने भी पदार्थ हैं–वे पानी में अनुस्यूत हैं, क्योंकि जितने हम भौतिक पदार्थ देख रहे हैं, वे सब इसी पानी के रूप हैं–अर्थात् इसी पानी की आपः-फेनादि आठ व्याहृतियों द्वारा ये पदार्थ बने हुए हैं, अतएव श्रुति कहती है–**सर्वमापोमयं जगत्**–इसी प्रकार यह सारा पानी वायु में अनुस्यूत है क्योंकि यह वायु ही तो पानी बन गया है एवं वायु 'ऋषिप्राण-देवप्राण-पितृ-प्राण-मनुष्यप्राण-गन्धर्वप्राणादि जो प्राण हैं, जिनसे कि सृष्टि पैदा होती है–इनमें जो गन्धर्वप्राण है, उसमें अनुस्यूत है और वह प्राण आकाश में अनुस्यूत है एवं आकाश सूर्य्य में अनुस्यूत है एवं सूर्य्य चन्द्रमा में एवं चन्द्रमा नक्षत्रों में एवं नक्षत्र देवसमूहों में, देवसमूह इन्द्र में, इन्द्र प्रजापति में प्रजापति ब्रह्म में अनुस्यूत हैं। इस प्रकार इनका जो सम्बन्ध है, वह ओतप्रोतभाव सम्बन्ध कहलाता है। यहाँ पर दहरोत्तर की आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि दहरोत्तर में तो बडे के अन्दर छोटा होता है और प्रकृत में तो जो पानी है, वही पदार्थ है एवं जो वायु है–वही पानी है, इस प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सर्वं ह्यनुस्यूतमिवाप्सु वायौ ताः सन्ति गान्धर्वजनेषु तत् खम् ।
आदित्यचन्द्रर्क्षकदैवतेन्द्रप्रजापतिब्रह्म जनेष्वतः स्यात्" ।।२७।।

इस सूर्य्य के परली-पार जो कुछ वस्तु है एवं पृथ्वी से पीछे की तरफ जो वस्तु है एवं इस द्यावा-(ऊर्ध्व) पृथिवी के अन्दर जो वस्तु है एवं जो भूत था एवं भविष्यत् था एवं वर्त्तमान है–अर्थात् त्रिकालाबाध जो एक पदार्थ है–उसे 'प्राण' इस नाम से पुकारा करते हैं। अर्थात् यही प्राण, सृष्टि के पहले था एवं यही आगे रहेगा एवं यही इस समय वर्त्तमान है एवं इसी प्राण से द्यावापृथिवी एवं उनके भी ऊपर नीचे–वही प्राण विद्यमान है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ऊर्ध्वं दिवो यद् यदवाक् पृथिव्याः द्यावापृथिव्यौ च यदन्तराऽस्ति ।
भूतं भविष्यच्च भवच्च सर्वं यदस्ति तं प्राण इति ब्रुवन्ति" ॥२८॥

ऐसे इस प्राण में सारा विश्व ओतप्रोत हो रहा है और यह प्राण इस आकाश में ओतप्रोत है एवं यह आकाश अक्षर में ओतप्रोत है अर्थात् उपरोक्त प्राणविशिष्ट जो आकाश बतलाया है-वह क्षर था एवं क्षर का स्वभाव है कि वह विना अक्षर के रह नहीं सकता । इसी अभिप्राय से कहा है कि इस अक्षर में यह सारा ही ब्रह्माण्ड ओतप्रोत है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तस्मिन् समस्तं जगदेतदोतं प्रोतं स चाकाशगतोऽयमोतः ।
प्रोतः स चाकाश इहाक्षरे स्यात् तस्मिन्ननुस्यूतमिदं समस्तम्" ॥२९॥

— —※— —

३७-ग्रहातिग्रहसम्बन्धः ।

ग्रहातिग्रहसम्बन्ध—

आध्यात्मिक वस्तुओं का (इन्द्रियादि का) आधिभौतिक धर्मों (रूपादि) के साथ जिस कारण से मेल होता है अर्थात् सम्बन्ध होता है-बस, इसी सम्बन्ध को 'ग्रहातिग्रह' सम्बन्ध कहते हैं । यहाँ पर जो अध्यात्म है-उसे ग्रह समझना चाहिए एवं भूतों को अतिग्रह समझना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अध्यात्मिकानामधिभूतधर्मैरासंस्रवो येन निरूपितः स्यात् ।
स हि ग्रहातिग्रहभाव उक्तोऽध्यात्मं ग्रहोभूतमतिग्रहः स्यात्" ॥३०॥

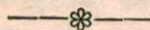
इसी को दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं । हमारे अध्यात्म में स्थित जो ग्रहस्वरूप प्राण है-उसका एवं अपान का जो सम्बन्ध है, वह 'ग्रहातिग्रह सम्बन्ध' है एवं वाक् का नाम के साथ, रूप का चक्षु के साथ, रसना का रस के साथ, श्रोत्र का शब्द के साथ, मन का संकल्प के (इच्छा के) साथ एवं त्वचा का स्पर्श के साथ, भुजा का कार्य के साथ जो परस्पर सम्बन्ध है, वह 'ग्रहातिग्रह सम्बन्ध' कहलाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्राणो ह्यपानेन च वाक् तु नाम्ना रूपेण चक्षू रसना रसेन ।
श्रोत्रं तु शब्देन मनस्तु कामैः स्पर्शेन तु त्वक् किल कर्मणा दोः" ॥३१॥

इनमें जो ग्रह हैं-वे 'अतिग्रह' (भौतिक पदार्थों) से जकड़े हुए हैं, अतः एवं स्वभाव से ही तत्तद्ग्रह तत्तद् अतिग्रहों में संस्रवित होते रहते हैं । अर्थात् रूप-स्वरूप अतिग्रह से पकड़ा हुआ नेत्र सदा

उसी की तरफ मुखातिब होगा, परन्तु श्रोत्र की तरफ वह कभी भी आकृष्ट नहीं होगा, क्योंकि वह इसी रूपस्वरूप अतिग्रह से पकड़ा हुआ है । इस प्रकार प्रत्येक ग्रह इन अतिग्रहों से पकड़े जाने के कारण उसी की तरफ संस्रवित होते हैं । बस, ये ही बातें ग्रहातिग्रह के सम्बन्ध में जरत्कारु के पुत्र आर्तभाग के प्रश्न करने पर भगवान् याज्ञवल्क्य ने पुराने काल में बतलाई थी । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ग्रहो गृहीतस्तदतिग्रहेणेत्यतिग्रहे संस्रवते ग्रहोऽसौ ।
इत्थं जरत्कारुसुतार्तभागप्रश्ने पुरोवाच स याज्ञवल्क्यः" ।।३२।।

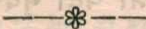


३८–अध्यूढसम्बन्धः ।

अध्यूढसम्बन्ध—

यहाँ पर छन्दोबद्ध जितने पद हैं–बस, सम्पूर्ण गेय (गान) सब उसी में प्रविष्ट है अर्थात्–जितना वाणी का हिस्सा–अनुष्टुबादि–छन्दों द्वारा सीमाबद्ध कर दिया है, उसी में गान भी हो सकता है अर्थात्–केवल गद्यमात्र का गान नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें तालस्वरादि की कोई सीमा नहीं । अतः गेय का सारा महकमा इन्हीं छन्दोबद्ध पदों में प्रविष्ट समझना चाहिए, अतः इसमें समाविष्ट होकर (इसी के आधार पर) गान गाया जाता है, अतएव श्रुति कहती है–'**ऋच्यध्यूढं साम गीयते**' । इस प्रकार यह गेय उस पद्य में अध्यूढ (अधिगृहीत) समझना चाहिए । अर्थात्–यह गान उस पर सवार रहता है । बस, इसी को 'अध्यूढसम्बन्ध' समझना चाहिए । इसी प्रकार घट और मिट्टी का भी 'अध्यूढ-सम्बन्ध' कहला सकता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"छन्दोमितानीह पदानि यानि तेष्वेव गेयानि निवेशितानि ।
प्रगीयतेऽध्यूढमिदं हि पद्ये गेयं तदध्यूढमिदं प्रविद्यात्" ।।३३।।



३९–षड्विकल्पसम्बन्धः ।

षड्विकल्पसम्बन्ध—

इस प्रकार इस रस में बल को स्वरूपसम्बन्ध के वश से एवं वृत्तित्वसम्बन्ध के वश से हर समय बदलने के कारण–नाना प्रकार (सर्वविध) का हमने देखा है । अब इसी रस–बल के जो वैकल्पिक ६ सम्बन्ध और हैं, उनको भी संक्षेपेण बतला देते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्वरूपसम्बन्धवशाच्च नित्यं वृत्तित्वसम्बन्धवशाच्च भूयः ।
रसे बलं सर्वविधं प्रदृष्टं ततो विकल्पान् षडिमानि ह्योचुः" ॥३४॥

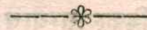
१–ज्ञान में (रस में) कर्म्म का (बल) रहना–एवं २–बल में रस का रहना–अर्थात्–दोनों का परस्पर–आधाराध्येभाव । एवं ३–कर्म्म रस से सर्वथा भिन्न एवं रस कर्म्म से सर्वथा भिन्न । एवं ४–दोनों अलग अलग नहीं, किन्तु एक ही दोनों वस्तुएँ हैं अर्थात्–अद्वैत है । एवं ५–रस बल से भिन्न है परन्तु बल रस से भिन्न नहीं–यह पाँचवाँ सम्बन्ध । एवं ६–केवल रस ही रस है, बल कोई वस्तु ही नहीं । यदि कहीं तुम्हें वस्तु दीखती है–तो वह केवल मिथ्या भ्रान्ति ही है । इस प्रकार–इस रस और बल का ६ प्रकार से 'षड्विकल्प' नाम का सम्बन्ध हुआ करता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कर्म त्वकर्मस्थमकर्म कर्मसद् भिन्नद्वयं तत् तदभिन्नमद्वयम् ।
अकर्म भिद्येत न कर्म भिद्यतेऽध्यासोऽमृते स्यादिति षड् विकल्पनाः" ॥३५॥

इसी को दृष्टान्त द्वारा घटाते हैं—

१–घड़ा–मिट्टी में है (रस में बल) एवं २–मिट्टी घड़े में है (बल में रस) एवं ३–घड़ा सर्वथा दूसरी चीज है एवं मिट्टी सर्वथा भिन्न वस्तु है । ४–अथवा–यह मृत्तिका ही तो घट है अर्थात् घड़ा इससे अलग नहीं हो सकता (अद्वैत) । ५–यह घड़ा यद्यपि मिट्टी से पृथक् है, परन्तु मिट्टी घड़े से कभी भी पृथक् नहीं है । ६–अथवा–यह घड़े का व्यवहार सर्वथा मिथ्या है, सच्ची केवल मृत्तिका ही है–"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं–मृत्तिकेत्येव सत्यम्"[1] । इस प्रकार रसबल के ये ६ सम्बन्ध समझने चाहिएँ । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"घटो मृदि स्यात् मृदियं घटे स्याद् भिन्नौ तु तौ वा मृदियं घटो वा ।
भिन्ना तु मृन्नैष घटस्तु भिन्नो घटो मृदध्यस्त इतीव विद्यात्" ॥३६॥



४०–सर्वविधसंसर्गत्यागान्मोक्षसिद्धिः ।

सभी सम्बन्धों के छोड देने से मोक्ष प्राप्ति—

१ छान्दोग्योप० ६।४ ।

बल में-बलों के एवं रस में बलों के जो सम्बन्धभेद हमने बतलाए हैं-अर्थात्-जितने प्रकार के सम्बन्ध इनमें परस्पर उपपन्न होते हैं-वे कुल वृत्तित्वविध से एवं स्वरूपेण १८ हैं। उन सबको दृष्टान्त-पूर्वक हमने बतला दिए हैं। परन्तु-इन सब को छोडने से (अर्थात्-सम्बन्धविच्युति) होने से ही मोक्ष होती है-ऐसा महर्षियों का मत है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"बले बलानां च रसे बलानां सम्बन्धभेदा य इहोपपन्नाः।
त इत्थमष्टादशधा निरुक्तास्तेषां विमोकादपवर्गमाहुः" ॥३७॥

कहीं तो बल के स्वरूप से रस का ज्ञान होता है अर्थात्-जो कुछ हम देखते हैं-वह बल ही बल है। परन्तु इसके नाश होने से यह इतनी देर ठहर नहीं सकता, अतः इस बल की स्थिति से रस का अनुमान करते हैं एवं रसस्वरूप से बल हमें प्रवाहि मालूम होता है अर्थात्-जो यहाँ पानी बहता था-अब वही हवा में परिणत हो जाता है-अतएव बल प्रवाहि कहलाता है।

इस प्रकार यह रस और बल एक के विना एक कभी भी नहीं रहते अर्थात्-दोनों ही अविनाभूत हैं एवं साथ ही यह रसबल-कभी भी एक से एक अलग भी नहीं रहते अर्थात्-इस रसबल में-यहाँ तक रस है एवं यहाँ तक बल है-यह भेद उपपन्न नहीं होता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"बलस्वरूपेण रसोऽवभासते रसस्वरूपेण बलं प्रवाहि वा।
नान्योन्यमन्योन्यविनाकृतं भवेन्न चान्यतोऽन्यद् भवति क्वचित् पृथक्" ॥३८॥

इस अमृत में यदि मृत्यु संसक्त हो अथवा प्रतिसंसक्त हो अर्थात् चाहे ग्रन्थिबन्धन हो-चाहे खुलना हो (क्योंकि खुलने में भी क्रिया होती है-जैसे मिट्टी से पानी बना, पानी से हवा, बस इसी क्रम को-अनुसंचर एवं प्रतिसर्ग कहते हैं।) चाहे-यह मृत्यु अनुसक्त होता हो-अर्थात्-एक रस में से दूसरे में जाता है। इस प्रकार उपरोक्त तीनों ही सम्बन्धों से सृष्टि होती है। अर्थात्-यह सर्ग ही कहलाता है, मुक्ति नहीं। परन्तु जब इस मृत्यु का (परिच्छेद का) अमृत से-सर्वथा विच्छेद हो जाता है, बस, तभी मोक्ष प्राप्ति होती है। परन्तु जितनी दूर का-परिच्छिन्नमाया का बन्धन टूटा है, मुक्ति उसी स्थान की (खण्ड की) समझनी चाहिए-न कि सारे ही बल की, क्योंकि अवशिष्ट रस-आज भी माया द्वारा वेष्टित ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"संसृज्यते वा प्रतिसृज्यते वाऽनुसृज्यते वाप्यमृते स मृत्युः।
सर्गः स मोक्षस्त्वमृताद्विमोको मृत्योः सखण्डस्य न चाखिलस्य" ॥३९॥

माया से मित किसी रस का उस माया के टूटने से मुक्त होना अवश्यमेव सम्भव हो सकता है, परन्तु किसी एक मायाबन्धन के टूटने से-सभी माया से मित रस की-माया से मुक्ति नहीं हो सकती।

अर्थात्–अवशिष्ट माया परिच्छेदों का नाश एक बन्धन के टूटने से नहीं हो सकता, क्योंकि माया अनन्त हैं। यदि एक ही माया होती तो उपरोक्त कथन सत्य हो सकता था। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"मितस्य कस्यापि रसस्य मायाव्यपायतः संभवतीह मुक्तिः।
न तेन सर्वस्य मितस्य मायामुक्तिः प्रकल्प्या प्रतिभावभेदात्" ॥४०॥

इस प्रकार यह आत्मा (अस्मदादि) कहाँ से आ गया एवं इसमें नाना प्रकार की शक्तियें (सुखादि) कहाँ से प्रादुर्भूत हो गईं एवं कैसे ये नाना प्रकार के सम्बन्ध इस रस में हो जाते हैं एवं यह सृष्टि का क्रम कैसे चल पड़ा? इस प्रकार का जो हम प्रपञ्च देख रहे हैं–हम नहीं कह सकते कि यह क्यों हो गया? अर्थात्–इसकी उत्पत्ति हम नहीं जानते। परन्तु जैसी इसकी स्थिति है–वह हम अवश्य जानते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कुतः स आत्मा कुत एव शक्तिः कुतश्च संसर्गविशेषसिद्धिः।
कुतश्च सृष्टिक्रम इत्थमेतन्न वेद्मि तद् वेद्मि यथा यदस्ति" ॥४१॥

अतएव वेद भगवान् कहते हैं—

"को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव" ॥[1]

॥ इति द्वितीयो ब्रह्मकर्म्मसम्बन्धाधिकारः ॥

१ ऋग्वेद मं० १०।१२६।६।

अथ

पूर्णद्विसत्योपनिषत् त्र्यधिकारा (तृतीयं पर्व)

तत्र

तृतीयो ब्रह्मकर्म्मभ्यां सृष्टिक्रमाधिकारः

पुरुषत्रयावतार-प्रकृतित्रयावतारौ ।

३

संशयतदुच्छेदवादमूलसंस्कृतपाठः—

अथ ब्रह्मकर्म्मभ्यां सृष्टिक्रमाधिकारः ।

पुरुषत्रयावतार-प्रकृतित्रयावतारौ ।

१–पुरुषप्रकृतिसमन्वयात् सृष्टिः ।

यद् ब्रह्म यत्कर्म सह द्वयं तत् पूर्णद्विसत्यं न ततोऽन्यदस्ति ।
ब्रह्मैव कर्मापि समन्वितत्वादनेकधा ते प्रवदन्ति लोकाः ॥१॥

ब्रह्मेदमात्मा पुरुषोस्ति तस्मिन् यत्कर्म सेयं प्रकृतिः प्रकृत्या ।
सृष्टे जडेस्मिन् जडया चिदात्माविष्टः पुरु स्यन् पुरुषः स उक्तः ॥२॥

सृष्टेस्तु यास्ति प्रकृतिः स योनिर्बलं तदुक्तं तदनेकरूपम् ।
यतोऽस्त्यनेकावयवं ततस्तत्पुरं पुरस्थः पुरुषो रसः सः ॥३॥

पुरप्रभेदात् पुरि संनिविष्टः स एष आत्मा पुरुषोऽप्यनेकः ।
समन्वयात् तस्य यथा प्रकृत्या सृष्टिस्तथाऽत्र प्रतिपादयामि ॥४॥

२–पुरुषप्रकृत्योः संबन्धेऽप्यसमन्वये सृष्टयभावः ।

रसे प्रसुप्तं तु रसस्वरूपं बलं तदानीमनिरुक्तमेकम् ।
ब्रह्मैव नातोऽन्यदतो द्वितीयाऽसमन्वयात्तत्र न कोऽपि सर्गः ॥५॥

उद्बुद्धमस्मिन् बलमस्ति यावद्रसेऽस्ति तस्यामितवृत्तिता चेत् ।
सति द्वितीयेऽप्यमितिस्वभावात् समन्वयो नास्ति ततो न सर्गः ॥६॥

न यत्र मात्रानियमस्तयोः स्यात् सम्बन्धसत्त्वेऽपि न तत्र सर्गः ।
असक्तमस्मिन्नमृतं हि मृत्यौ स्वतन्त्रमाभाति तथा स मृत्युः ॥७॥

३–आत्मयोन्योरुत्तरोत्तरमुत्पत्तिक्रमः ।

मितोऽमितेनाथ निरूढमात्रयाऽमृतेन मृत्युः क्रमते यदा क्वचित् ।
तदात्र सम्बन्धविशेष इष्यते संसर्गसंज्ञस्तत एव सृज्यते ॥८॥

छन्दः पदेनेह निरूपयिष्यते मितिश्चतुर्धाऽप्यथ सप्तधाऽथवा ।
अनेकधा छन्द इदं हि दृश्यते यदीहते वस्तु विभिन्नलक्षणम् ॥९॥

मितोऽमितेनाथ निरूढमात्रो निरूढमात्रेण समन्वितश्चेत् ।
अथाशितिश्चेत्परतः परेण तत्रैकमेयादितरस्वरूपम् ॥१०॥
यत्रैतदभ्यादधतीह किञ्चित् सोऽत्ता यदाधीयत एतदाद्यम् ।
यदाद्यमत्तोभयमेकभूतमाख्यायतेऽत्तैव तदा न चाद्यम् ॥११॥
बलं रसान्तर्गमितं रसे चेदाधीयते तत्र बली रसः स्यात् ।
रसो बलान्तर्गमितो बले चेदाधीयते तद्रसवद्बलं स्यात् ॥१२॥
रसस्वरूपेण बलेन चात्मा विधीयते भुक्तमिदं बलं तत् ।
बलस्वरूपेण रसेन योनिर्भवत्यदो भोक्तृबलं रसस्य ॥१३॥
रसप्रदत्वात् स रसो यथात्मा बलं रसाधानतया तु योनिः ।
आत्मांशयोन्यंशसमन्वयेन तथान्य आत्मा च तथान्ययोनिः ॥१४॥
रसेन भुक्ते हि बले बलं तद्रसस्वरूपं यदभूत् स आत्मा ।
बलेन भुक्ते तु रसे रसोऽसौ बलस्वरूपोऽभवदेष योनिः ॥१५॥
स्वरूपसंसर्ग इह त्रिधा स्याद्बन्धश्च योगश्च तथा विभूतिः ।
त्रिभिः स्वरूपानुगतैः प्रसर्गैरात्मा च योनिश्च पृथग्भवेताम् ॥१६॥

४–रसबलसमन्वयाद् रसावतारोऽव्ययपुरुषः ।

तत्रायमात्मा त्रिविधः स्वरूपत्रैविध्यतस्तावदुदेति सर्गात् ।
मनो विभूत्या भवतीह योगात् प्राणोऽथ बन्धादिह जायते वाक् ॥१७॥
प्राणे मनोऽध्यूढमयं च वाचि प्राणस्तदित्थं क्रमशः परस्मिन् ।
पूर्वं तदध्यूढमतो न सर्गः सम्बन्धसत्त्वेऽप्यसमन्वितत्वात् ॥१८॥
कैश्चित्तु तेषां पृथगात्मनां मिथः सम्बन्ध उक्तः समवायसंज्ञकः ।
अन्योन्यतस्ते समवेतरूपिणो विनान्यतोऽन्यस्य न च स्थितिः क्वचित् ॥१९॥
त्रयस्त्विमे ये पुरुषा निरुक्ताः प्राणो मनो वागिति संप्रतीताः ।
अन्योन्यसाहित्यकृतैकमूर्तिः स्यादव्ययः सोऽस्ति रसावतारः ॥२०॥
स वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयो य एक आत्मास्ति सनातनः प्रभुः ।
स उत्तमः सोऽव्ययसंज्ञकः परः प्राणो मनो वागिति तस्य विक्रमाः ॥२१॥

५–बलरससमन्वयाद् बलावतारो महान् योनिः ।

अथाशिते तत्र रसे बलेन रसः स जायेत बलस्वरूपः ।
सत्त्वं विभूत्याथ रजस्तु योगात् तमस्तु बन्धात् त्रिविधः स योनिः ॥२२॥

सत्त्वं रजस्येव रजस्तमस्यध्यूढं तदित्थं क्रमशः परस्मिन् ।
पूर्वं तदध्यूढमतो न सर्गः सम्बन्धसत्त्वेऽप्यसमन्वितत्वात् ॥२३॥
त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि भवन्ति मृत्यौ रसतारतम्यात् ।
अन्योन्यसाहित्यकृतैकमूर्तिर्बलावतारो महदुच्यते सः ॥२४॥

६–अव्ययमहत्समन्वयाद् रसावतारोऽक्षरपुरुषः । महदव्ययसमन्वयाद् बलावतारोऽहंकारः ।

अथाव्यये वाचि रसे महद्बलं स्वरूपसम्बन्धवशेन सृज्यते ।
सर्गो द्विधा स्यादितरेतराशनाद्रसोऽक्षरोऽहंकरणं बलं तथा ॥२५॥
मनो विभूत्या भवतीह योगात् प्राणोऽथ बन्धादिह जायते वाक् ।
अन्योन्यसाहित्यकृतैकमूर्तिः स्यादक्षरः सोऽस्ति रसावतारः ॥२६॥
सत्त्वं विभूत्याथ रजस्तु योगात् तमस्तु बन्धात् स बलावतारः ।
अन्योन्यसाहित्यकृतैकमूर्तिः प्रजायतेऽहं कृतिसंज्ञयासौ ॥२७॥

७–अक्षराहंकाराभ्यां रसावतारःक्षरो बलावतारो विशेषश्च ।

अथाक्षरे वाचि रसेऽप्यहंकृतिः स्वरूपसम्बन्धवशेन सृज्यते ।
सर्गो द्विधा स्यादितरेतराशनाद्रसः क्षरस्तत्र बलं विशेषकाः ॥२८॥
मनो विभूत्या भवतीह योगात् प्राणोऽथ बन्धादिह जायते वाक् ।
अन्योन्यसाहित्यकृतैकमूर्तिः क्षरः स जायेत रसावतारः ॥२९॥
सत्त्वं विभूत्याथ रजस्तु योगात्तमस्तु बन्धात् स बलावतारः ।
अन्योन्यसाहित्यकृतैकमूर्तिर्विशेषसंज्ञो भवतीह मृत्युः ॥३०॥
अथ क्षरे वाचि रसे विशेषकः स्वरूपसम्बन्धवशेन सृज्यते ।
किन्तु क्षराद्वाऽथ विशेषतोऽपि वाऽतिरिच्य रूपं न विजायते ततः ॥३१॥

	ब्रह्म							
	ब्रह्म=रसः पुरुषः				कर्म्म=बलं प्रकृतिः			
	रसो बलसमन्वितः	विभूत्या	योगेन	बन्धेन	बलं रससमन्वितम्	विभूत्या	योगेन	बन्धेन
असंसृष्टत्वाद्	विशुद्धयोः स्वरूप संसर्गे अव्ययः	मनः	प्राणः	वाक्		सत्त्वम्	रजः	तमः
	अव्ययः				महत्			
	अव्ययो महत्समन्वितः	विभूत्या	योगेन	बन्धेन	महदुत्तमसमन्वितम्	विभूत्या	योगेन	बन्धेन
असंसृष्टसंसर्गात्	संसृष्टयोरग्रन्थिकयोः स्वरूपसंसर्गे अक्षरः	मनः	प्राणः	वाक्		सत्त्वम्	रजः	तमः
	अक्षरः				अहंकारः			
	अक्षरोऽहंकारसमन्वितः	विभूत्या	योगेन	बन्धेन	अहंकारोऽक्षरसमन्वितः	विभूत्या	योगेन	बन्धेन
संसृष्टसंसर्गात्	संसृष्टयोः सग्रन्थिकयोः स्वरूपसंसर्गे क्षरः	मनः	प्राणः	वाक्		सत्त्वम्	रजः	तमः
	क्षरः				विशेषः			

८–अव्ययाक्षरक्षराणां पुरुषाणां महदहंकारविशेषाणां प्रकृतीनां चान्योन्यवैधर्म्यम् ।

स्वरूपसंसर्ग इह द्विधायं विशुद्धक्लृप्तोऽप्यथ सृष्टक्लृप्तः ।
संसृष्टक्लृप्तोऽपि पुनर्द्विधा स्यात् सग्रन्थिकाग्रन्थिकभेदक्लृप्तः ॥३२॥
सर्गैस्त्रिभिः शुद्धनिरूपितैस्तैर्भवन्ति वाक्प्राणमनांसि यानि ।
तैरात्मभिर्यः प्रथमः प्रवृत्तः परः स आत्माऽव्यय उत्तमश्च ॥३३॥
सर्गैस्त्रिभिः सृष्टनिरूपितैस्तैर्भवन्ति वाक्प्राणमनांसि यानि ।
अग्रन्थिकैस्तैरपरः प्रवृत्तोऽक्षरः स आत्मा स परावरश्च ॥३४॥
संसृष्टिसंसृष्टनिरूपितैस्तैर्भवन्ति वाक्प्राणमनांसि यानि ।
सग्रन्थिकैस्तैरवरोऽयमात्माऽभवत् तृतीयः क्षर इत्यनित्यः ॥३५॥
एवं स योनिर्महदाख्ययाऽभूत् संशुद्धयोरेव तयोः प्रसर्गात् ।
संसृष्टयोश्चाप्यनयोः प्रसर्गादभूदहंकार इतीह योनिः ॥३६॥
संसृष्टिसंसृष्टसमन्वयाच्चाभवद्विशेषः क्षरयोनिरेषः ।
सग्रन्थिकस्तत्र विशेष एषोऽस्त्यग्रन्थि चाहंकरणं महच्च ॥३७॥

९–कार्य्यब्रह्मणामिन्द्रवाय्वग्नीनां स्वरूपनिर्देशः ।

त्रयोऽप्यमी स्युः पुरुषाः पृथग्विधामनोमयाः प्राणमयाश्च वाङ्मयाः ।
तद्वीर्य्यभूतानि तु यानि कार्य्यवद् ब्रह्माणि तानि त्रिविधानि वच्म्यतः ॥१॥
सग्रन्थिकाग्रन्थिकशुद्धभेदात् त्रिधामनः स्यात् त्रिविधा तथा वाक् ।
प्राणस्त्रिधा स्यात् प्रथमं द्वितीये तेषां द्वितीयं तु पुनस्तृतीये ॥२॥
त्रिभिः कृतस्तैः पुरुषस्त्रिधा सोऽवच्छिद्यते यो मनसा स इन्द्रः ।
प्राणेन वायुः पुरुषोऽथ वाचा सोग्निस्त्रयस्ते त्रिविधाः पुनः स्युः ॥३॥
तेषामबद्धान्यपि चाव्ययानि शुद्धानि वाक्प्राणमनांसि यानि ।
तानि प्रतिष्ठा विधृतिश्च तद्वज्ज्योतिस्तथेति क्रमतः प्रथन्ते ॥४॥
ज्योतिर्मनः स्याद्विधृतिः पुनः स्यात् प्राणः प्रतिष्ठा पुनरत्र वाक् स्यात् ।
चिज्ज्योतिषि स्याद्विधृतौ तु मुत्स्याद्यतः प्रतिष्ठा तत एव सत् स्यात् ॥५॥
ज्योतिः प्रसाराय रसः प्रतिष्ठा त्वाकुञ्चनायास्ति रसोऽखिलेषु ।
भवेद्बले संतननं विधृत्या स्युरक्षराण्यायतनान्यमीषाम् ॥६॥

अथाक्षराण्याहुरिमानि चान्तर्यामी मनः सत्यमिदं तु सा वाक् ।
प्राणस्तु सूत्रात्मतया प्रसिद्धस्त्रिपूरुषोऽन्यः पुरुषस्त्रिभिस्तैः ॥७॥
एतानि सन्त्यायतनानि तेषां क्रमात् परस्थाननिरूपितानाम् ।
ज्योतिर्गृहीतं भवतीदमन्तर्यामिण्यथो सत्यगता प्रतिष्ठा ॥८॥

सूत्रात्मलाभाद्विधृतेर्हि लाभो धर्मैस्त्रिभिस्तैरिह धर्मिणस्ते ।
ताः शक्तयोऽमी खलु शक्तिमन्तो न तैर्विनैषां क्वचिदात्मलाभः ॥९॥

प्रज्ञा मनः प्राण इहास्ति तेजो वाग्भूतमित्थं क्षरतोऽपि विद्यात् ।
क्षरेषु तिष्ठन्ति यदाक्षराणि नानात्वमेतान्युपयन्ति तेन ॥१०॥

परोऽक्षरो वा न विशेषकर्मा तस्मात्सदैकत्वमिमौ लभेते ।
ज्योतिः सरूपं बहुनास्ति नान्तर्यामी सरूपो बहुधा प्रपन्नः ॥११॥

यज्ज्योतिषः क्वापि बहुत्वमन्तर्यामी क्वचिद्वा बहुधोदितः स्यात् ।
तत्रास्य चैकस्य सतोऽप्युपाधिक्षरस्य भेदादिव भेदमाहुः ॥१२॥

क्षरस्तु सर्वोऽस्ति विशेषकर्मा स्वतन्त्र उत्पद्यत एष नाना ।
प्रज्ञाः सरूपाः पृथगुद्भवन्त्यो नश्यन्त्यपूर्वाः पुनरुद्भवन्ति ॥१३॥

प्रज्ञाधिमात्रा अपि भूतमात्राः प्राणाधिमात्रा बह्वो भवन्ति ।
प्रज्ञाश्च भूतानि सहान्वितानि प्राणेषु देवेषु समर्पितानि ॥१४॥

ज्योतिर्मयान्मग्रहणं मनः स्याज्ज्योतिर्मयं ज्योतिरिति त्रिधा तत् ।
प्राणस्त्रिधा स्याद्विधृतिर्विधर्ता विधर्तृभावग्रहणश्च तद्वत् ॥१५॥
प्रतिष्ठितात्मग्रहणः प्रतिष्ठा प्रतिष्ठितात्मेति च वाक् त्रिधा स्यात् ।
सत्ता च तत् सत्यमिति त्रयी वाक् सत्ता प्रतिष्ठेति न भिद्यतेऽर्थः ॥१६॥

कार्य्यब्रह्माणि		मनः	प्राणः	वाक्
परस्थाने अबद्धानि		ज्योतिः	विधृतिः	प्रतिष्ठा
अक्षरस्थाने अग्रन्थिबद्धानि		अन्तर्यामी	सूत्रात्मा	अव्यक्तसत्यम्
क्षरस्थाने सग्रन्थिबद्धानि		प्रज्ञा (प्रज्ञामात्रा)	तेजः (प्राणमात्रा)	भूतम् (भूतमात्रा)
देवता विशेषाः		इन्द्रः	वायुः	अग्निः

१०–प्रकृतिविशेषाणां माया-महामाया–योगमायानां स्वरूपनिर्द्देशः ।

अथो रसे तत्र बलस्य सर्गादुदेति योऽयं विविधो विशेषः ।
कुतः स आयाति वियाति स क्वेत्यजानता सा कथिताऽत्र माया ॥१॥
सामान्यमाया महती च मायाऽन्या योगमायेति भवन्ति मायाः ।
तिस्रः प्रसिद्धा अथ योगमायां तां विष्णुमायामिति केचिदाहुः ॥२॥
माया बलं ब्रह्मणि कर्म यत् तत् कर्मत्रिधा तत् त्रिविधास्ति माया ।
रसेऽमिते सा मितिरेव माया दिग्देशकालैरुपकल्पिता या ॥३॥
तत्रामिते सा हि मितिर्विरुद्धा कथं मितं स्यादमितं यदीदम् ।
असंभवन्तीमपि लोकयामो मायाऽत्र मिथ्येति वितर्कयामः ॥४॥
न वा सती सा न च वाऽसती सा स्वतोऽसती या परतः सती या ।
विरुद्धधर्मद्वययोगिनीयं मायाऽस्ति मिथ्येति वितर्कयामः ॥५॥
रसोऽक्रियश्चैकरसो बलं वा यन्नीरसं तन्न पृथक् प्रवृत्तिः ।
रसेन संसृज्य बलं प्रसूते मायाऽस्ति माताऽथ पिता स आत्मा ॥६॥
यतोमितिः सा महती तु माया बलं हि तन्नाम च कर्म्म रूपम् ।
बन्धाश्च योगाश्च विभूतयो वा मा च प्रमा च प्रतिमा च माया ॥७॥
परोऽवरो वाथ परावरो वा स ईश्वरो वा परमेश्वरो वा ।
मायावशादेव भवन्ति रूपाण्येतानि माया महती ततः सा ॥८॥
स्वरूपसंसर्गवशाद्रसे स्थितं बलं विशेषद्वयमत्र भावयेत् ।
मात्रां च संस्थां च ततः स मात्रया संसृज्यते तद्वदसौ च संस्थया ॥९॥
छन्दः स्वरूपं द्विविधं तदुक्तं या तत्र मात्रास्त्यथ याऽत्र संस्था ।
दिग्देशकालैः प्रमितिस्तु मात्रा छन्दो मितं तत्कृतवृत्तमाहुः ॥१०॥
जात्याकृतिव्यक्तिकृतिस्तु वर्णच्छन्दः कृतं तेन तु वर्णवृत्तम् ।
मात्राकृतं वर्णकृतं स्वरूपं यस्योच्यतेऽसौ पुरुषः प्रदिष्टः ॥११॥
निचाय्यतौपाधिक एष मात्रा संसर्ग एते न रसस्य खण्डः ।
न वस्तुगत्या परिकल्पनीयो घटस्थिताकाशवदर्थ बाधात् ॥१२॥
अणूनि रूपाणि बृहन्ति नानाविधानि मृत्योः स्वयमुद्भवन्ति ।
तत्सर्गरूपावरणेन पूर्णाखण्डामृतं खण्डवदेव भाति ॥१३॥

तस्यामितस्यापि मितिः कृतेयं माया समायाति वियाति चेयम् ।
मितिस्तु माया मित एष मायीऽश्वरोऽस्य मायामयमेव विश्वम् ।।१४।।

रसे बलस्याथ भवन्ति संस्था संसर्गभेदास्त्रिविधाः प्रसिद्धाः ।
बन्धश्च योगश्च विभूतिरेतै रसे भवन्ति त्रिविधा हि संस्थाः ।।१५।।

बन्धक्रमेण प्रभवेदियं वाक् प्राणस्तु योगक्रमजो निरुक्तः ।
मनो विभूतिक्रमतः प्रवृत्तं संसर्गभेदात् त्रय आत्मसर्गाः ।।१६।।

संसृज्य तस्मिन् प्रतिसृज्य भूयो यत्रैष नानात्वमुपैति मृत्युः ।
तत्राभ्वमायाति वियाति तस्मात् तदभ्वमस्मिन् महती हि माया ।।१७।।

यदद्भुतं यत्त्वसदेव दारुणं यतः पृथग्भावमिवात्मनोऽर्थते ।
आशङ्कते चात्मनि विक्रिया यतो लोके तदभ्वं तदु यक्षमुच्यते ।।१८।।

अत्यद्भुतं चासदिदं भयावहं ततः पृथक्त्वं पुनरिष्टमात्मनः ।
विभाव्यते ब्रह्मणि विक्रिया ततस्तद् ब्रह्मणोऽभ्वत्रितयं प्रकल्पते ।।१९।।

रूपं च तत्कर्म च नाम चेति प्रजायते ब्रह्मणि कर्मबन्धात् ।
त्रयं तदभ्वं तदु यक्षमुक्तं पुनः पुनस्तन्म्रियतेऽमृतस्थम् ।।२०।।

न सर्वथाऽसौ म्रियतेऽमृते स्थितस्ततोऽमृतो मृत्युरथामृतं पुनः ।
यदावृतं नित्यमनेन मृत्युना रसः स तस्माद्बहुरूपकर्मवान् ।।२१।।

स्वरूपसंसर्गिबलं तु भावो वृत्तित्वसंसर्गबलं च कर्म्म ।
भावः स यन्नाम यदस्य रूपं मात्रा च संस्थेत्युभयं हि रूपम् ।।२२।।

घटस्य यन्नाम घटस्य मात्रा संस्थेति रूपं च घटस्य भावः ।
घटत्वमुक्तं तदतः पृथक् स्याद् घटस्य कर्मेत्यखिलेषु विद्यात् ।।२३।।

ज्योतिर्निबद्धं बलमस्ति रूपं प्राणेन संबद्धबलं तु कर्म्म ।
स्यान्नामसंबद्धबलं तु वाचा मायाबलानि त्रिविधानि तानि ।।२४।।

तद् ब्रह्मणोऽभ्वं परपूरुषे च प्रवाहनित्यं म्रियतेऽक्षरे वा ।
क्षरे त्वनित्यं भवतीह भावः स्यादप्यभावो रसविप्रकर्षात् ।।२५।।

पूर्वासतोऽपि प्रभवस्थया यः प्रतिष्ठयाऽभ्वत्रितयस्य योगः ।
स एष भावोऽथ तया वियोगो भवेदभावोऽप्युभयः स मर्त्यः ।।२६।।

तदेषु भावेषु यदस्ति नानाविधत्वमुक्तः स विशेष एषः ।
तत्रैकभावेऽपि भवन्त्यनन्ता इमे विशेषा इति भावसिद्धिः ।।२७।।

सा योगमायाऽन्वितयोस्तु कर्म्मणोः पूर्व्वे प्रतिष्ठे उभये निजाभ्वतः ।
यदि च्यवेते अथ चेन्न वा भवत्येका प्रतिष्ठेह न वाभ्वगामिनी ।।२८।।

अभ्वानि सर्वाणि तु योगतः स्युर्नायोगतः किञ्चिदुदेति रूपम् ।
बलस्थितामिच्छति योगमायां रसस्थिता स्यान्महती तु माया ।।२६।।

द्वयोस्तु योगाय चिराय युक्तं स्थातुं लयायैव च या नियुङ्क्ते ।
सा ब्रह्ममायाऽपि च विष्णुमाया शैवी च माया क्रमशः पृथक् स्यात् ।।३०।।

सा शैवमाया यदि चेद्बले द्वे युते क्षणादप्ययुते भवेताम् ।
जलोर्मयो वारिदरूपमग्निज्वाला यथोल्का दिवि विद्युतश्च ।।३१।।

खे नीलिमा भास्कर-चन्द्र-तारा-पृथ्वी-समुद्राश्च महीधराश्च ।
एवं विधा ये चिरमेकरूपा भावाः स्थिताः सा किल विष्णुमाया ।।३२।।

बलद्वये याऽधिकरोति लोके सा योगमाया महती तु माया ।
रसं बलं योजयते महत्यां ता योगमाया स्त्रिविधा विशन्ति ।।३३।।

सा योगमाया महती च माया विशुद्धमाया च न भिद्यतेऽर्थः ।
यन्नाम यद्रूपमथास्य कर्म्माण्यपूर्ववच्चापरवच्च माया ।।३४।।

११—मायाया रसबलपुरुषातिरिक्तत्वमतम् ।

नेयं रसो नापि बलं न पूरुषो माया तुरीयेति वदन्ति केचन ।
रसे बलं तत् पुरुषो द्वयोस्तयो र्मायास्थितेयं पुरुषद्वये भवेत् ।।३५।।

रसो बलानां पुरुषस्य ते द्वे आत्मास्त्यमुष्याः पुरुषौ पुनर्द्वौ ।
माया तु मिथ्या पुरुषस्तु सत्यानृतस्वरूपः प्रथमे तु सत्यम् ।।३६।।

रसो बलं वा परमार्थरूपे स पूरुषस्तु व्यवहारहेतुः ।
माया तुरीया प्रतिभासगम्या सर्वत्र तत्त्वं स रसो बलं वा ।।३७।।

१२—मायोदाहरणम् ।

मालामिहाकर्षति यां दिशं बलादन्यद्बलं तद्विपरीतदिक्क्रमात् ।
अभ्येति तं तं मणिमुत्तरोत्तरं तन्मायिकं कर्षणतः प्रभिद्यते ।।३८।।

पार्श्वाहतामत्रजलस्य वीची मायाबलात् तिष्ठति नाभिमित्वा ।
आघाततः काचपदं त्रुटित्वा धारां त्रुटेः पार्श्वत एति मायाम् ।।३९।।

स्पर्शो रवो गन्धरसे च रूप भवन्ति नानाबलसंघघातात् ।
असन्त्यकस्मादिह यत् स्फुरन्ति प्रत्युत्क्रमन्तेऽपि च मायिकं तत् ।।४०।।

१३—कर्म्मस्थब्रह्मपरिचयः ।

ब्रह्मास्ति तत्प्रत्ययसाक्षिकं[१] रसप्रदं[२] च पात्रं[३] च विवर्ति[४] लम्बनम्[५] ।
आलम्भनं[६] चायतनं[७] च सप्तधा तद्ब्रह्म पश्यामि तु कर्मसु स्थितम् ॥१॥

तथाहि तत् प्रत्ययसाक्षिकं बलैः प्रतीयते द्रव्यवदुल्बणै र्गुणैः ।
भटद्रुमक्षेत्रजलार्चिरुच्चयैः सेनावनग्रामसरःप्रदीपवत् ॥२॥

रसप्रदं ब्रह्म तु कर्मणि ध्रुवं निरात्मकं कर्म्मबलं न दृश्यते ।
आत्मा स सत्तारसमादधाति यो यतो घटः सन्नधुना पुरा त्वसन् ॥३॥

पात्रं बलस्यास्ति यथाम्बुनः पटास्तिलास्तु तैलस्य घृतस्य वा पयः ॥
ब्रह्मे ति वालम्बनमस्ति कर्मणां जलस्य बिन्दू रजसां मृदां यथा ॥४॥

उन्मीलितं चक्षुरिहान्धकारे न त्वात्मनोऽन्येष्ववलम्बते तु ।
अथ प्रकाशे त्ववलम्बते यद् गत्वा क्वचित् सोऽस्ति रसो बलस्थः ॥५॥

यद् गच्छतः शून्यधरातले स्यात् पातोऽथ पूर्णे तु पदावलम्बः ।
यदेव तत्रैष पदावलम्ब्य प्रवर्तते सोऽस्ति रसोऽवलम्बः ॥६॥

जन्मान्ध एष क्रमते स्वहस्तौ स्पर्शाय विस्तार्य पुरः क्वचित्तु ।
स्पृष्ट्वा बलेनाहत एष किञ्चिद्ध्यस्तीति यद्वेत्ति स सोऽवलम्बः ॥७॥

अथान्धकारे निबिडे स चक्षुर्विस्फार्य्य पश्यन्न च किञ्च पश्येत् ।
अथापि पश्यन् प्रतमां तमोऽस्तीत्येवं स पश्यत्यवलम्बनं तत् ॥८॥

ब्रह्मे ति वालम्भनमस्ति बिम्बस्योर्म्याश्च वारीव बलस्य सत्यम् ।
आरम्भणं तन्नु यतश्च यस्मिन्नारभ्यते तस्य बलस्य रूपम् ॥९॥

सर्वत्र संस्था हि बलप्रवृत्तेः सा सा पृथग्वन्नियतास्ति लोके ।
यादृग्बलं क्वाप्यतिशायि दृष्टं तन्मन्दमन्यत्र च न क्वचित्तत् ॥१०॥

क्वचिद्बलं कर्तुमिवेच्छतोऽपि नोत्पद्यते यत्नवतोऽपि भूयः ।
क्वचित्त्वकस्मादिव तत्प्रभूतं प्रजायते तन्नियतिप्रसादात् ॥११॥

बलं स्वतन्त्रं यदि जन्मनि स्यात्सर्वत्र सर्वं बलमेकदा स्यात् ।
तस्मादवश्यं नियतिर्नियन्त्री बलस्य काचिद् ध्रियते रसः सः ॥१२॥

आरम्भणं तेन वदन्ति विज्ञा बलस्य तद्ब्रह्मतदस्ति सत्यम् ।
सत्यानुरोधेन बलोदयः स्यात् सत्यं गृहीत्वा यतते बलाय ॥१३॥

पृथक् प्रतीतेरिह नामरूपे पृथग् विभिन्नायतने भवेताम् ।
यदन्तरा तेहि यतः पृथक्त्वं ब्रह्म तदाकाशमिदं त्रिसंस्थम् ।।१४।।

केचित् पुनर्ब्रह्म विवर्तनं विदुः स्वप्नेहि विज्ञानगता यथाखिलाः ।
रथा रथी सारथिरश्वकाः पथस्तथा ननु ब्रह्मणि कर्म्मणां कलाः ।।१६।।

ब्रह्म च कर्म्म च पूर्णं, प्रत्येकं पूर्णतास्ति पर्य्याप्ता ।
यत् पूर्णं तत् सत्यं, सत्ये द्वे तेन ते सिद्धे ।।१६।।

।। इति तृतीयो ब्रह्मकर्म्मभ्यां सृष्टिक्रमाधिकारः ।।

अथ तृतीयो ब्रह्मकर्म्मभ्यां सृष्टिक्रमाधिकारः ।

पुरुषत्रयावतार–प्रकृतित्रयावतारौ ।

(पुरुषत्रयावतार एवं प्रकृतित्रयावतार)

१–पुरुषप्रकृतिसमन्वयात् सृष्टिः ।

पुरुष और प्रकृति के समन्वय से सृष्टि का पैदा होना—

[हिन्दीविज्ञानभाष्य] इस प्रकार पूर्व के 'ब्रह्मकर्म्म सम्बन्धाधिकार' प्रकरण में ब्रह्म का रस के साथ एवं बल का बल के साथ जितने प्रकार का सम्बन्ध होता है, वह सब विशद रूप से बतला दिया । अब प्रकृत में इस ब्रह्म-कर्म्म को पुरुष एवं प्रकृति रूप में परिणत कर इसी से सृष्टि होना सिद्ध करते हैं । अर्थात्–शुद्ध ब्रह्म से सृष्टि नहीं होती, अतः जब यह ब्रह्म पुरुष रूप से परिणत होता है–तभी अपनी प्रकृति को वश में कर यह पुरुषसृष्टि बनाया करता है–इस प्रकार सारे विश्व का निर्म्माण इसी पुरुष एवं प्रकृति के समन्वय से समझना चाहिए, अतएव भगवान् ने कहा है—

"प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्" ।।[1]

बस, इस पुरुष एवं प्रकृति के समन्वय से किस प्रकार सृष्टि होती है–यही प्रकरण यहाँ से प्रारम्भ करते हैं—

जो हमने ब्रह्म बतलाया है एवं जो कर्म्म बतलाया है । ये दोनों ही सदा सर्वदा साथ रहने वाले हैं अर्थात्–दोनों ही अविनाभूत हैं और ये दोनों ही व्यापक हैं, पूर्ण हैं । अर्थात्–कोई भी ऐसा स्थान नहीं, जहाँ पर कि इनमें से किसी का भी अभाव हो । एवं–ये दोनों ही सत्य हैं–क्योंकि जब दोनों ही अविनाभूत हैं तो फिर दोनों को ही सत्य मानना पड़ेगा । अन्यथा कर्म्म को असत्य मानने पर उसका नाश भी अवश्य मानना पड़ेगा । ऐसी स्थिति में कर्म्म के मिथ्या होने पर इन दोनों का अविनाभूतत्व प्रतिपादन असम्भव होता है । अतः जिस प्रकार ब्रह्म सत्य है तद्वत् कर्म्म को भी सत्य समझना चाहिए । क्योंकि श्रुति में कहीं भी कर्म्म को मिथ्या नहीं बतलाया है । बस, श्रुति के इसी आशय को लेते हुए भगवान् व्यास ने कहा है कि–तत्तु समन्वयात्–इति । अर्थात्–पूर्वोक्त ब्रह्म का इसी कर्म्म में समन्वय होता है । यदि च–कर्म्म मिथ्या ही होता तो फिर सत्यरूप ब्रह्म का मिथ्या

---

१ गीता ९।८ ।

कर्म्म में समन्वय बतलाना–व्यास भगवान् का–सर्वथा अयुक्त होता। क्योंकि सत्य का धर्म्म है कि वह मिथ्या से नहीं मिल सकता, अतः ब्रह्म का कर्म्म में समन्वय बतलाने से कर्म्म का सत्यत्व सुतरां सिद्ध हो जाता है, अतः शङ्कराचार्य ने जो कर्म्म को मिथ्या बतलाया है, वह उनका केवल प्रौढिवाद ही समझना चाहिए। बस, सारे कथन का सारांश यही हुआ कि ये दोनों ही सत्य हैं। इस प्रकार इस ब्रह्म और कर्म्म के अलावा तीसरा कोई भी अन्य पदार्थ नहीं है, अतएव लोक में अखिल विश्व के पदार्थों के भिन्न भिन्न रहते हुए भी सब को–**ब्रह्मैवेदं सर्वम्**–अर्थात् यह सब ब्रह्म ही ब्रह्म है–कहा करते हैं। परन्तु ध्यान रहे कि इस–**ब्रह्मैवेदं सर्वम्**–के साथ साथ कर्म्म भी समझना चाहिए, क्योंकि यह ब्रह्म एवं कर्म्म दोनों ही सदा समन्वित रहते हैं, अतः–**ब्रह्मैव सर्वम्**–इसके साथ साथ–**कर्म्माणि सर्वम्**–यह भी समझना चाहिए। परन्तु चूंकि ब्रह्म चेतन है एवं कर्म्म जड़ है, इसलिए लोक में चेतनतया ब्रह्मप्राधान्यात्–**प्रधानाप्रधानयोः प्रधानस्यैव ग्रहणम्**–इस न्याय से सारे पदार्थों को–**कर्म्माणि सर्वम्**–यह न कहकर–**ब्रह्मैवेदं सर्वम्**–कहते हैं, परन्तु इसी से कर्म्म का अभाव नहीं समझ लेना चाहिए क्योंकि ब्रह्म कर्म्म के विना कभी रह ही नहीं सकता। इस प्रकार जगत् के मूलभूत–व्यापक एवं पूर्ण एवं सत्य–यही ब्रह्म एवं कर्म्म हैं। बस, इनसे अलावा अखिल ब्रह्माण्ड में कोई तीसरा पदार्थ ही नहीं है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यद् ब्रह्म यत्कर्म सह द्वयं तत् पूर्णद्विसत्यं न ततोऽन्यदस्ति।
ब्रह्मैव कर्मापि समन्वितत्वादनेकधा ते प्रवदन्ति लोकाः" ॥१॥

इस प्रकार यह जो पूर्वोक्त ब्रह्म हमने बतलाया है–वह आत्मा एवं पुरुष कहलाता है अर्थात्–कर्म्म का आत्मा यही पुरुष है, क्योंकि इसी की चेतना से प्रतिबिम्बित होकर कर्म्म सृष्टिनिर्माण में समर्थ होता है एवं इस पुरुष में जो कर्म्म है, उसे ही 'प्रकृति' कहते हैं। अर्थात् जो शुद्ध रस-बल है, उसे तो 'ब्रह्म-कर्म्म' ही कहते हैं। परन्तु जितना बल सृष्टिनिर्म्माण करता है, उसे प्रकृति एवं जितना रस उस बल से परिच्छिन्न हो जाता है, उसे 'पुरुष' कहते हैं। इस प्रकार जब प्रकृति जड़ पदार्थ की सृष्टि कर देती है–क्योंकि प्रकृति स्वयं जड़ है, अतः सृष्टि भी जड़ ही पैदा करती है। तब इस जड़ सृष्टि में उस जड़ प्रकृति द्वारा उपरोक्त चिदात्मा (ब्रह्म) उस जड़ पदार्थ में प्रविष्ट हो जाता है–अर्थात् यह ब्रह्म अपनी चेतना द्वारा प्रकृति से संसार निर्म्माण कराता हुआ आप खुद भी उसमें प्रविष्ट हो जाता है, अतएव श्रुति कहती है–**तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**। यह प्रकृति जो एक ढांचा तय्यार कर देती है, उसमें यह ब्रह्म बहुधा परिवर्त्तित होता रहता है। अर्थात्–कभी कोई पदार्थ नष्ट होता है तो वह चित् शक्ति दूसरे में प्रविष्ट हो जाती है। इस प्रकार पदार्थों के नाशवान् होने के कारण यह ब्रह्म बहुधा परिवर्त्तित होता रहता है। चूंकि यह बहुधा परिवर्त्तित होता है, अतएव इसे 'पुरुष' कहते हैं। (**पुरु-बहुधा, स्यति-परिवर्त्तितो भवतीति पुरुषः**) जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ब्रह्मेदमात्मा पुरुषोस्ति तस्मिन् यत्कर्म सेयं प्रकृतिः प्रकृत्या।
सृष्टे जडेस्मिन् जडया चिदात्माविष्टः पुरु स्यन् पुरुषः स उक्तः" ॥२॥

इस प्रकार इन सृष्ट पदार्थों की (सृष्टि की) जो प्रकृति है, उसे ही 'योनिबल' कहते हैं। अर्थात्–यह 'बलकोश' १६ प्रकार के हैं–जैसे–जाया–धारा–माया–आप इत्यादि। फिर इन एक एक कोषों में अनन्त बल हैं। इस प्रकार इस प्रकृतिबल को बलों का कोश समझना चाहिए। इस बलकोश में नाना प्रकार के बलसमूह विद्यमान हैं। चूंकि इस कोश में नाना प्रकार के बल हैं, अतः यह जो पुर (शरीर) है, वह भी अनेकावयवयुक्त होता है, अतएव च–इनमें नाक–आँख–मुंह–हाथ–पैर–श्रोत्र ये सर्वथा भिन्न भिन्न शक्ति रखने वाले हैं। यदि एक ही जाति का बल होता तो शक्ति भी इस पुर में एक ही प्रकार की होती। परन्तु हम देखते हैं कि इस पुर में नाना शक्तिसमूह हैं। अतः वह बलसमूह भी हमें नाना जातीय ही मानना पड़ता है। इतना ही नहीं–अपि तु, अनेकावयवयुक्त होने से ही इसका पुरत्व चरितार्थ होता है। इस प्रकार प्रकृतिकोशस्थित नाना बलों के रूप से निर्मित अतएव नाना अवयव समूहयुक्त जो एक पुर है–उसमें इस रस के प्रविष्ट होने से–इसकी पुरुष संज्ञा हो गई है–इस प्रकार इस पुरुष को रस-स्वरूप ही समझना चाहिए। सारांश यह हुआ कि–प्रकृति कोशयुक्त–बल समूहों से निर्म्मित पुर में इस रस के प्रविष्ट होने से ही इसकी पुरुष संज्ञा हो गई–(**पुरि वसति इति पुरुषः**) जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सृष्टेस्तु यास्ति प्रकृतिः स योनिर्बलं तदुक्तं तदनेकरूपम्।
यतोऽस्त्यनेकावयवं ततस्तत्पुरं पुरस्थः पुरुषो रसः सः" ॥३॥

परन्तु यह जो हमने पुर बतलाया है–वह अनन्त है अर्थात् –सारे पदार्थ एक एक-पुरस्वरूप ही हैं। इस प्रकार पुर के भेद से इस पुरी में संनिविष्ट जो एक आत्मा है–जिसे कि पुरुष कहते हैं–वह भी अनन्त हो जाता है अर्थात्–यद्यपि रस एक है, परन्तु पुर के भेद से (विशेषणभेदेन) वह एक पुरुष भी अनन्त स्थानों में बँटा हुआ दिखाई देता है। परन्तु वस्तुतः प्रातिस्विकरूपेण वह रस (पुरुष) आज भी एक ही समझना चाहिए। इस प्रकार इस पुरुष के साथ–प्रकृति के समन्वय (होने) से जिस प्रकार सृष्टि पैदा होती है, उसका प्रतिपादन हम आगे के विषय से करते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पुरप्रभेदात् पुरि संनिविष्टः स एष आत्मा पुरुषोऽप्यनेकः।
समन्वयात् तस्य यथा प्रकृत्या सृष्टिस्तथाऽत्र प्रतिपादयामि" ॥४॥

—❀—

२–पुरुषप्रकृत्योः सम्बन्धेऽप्यसमन्वये सृष्ट्यभावः।

पुरुष एवं प्रकृति के सम्बन्ध रहने पर भी यदि उनका समन्वय न हो तो सृष्टि नहीं होती—

जिस समय यह बल उस रस में सो जाता है–तो फिर वह सोता हुआ बल–रसस्वरूप ही में परिणत हो जाता है। ऐसी हालत में जबकि रस में बल सो जाता है तो एक एवं अनिरुक्त ब्रह्म ही अवशिष्ट बच रहता है, क्योंकि इसी बल के द्वारा ब्रह्म निरुक्त (बतलाया) होता है, अतः जब कि इस रस का प्रत्यक्ष करवाने वाला अर्थात् लक्षणस्वरूप जब यह बल रस में सो जाता है तो ऐसी हालत में अनिरुक्त एक ब्रह्म ही बचता है। इस प्रकार इस ब्रह्म से अलावा कुछ भी नहीं है। इस प्रकार इस ब्रह्म के साथ (ऐसी अवस्था में) दूसरे पदार्थ के (बल के) असमन्वय होने से वहाँ पर नई चीज कुछ भी पैदा नहीं हो सकती–अर्थात्–केवल ब्रह्म से सर्ग नहीं होता। क्योंकि जब तक दो वस्तुएँ नहीं मिलती, तब तक तीसरी चीज़ पैदा नहीं होती, अतः सिद्धान्त हुआ कि जब बल रस में सो जाता है तो दूसरे के समन्वयाभावात् उस समय सर्गक्रिया बन्द रहती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रसे प्रसुप्तं तु रसस्वरूपं बलं तदानीमनिरुक्तमेकम्।
ब्रह्मैव नातोऽन्यदतो द्वितीयाऽसमन्वयात्तत्र न कोऽपि सर्गः"॥५॥

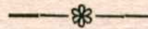
इसी प्रकार इस व्यापक रस में जितना बल उद्‌बुद्ध (उल्बण) हो गया है–ऐसी हालत में यदि इस बल की अमितवृत्तिता है -अर्थात्–उल्बण होने पर भी यदि यह बल परिच्छिन्न नहीं है तो–दूसरी वस्तु के रहने पर भी उस बल के अपरिच्छिन्न होने के कारण अमितस्वभाव्यात् उस बल का रस के साथ समन्वय नहीं होने पाता। अतः इस से भी सृष्टि नहीं हो सकती, सृष्टि कहते हैं सम्बन्ध को और सम्बन्ध होता है परिच्छिन्नों का–जब तक यह बल परिच्छिन्न होकर रस को भी परिच्छिन्न न करे तब तक इस जागने पर भी समन्वयाभावात् सृष्टि नहीं हो सकती। अतः यद्यपि यहाँ पर रस एवं बल दो पदार्थ हैं तथापि बल के अमित होने से समन्वयाभावात् सर्गाभाव ही होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"उद्‌बुद्धमस्मिन् बलमस्ति यावद्रसेऽस्ति तस्यामितवृत्तिता चेत्।
सति द्वितीयेऽप्यमितिस्वभावात् समन्वयो नास्ति ततो न तत्र सर्गः"॥६॥

इसी प्रकार वह बल यदि परिच्छिन्न भी हो जाय, तब भी, यदि उसमें मात्रा-नियम नहीं है तो रस और बल के सम्बन्ध (समन्वय) होने पर भी 'सर्ग' नहीं होता। संसार के प्रत्येक पदार्थ के निर्म्माण में रस एवं बल की मात्रा की आवश्यकता है अर्थात्–सभी पदार्थ भिन्न भिन्न नियतमात्रा के रसबल से निष्पन्न हैं। जैसे–यदि इतना हाईड्रोजन एव इतना ऑक्सीजन मिला दिया जाए तो उसी समय पानी पैदा हो जाए। बस, इसी तरह सभी पदार्थों की रचना में मात्रा परिमाण समझना चाहिए, अतः यदि रस एवं बल–दोनों के ही परिच्छिन्नत्वात् सम्बन्ध हो रहा है। परन्तु दोनों में यदि मात्रा नियम नहीं है तो इनके समन्वय रहने पर भी सृष्टि पैदा नहीं हो सकती, अतः जब कि इस रसबल का मात्रा-नियम यदि नहीं है तो इनके सम्बन्ध होने पर भी सर्ग नहीं हो सकता। क्योंकि मात्रा नियमाभावात् (माया-बलाभावात्) इस मृत्यु में यह अमृत स्वातन्त्र्येण प्रतिभासित हो रहा है तथैव यह मृत्यु भी

अमृत से स्वतन्त्र ही है, अतः सम्बन्ध होने पर भी माया-बलाभावात् अतएव हृद्ग्रन्थ्यभावात्–सर्ग नहीं हो सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"न यत्र मात्रानियमस्तयोः स्यात् सम्बन्धसत्त्वेऽपि न तत्र सर्गः।
असक्तमस्मिन्नमृतं हि मृत्यौ स्वतन्त्रमाभाति तथा स मृत्युः" ॥७॥



३–आत्मयोन्योरुत्तरोत्तरमुत्पत्तिक्रमः।

आत्मा (पुरुष) एवं योनि (प्रकृति) में उत्तरोत्तर उत्पत्तिक्रम—

पूर्वोक्त दोनों सूत्रों में हमने जिस प्रकार सृष्टि नहीं होती है–वह सब बतला दिया। अब सृष्टि कैसे एवं किस सम्बन्ध से होती है–यह बतलाते हैं—

परिमित बल यदि अपरिमित रस के साथ नपी हुई मात्रा से (जितनी मात्रा की पदार्थ निर्म्माण में आवश्यकता होती है) मेल करे तो ऐसी अवस्था में इस रस-बल का जो एक सम्बन्ध विशेष है–उसे संसर्गसम्बन्ध कहते हैं। बस, इसी संसर्गसम्बन्ध से सर्ग होता है अर्थात् तीसरी चीज पैदा होती है। सारांश यह हुआ कि जिस पदार्थ में जितने बल की–मात्रा की आवश्यकता होती है–ठीक उतना ही बल यदि रस से मिल जाए तो वहाँ पर नई सृष्टि पैदा हो जाएगी। क्योंकि वह मात्रा से नपा हुआ बल रस को भी मात्रा (परिच्छिन्न) युक्त बना लेगा। बस जहाँ दोनों परिच्छिन्न हुए और तीसरी वस्तु बनी। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"मितोऽमितेनाथ निरूढमात्रयाऽमृतेन मृत्युः क्रमते यदा क्वचित्।
तदात्र सम्बन्धविशेष इष्यते संसर्गसंज्ञस्तत एव सृज्यते" ॥८॥

इस प्रकार जिसको हमने यहाँ 'मात्रा' शब्द से बतलाया है–उसे ही इस विज्ञान-शास्त्र में हम 'छन्द' नाम से पुकारेंगे। अर्थात्–मिति (मात्रा) को विज्ञान-शास्त्र में छन्द कहेंगे। यह छन्द प्रायः चार (४) प्रकार का हुआ करता है–१-गायत्री (अग्नि), २-त्रिष्टुप् (इन्द्र), ३-जगती (सूर्य्य), ४-अनुष्टुप् (प्रजापति), अर्थात् अग्न्यादि जितने भी देवताओं का स्वरूप निर्म्माण होता है–वह सब इन्हीं देवताओं द्वारा होता है। जैसे यदि इतनी मात्रा से यह पदार्थ हो तो अग्नि एवं इतनी से सूर्य्य एवं इतनी से 'इन्द्र' बन जाए और यदि जरा भी मात्रा में कमी–ज्यादा हो तो फिर उस देवता का स्वरूप नहीं बन सकता है। तो बस, यह अग्नि जितनी मात्रा से पकड़ में आता है–उसे गायत्री छन्द कहते हैं एवं सूर्य्य की मात्रा को जगती कहते हैं–बस, यही क्रम सम्पूर्ण देवताओं में समझना चाहिए। चूँकि त्रिलोकी इन्हीं अग्नि-इन्द्र-सूर्य्य–प्रजापति में समाप्त हो जाती है, अतः सामान्यतया चार (४) छन्द

प्रधान होते हैं और यदि इनका विशकलन करें तो १-गायत्री, २-उष्णिक्, ३- अनुष्टुप्, ४-बृहती, ५-पङ्क्ति, ६-त्रिष्टुप्, एवं ७-जगती-ये सात छन्द होते हैं एवं इन सातों के क्रमशः १-अग्नि, २-वायु, ३-आदित्य, ४-बृहस्पति, ५-वरुण, ६-इन्द्र, एवं ७-विश्वेदेव-ये सात देवता होते हैं।

सारांश यह हुआ कि संसार में जो हम नाना प्रकार के भिन्न भिन्न लक्षण वाले पदार्थ देखते हैं- वह नाना प्रकार का छन्द ही हम देखते हैं। अर्थात्-इसी छन्द की बदौलत हमें प्रत्येक वस्तु एक से एक भिन्न दिखलाई पड़ती है, इस प्रकार संसार में द्वैतबुद्धि का प्रवर्त्तक यही छन्द होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"छन्दः पदेनेह निरूपयिष्यते मितिश्चतुर्धाऽप्यथ सप्तधाऽथवा।
अनेकधा छन्द इदं हि दृश्यते यदीहते वस्तु विभिन्नलक्षणम्" ॥९॥

इस तरह रस एवं बल के उपरोक्त सम्बन्ध से हमने सृष्टि बतलाई है। यहाँ पर जो हमने सृष्टि बतलाई है, उसमें मितबल का अमित रस के साथ सम्बन्ध बतलाया है। परन्तु अब मित ही बल की एवं मित ही रस की एवं मित ही बलों की सृष्टि बतलाते हैं। नपी हुई मात्रायुक्त परिच्छिन्न पदार्थ यदि नपी हुई मात्रायुक्त परिच्छिन्न पदार्थ से मिल जाए और उन दोनों से-एक पदार्थ से-एक की भुक्ति हो जाए तो ऐसी अवस्था में-दोनों में से एक पदार्थ अवशिष्ट पदार्थ के स्वरूप में परिणत हो जाता है। अर्थात्-समान मात्रा के पदार्थों के मिलने पर एक पदार्थ यदि एक के पेट में चला जाय तो- वह पेट में गया हुआ पदार्थ अवशिष्ट पदार्थ के स्वरूप में परिणत हो जाता है। जैसे-हम जो अन्न खाते है, वह हमारे से भुक्त होने के कारण हमारे ही स्वरूप में परिणत हो जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"मितोऽमितेनाथ निरूढमात्रो निरूढमात्रेण समन्वितश्चेत्।
अथाशितिश्चेत्परतः परेण तत्रैकमेयादितरस्वरूपम्" ॥१०॥

इस प्रकार इन दोनों पदार्थों में से जिस पदार्थ में जिस अन्य पदार्थ का आधान (भुक्ति) होता है, उसे ही (आधार को) इस विज्ञान-शास्त्र में 'अत्ता' कहा करते हैं एवं जो पदार्थ उसमें जाता है (भुक्त होता है) उसे 'आद्य' कहते हैं। इस तरह जिस समय यह आद्य एवं अत्ता एकरूप हो जाते हैं तो ऐसी अवस्था में केवल अत्ता के नाम का ही व्यवहार होता है और आद्य का नाम लुप्त हो जाता है। इसी अत्ता और आद्य का दूसरा नाम अन्नाद और अन्न समझना चाहिए। जैसे-अन्न के (आद्य के) पेट में (अत्ता में) चले जाने पर आद्य का (अन्न का) व्यवहार नष्ट होता है तद्वत् प्रकृत में समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यत्रैतदभ्यादधतीह किञ्चित् सोऽत्ता यदाधीयत एतदाद्यम्।
यदाद्यमत्तोभयमेकभूतमाख्यायतेऽत्तैव तदा न चाद्यम्" ॥११॥

इसी कारण से (अत्ताद्य के कारण से) जिस समय रस के अन्दर गया हुआ (भुक्त) बल जब रस में जाकर ठहर जाता है तो ऐसी अवस्था में बल के अन्दर प्रविष्ट होने से वह रस बली हो जाता है अर्थात् यह रस 'बलवद् रस' कहलाता है। एवं ठीक इसके विपरीत बल के अन्दर गया हुआ रस बल में आश्रित हो जाता है तो ऐसी अवस्था में बल के अन्दर रस के रहने से वह बल 'रसवद् बल' कहलाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"बलं रसान्तर्गमितं रसे चेदाधीयते तत्र बली रसः स्यात्।
रसो बलान्तर्गमितो बले चेदाधीयते तद्रसवद्बलं स्यात्" ॥१२॥

इस तरह जब बल रस को खाकर यह रस बलवद्रस के रूप में परिणत होता है–तब इस रस-स्वरूप बल से आत्मसृष्टि होती है, चूँकि यह बल उस रस के द्वारा भुक्त हो जाता है–इस कारण से वहाँ पर रस का भाग ही उल्बण रहता है, अतः इस उल्बण रसभाग से आत्मसृष्टि (पुरुष) ही होती है एवं ठीक इसके विपरीत रस को बल खाकर जब यह बल रसवद् बलरूप में परिणत होता है–तब इस रसवद् बल से (बलस्वरूप रस से) योनिसृष्टि (प्रकृति) सृष्टि होती है। चूँकि यह बल उस रस का भोक्ता बनता है–इस कारण वहाँ पर बलभाग ही उल्बण रहता है, अतः इससे योनिसृष्टि ही होती है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि बल-बन्धन कराने वाला है, अतः यह जहाँ प्रधान होता है–वहाँ बन्धनात्मिका प्रकृतिसृष्टि ही होती है एवं रस ठीक इसके विपरीत बन्धनमुक्त कराने वाला है, अतः इसकी प्रधानता में पुरुष की ही सृष्टि होती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रसस्वरूपेण बलेन चात्मा विधीयते भुक्तमिदं बलं तत्।
बलस्वरूपेण रसेन योनिर्भवत्यदो भोक्तृबलं रसस्य" ॥१३॥

चूँकि आत्मा में रसभाग उल्बण रहता है, अतः मनुष्य जितना आत्मा का संग करेगा–उतना ही उसे रस (आनन्द) मिलेगा, अतः यहाँ पर आत्मा को रसप्रद बतलाया है–इस प्रकार रस प्रदान करने के कारण जिस तरह यह रस आत्मा कहलाता है एवं यह बल रस का ग्रहण करता है अर्थात्–यह रस बल के अन्तर्गत रहता है, अतः वही बल रसाधानतया योनि कहलाता है। तो जिस प्रकार इस रस एवं बल से प्राथमिक-प्रकृतिसृष्टि बनती है–तद्वत् इसी आत्मांश एवं योन्यंश के समन्वय से अन्य आत्मा एवं अन्य योनि की सृष्टि हुआ करती है। अर्थात् सर्वप्रथम जो रस एवं बल से प्रकृतिसृष्टि बन जाती है–बस, आगे की वैकारिक (अस्मदादि) सृष्टियाँ उसी पुरुष एवं प्रकृति के समन्वय से होती हैं, अतः सिद्ध हुआ कि जगत् इसी पुरुष एवं प्रकृति के समन्वय से बनता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

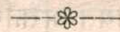
"रसप्रदत्वात् स रसो यथात्मा बलं रसाधानतया तु योनिः।
आत्मांशयोन्यंशसमन्वयेन तथान्य आत्मा च तथान्ययोनिः" ॥१४॥

इस प्रकार जो कि बल रस से भुक्त हो गया है–उतने बल के रसस्वरूप में परिणत हो जाने से जो बलवद् रस है–उससे आत्मा बनता है। अर्थात् रस के खाये जाने से जो बल रसस्वरूप हो गया है–वही आत्मा कहलाता है एवं ठीक इसके विपरीत बल के खाये जाने पर जो रस बलस्वरूप हो गया है–वही योनि (प्रकृति) कहलाता है। इस प्रकार रसवद्बल से प्रकृतिसृष्टि, बलवद्रस से आत्मसृष्टि एवं बल बल की भुक्ति से वैकारिकसृष्टि होती है–यह समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रसेन भुक्ते हि बले बलं तद्रसस्वरूपं यदभूत् स आत्मा।
बलेन भुक्ते तु रसे रसोऽसौ बलस्वरूपोऽभवदेष योनिः" ॥१५॥

इस तरह इस आत्मा और योनि का स्वरूप नामक सम्बन्ध–'योग, बन्ध एवं विभूति'–इस प्रकार से तीन प्रकार का होता है। बस, इन्हीं तीन ही स्वरूपनिर्म्माण के साधक एवं सृष्टि करने वाले सम्बन्धों के कारण आत्मा एवं योनि का भेद होता है अर्थात् यही सम्बन्ध योनि के एवं आत्मा के परस्पर भेद का कारण होता है, अतः संसार के पदार्थों में जितना हम भेद देख रहे हैं–वह सब इन्हीं सम्बन्धों के तारतम्य का कारण समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्वरूपसंसर्ग इह त्रिधा स्याद्बन्धश्च योगश्च तथा विभूतिः।
त्रिभिः स्वरूपानुगतैः प्रसर्गैरात्मा च योनिश्च पृथग्भवेताम्" ॥१६॥



४–रसबलसमन्वयाद् रसावतारोऽव्ययपुरुषः।

रस एवं बल के समन्वय से (बलवद्रस से) रसावताररूप अव्ययपुरुष की उत्पत्ति—

पूर्व प्रकरण में हमने बतलाया है–इस रस और बल का सम्बन्ध 'विभूति–योग एवं बन्ध'–इस तरह से तीन प्रकार का होता है। बस, इन्हीं तीनों के भेद से एक ही आत्मा को तीन स्वरूप बतलाते हैं—पूर्व में जो हमने आत्मा एवं योनि का स्वरूप बतलाया था–उनमें से यह आत्मा स्वरूपसम्बन्ध के तीन प्रकार के होने के कारण, अतः तीन ही प्रकार से रसबल के सम्बन्ध (सर्ग) होने के कारण तीन ही प्रकार का उत्पन्न होता है। जब रस का बल के साथ विभूति (आसक्ति रहित) सम्बन्ध होता है तो ऐसे समय में उस रस का नाम मन पड़ता है एवं जब रस का बल के साथ निर्ग्रन्थिबन्धन होता है (योगसम्बन्ध होता है) तो इस रस का नाम प्राण पड़ता है एवं जब इस रस का बल के साथ बन्धन (सग्रन्थिबन्धन) सम्बन्ध होता है तो उस का नाम वाक् पड़ता है। इस प्रकार केवल सम्बन्धभेद से ही यह आत्मा 'मन-प्राण-वाक्' रूप में परिणत हो जाता है। यहाँ पर जो यह आत्मा के 'मन-प्राण-वाक्'–ये तीन भेद बतलाए हैं–वे अव्यय के समझने चाहिएँ अर्थात् रसबल का जो पहले-पहल सम्बन्ध होता है–उससे जो सर्वप्रथम अव्ययात्मा बनता है–उसी का प्रकृत में वर्णन है। सारांश यह हुआ कि हम जो

वागादि का प्रत्यक्ष करते हैं–वे अव्यय के मन-प्राण एवं वाक् कोश में रहने वाले हैं। चूँकि यह आत्मा (अव्यय) तीन स्वरूपयुक्त होता है, अतएव बृहदारण्यक में लिखा है कि—

"स वा एष आत्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः" ।।[1]

इसी अभिप्राय मे गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तत्रायमात्मा त्रिविधः स्वरूपत्रैविध्यतस्तावदुदेति सर्गात् ।
मनो विभूत्या भवतीह योगात् प्राणोऽथ बन्धादिह जायते वाक्" ।।१७।।

इस प्रकार से प्राण पर मन सवार रहता है एवं यह प्राण वाक् पर सवार रहता है–इस क्रम से पर में (आगे में) पूर्व का अध्यारूढ (वृत्तित्व सम्बन्ध) समझना चाहिए। चूँकि यहाँ पर एक पर एक सवार है, अतः इनके परस्पर सम्बन्ध होने पर भी समन्वयाभावात् इससे (त्रेधातव्य आत्मा से) सृष्टि (नई चीज) नहीं होती। सारांश यह हुआ कि मन विना प्राण के नहीं रह सकता एवं प्राण विना मन के नहीं रह सकता एवमेव वाक् विना मन-प्राण के नहीं रह सकता–अपि तु, तीनों ही एक से एक अविनाभूत हैं, परन्तु इन तीनों में से सम्बन्धभेद से पूर्व पूर्व का ज्यादा सामार्थ्य रखने वाला है, अतएव जब हम इच्छा व्यापार (मनोव्यापार) करते हैं–तभी हाथ में सोता हुआ प्राण व्यापार करता है, अतः प्राण की अपेक्षा मन प्रधान है, क्योंकि यहाँ विभूति सम्बन्ध है–इसी प्रकार प्राणव्यापार के होने पर भी सभी अंगुलियाँ न उठकर दो ही क्यों उठती हैं–यह प्राण का प्राधान्य वाक् से है, अतः वाक् से प्राण योग-सम्बन्ध के कारण श्रेष्ठ है।

इससे यह सिद्धान्त समझना चाहिए कि वाक् विना मन-प्राण के कुछ भी नहीं कर सकता। इस प्रकार यहाँ पर यद्यपि ये तीनों परस्पर सम्बद्ध हैं तथापि इनके मेल से सृष्टि नहीं होती, क्योंकि इनमें अध्यारूढवृत्तित्व-सम्बन्ध है–न कि समन्वयसम्बन्ध। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्राणे मनोऽध्यूढमयं च वाचि प्राणस्तदित्थं क्रमशः परस्मिन् ।
पूर्वं तदध्यूढमतो न सर्गः सम्बन्धसत्त्वेऽप्यसमन्वितत्वात्" ।।१८।।

कई ऋषियों ने इन तीन पृथक् आत्माओं का परस्पर समवायसम्बन्ध बतलाया है। उनका कहना है कि परस्पर ये तीनों एक से एक समन्वितरूप से युक्त ही रहते हैं, क्योंकि इनमें से एक के विना एक की स्थिति ही नहीं रह सकती, अतः अविनाभूतत्वात् इनका समवायसम्बन्ध समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

१ बृहदारण्यकोप० १।५।३।

"कैश्चित्तु तेषां पृथगात्मनां मिथः सम्बन्ध उक्तः समवायसंज्ञक. ।
अन्योन्यतस्ते समवेतरूपिणो विनान्यतोऽन्यस्य न च स्थितिः क्वचित्" ।।१६।।

इस प्रकार से 'मन-प्राण एवं वाक्' रूप से प्रतीयमान जो रस-बल के सम्बन्ध से ये तीन पुरुष बतलाए हैं–ये तीनों (पुरुष) परस्पर मिलकर एक ही स्वरूप को धारण करते हुए 'अव्यय' पुरुष कहलाते हैं। अर्थात् तीनों के मिलने से 'अव्ययपुरुष' का स्वरूप बनता है। इस प्रकार से यह 'अव्यय-पुरुष' रस का अवतार समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"त्रयस्त्विमे ये पुरुषा निरुक्ताः प्राणो मनो वागिति संप्रतीताः ।
अन्योन्यसाहित्यकृतैकमूर्तिः स्यादव्ययः सोऽस्ति रसावतारः" ।।२०।।

जो कि यह अव्ययपुरुष वाङ्मय है–प्राणमय है एवं मनोमय है–वह एक आत्मा (पुरुष) है एवं सनातन (नित्य) है एवं सब चराचर का यही अव्यय प्रभु है एवं यही अव्यय नामधारी 'पर' नाम का उत्तमपुरुष है। जैसा कि गीता में कहा है—

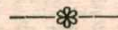
"गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्" ।।[1]

अपि, च—

"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" ।।[2]

इस प्रकार के इस अव्यय के मन-प्राण एवं वाक् ये तीनों विक्रम (शक्ति) समझने चाहिएँ। चूँकि ये तीन पुरुषों (धातु) की समष्टि है, अतएव इस अव्ययात्मा को त्रैधातव्य भी कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयो य एक आत्मास्ति सनातनः प्रभुः ।
स उत्तमः सोऽव्ययसंज्ञकः परः प्राणो मनो वागिति तस्य विक्रमाः" ।।२१।।



५–बलरससमन्वयाद् बलावतारो महान् योनिः ।

बल एवं रस के समन्वय से (रसवद् बल से) बलावतार महान् योनि की उत्पत्ति—

१ गीता ६।१८ । २ गीता १५।१७ ।

जिस समय बल के द्वारा रस मुक्त हो जाता है तो ऐसी हालत में यह रस-बलस्वरूप में ही परिणत हो जाता है अर्थात् वहाँ बल का भाग ही उल्बण रहता है। इस प्रकार से जब रस बल का सम्बन्ध विभूत्या यदि होता है, तब वह सत्त्व नामक योनिमहान् की उत्पत्ति होती है, अर्थात् बल यदि रस के साथ विभवसम्बन्ध करता है तो वह योनि सत्त्वप्रधाना कहलाती है एवं यदि बल का रस के साथ निर्ग्रन्थिबन्धन होता है तो वह रजःप्रधाना योनि कहलाती है एवं सग्रन्थिबन्धन से यही योनि तमःप्रधाना बन जाती है–इस प्रकार इन्हीं सम्बन्धों के तारतम्य से बल के एवं रस के सम्बन्ध से (बल में रस की मुक्ति से) अर्थात् रसवद् बल से वह योनि तीन प्रकार की होती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथाशिते तत्र रसे बलेन रसः स जायेत बलस्वरूपः।
सत्त्वं विभूत्याथ रजस्तु योगात् तमस्तु बन्धात् त्रिविधः स योनिः" ॥२२॥

इस प्रकार से पूर्व की तरह यहाँ पर भी सत्त्व रज पर अध्यारूढ (सवार) है एवं रज तम पर अध्यारूढ है। इस प्रकार क्रमशः आगे में पूर्व का अध्यारूढ रहता है, चूँकि एक पर एक सवार रहता है, अतएव इन तीनों के परस्पर सम्बन्ध रहने पर भी समन्वयाभावात् तीनों के मेल से सृष्टि नहीं होती, क्योंकि सृष्टि समन्वय से ही होती है। जैसा कि भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

"तत्तु समन्वयात्"

जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने भी कहा है—

"सत्त्वं रजस्येव रजस्तमस्यध्यूढं तदित्थं क्रमशः परस्मिन्।
पूर्वं तदध्यूढमतो न सर्गः सम्बन्धसत्त्वेऽप्यसमन्वितत्वात्" ॥२३॥

इस प्रकार से मृत्यु में रस के तारतम्य से सत्त्व-रज एवं तम ये तीन गुण उत्पन्न होते हैं। बस, ये तीनों के परस्पर मिलने से जो एक मूर्ति बनती है–वही बल का अवतार कहा जाता है–अर्थात् पुरुष की तरह इस प्रकृति में भी तीन ही पार्ट होते हैं, बस इसी प्रकृति को दार्शनिक लोग महान् कहा करते हैं–इस प्रकार न केवल पुरुष से ही सृष्टि होती है एवं न केवल प्रकृति से ही सृष्टि होती है–अपि तु, इनके परस्पर समन्वय से ही सृष्टि होती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"त्रयो गुणाः सत्वरजस्तमांसि भवन्ति मृत्यौ रसतारतम्यात्।
अन्योन्यसाहित्यकृतैकमूर्तिर्बलावतारो महदुच्यते सः" ॥२४॥

६–अव्ययमहत्समन्वयाद् रसावतारोऽक्षरपुरुषः ।
महदव्ययसमन्वयाद् बलावतारोऽहंकारः ।

अव्यय (वाक्) और महत् के (तम) समन्वय से रसावतार अक्षर पुरुष की उत्पत्ति एवं महत् एवं अव्यय के समन्वय से बलावतार अहंकार की उत्पत्ति—

हमने पूर्व प्रकरण में बतला दिया है कि जब रसबल की परस्पर भुक्ति होती है तभी नयी सृष्टि पैदा होती है–इस प्रकार से जब रस बल को खा जाता है तो ऐसे बलवद्रस से प्रथम प्रथम अव्ययपुरुष का अवतार होता है एवं रस को बल खा जाता है तो ऐसे रसवद् बल से महान् (प्रकृति) का अवतार होता है । इस प्रकार रसबल की अशिति से प्राथमिक सृष्टि अव्यय एवं महान् की होती है ।

बस, आगे की अक्षरादि सृष्टियाँ इन्हीं दोनों के समन्वय से होती हैं–उसे ही बतलाते हैं । अव्ययपुरुष में मन-प्राण और वाक्–ये तीन पार्ट विभूत्यादि सम्बन्ध से बतलाए गए हैं । इनमें से जो वाक्रूप रस है–उसमें महद्बल (महान् का तमोभाग) स्वरूपसम्बन्ध से जब समन्वित होता है तो उनके परस्पर भुक्त होने से दो प्रकार का सर्ग होता है अर्थात् जब वाक्रूपी रस तमोरूप बल को खा जाता है तो ऐसे बलवद्रस से अक्षरपुरुष की उत्पत्ति होती है । जब तमोरूपबल वाक्रूपरस को खा जाता है तो ऐसे रसवद्बल से (महान् से) अहंकार की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार अव्यय से एवं महान् से अक्षर एवं अहंकार की सृष्टि होती है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथाव्यये वाचि रसे महद्बलं स्वरूपसम्बन्धवशेन सृज्यते ।
सर्गो द्विधा स्यादितरेतराशनाद्रसोऽक्षरोऽहंकरणं बलं तथा" ॥२५॥

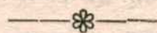
इस प्रकार यह जो अक्षर की सृष्टि बतलाई है उसमें भी अव्ययवत् तीन पार्ट समझने चाहिएँ अर्थात् उस अव्यय वाक् का महान् तम के साथ विभूतिसम्बन्ध होता है तो वह मन कहलाता है एवं योग से प्राण एवं बन्ध से वाक् कहलाता है । इस प्रकार से परस्पर तीनों को मिलाकर जो एक मूर्ति बनती है–वही अक्षर कहलाता है और इसे ही रसावतार कहते हैं । यहाँ पर जो वाक्, प्राण, मन बतलाए हैं–वह उस अव्यय के कोशरूप जो वागादि हैं–उनमें से निकले हुए समझने चाहिएँ । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"मनो विभूत्या भवतीह योगात् प्राणोऽथ बन्धादिह जायते वाक् ।
अन्योन्यसाहित्यकृतैकमूर्तिः स्यादक्षरः सोऽस्ति रसावतारः" ॥२६॥

इस प्रकार अहंकार की सृष्टि में भी महान् की सृष्टिवत् तीन ही पार्ट समझने चाहिएँ । अर्थात् उस महान् तम (बल) का अव्यय वाक् के साथ जब विभूति सम्बन्ध होता है तो वह बल सात्त्विक कहलाता है एवं योग से राजस एवं बन्ध से तामस कहलाता है ।

इस प्रकार से तीनों के परस्पर मेल से जो एक स्वरूप उत्पन्न होता है-उसे ही अहंकृति नाम से कहते हैं। वहाँ पर भी जो सात्त्विकादि हैं-वे महान् में स्थित-सात्त्विकादि कोश में से निकले हुए ही समझने चाहिएँ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सत्त्वं विभूत्याथ रजस्तु योगात् तमस्तु बन्धात् स बलावतारः।
अन्योन्यसाहित्यकृतैकमूर्तिः प्रजायतेऽहं कृतिसंज्ञयासौ" ॥२७॥



७—अक्षराहंकाराभ्यां रसावतारः क्षरो बलावतारो विशेषश्च।

अक्षर और अहंकार के समन्वय से रसावतार क्षर एवं अहंकार और अक्षर के समन्वय से बलावतार विशेष (मात्रा) की उत्पत्ति—

जिस समय अक्षरपुरुषस्थित वाक्रूपरस में अहंकार स्थित जो तम का भाग है-उसका स्वरूप-सम्बन्ध से परस्पर मेल होता है तो दो प्रकार की सृष्टि होती है-जब इनमें परस्पर भुक्ति होती है तो रसरूप क्षर एवं बलरूप विशेषों की उत्पत्ति होती है अर्थात् जब वाक्रूपरस अहंकाररूप तमोबल को खा जाता है तो ऐसे बलवद् रस से रसरूप क्षर की सृष्टि होती है एवं जब अहंकाररूप तमोबल वाक्-रूपरस को खा जाता है तो रसवद्बल से विशेष की सृष्टि होती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथाक्षरे वाचि रसेऽप्यहंकृतिः स्वरूपसम्बन्धवशेन सृज्यते।
सर्गो द्विधा स्यादितरेतराशनाद्रसः क्षरस्तत्र बलं विशेषकाः" ॥२८॥

जिस समय अक्षर-वाक् का अहंकार के तम के साथ विभूतिसम्बन्ध होता है तो वह क्षर 'मन' कहलाता है एवं योगसम्बन्ध से प्राण एवं बन्धसम्बन्ध से वाक् कहलाता है-इस प्रकार परस्पर तीनों के मिलने से जो एक स्वरूप बनता है-वह रसावतार क्षर कहलाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"मनो विभूत्या भवतीह योगात् प्राणोऽथ बन्धादिह जायते वाक्।
अन्योन्यसाहित्यकृतैकमूर्तिः क्षरः स जायेत रसावतारः" ॥२९॥

इसी प्रकार जब अहंकारस्थित तमोबल का अक्षरस्थित वाक्रूप से विभूतिसम्बन्ध होता है तो वह विशेषसात्त्विक कहलाता है एवं योगसम्बन्ध से राजस एवं बन्धसम्बन्ध से तामस कहलाता है-इस प्रकार तीनों के परस्पर मिलने से जो एक स्वरूप बनता है-इसे विज्ञानशास्त्र में विशेष नाम से कहा जाता है-जो कि मृत्युस्वरूप है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सत्त्वं विभूत्याथ रजस्तु योगात्तमस्तु बन्धात् स बलावतारः ।
अन्योन्यसाहित्यकृतैकमूर्तिविशेषसंज्ञो भवतीह मृत्युः" ।।३०।।

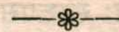
इस प्रकार से जब क्षरवाक् में 'विशेष' स्वरूपसम्बन्ध से यदि समन्वित होगा तो ऐसे क्षर से एवं विशेष से अतिरिक्त कोई तीसरी चीज पैदा नहीं होगी क्योंकि इसी क्षर और विशेष पर भौतिक सृष्टि (मेटीरियल) समाप्त हो जाती है, अतः इसके बाद क्षर रस का एवं विशेष बल का भले ही कितना ही सम्बन्ध हो—पर इससे कोई अपूर्व सृष्टि नहीं हो सकती ।

इस प्रकार से अव्यय—महान् एवं अक्षर और अहंकार की जो सृष्टि है—वह असंग सृष्टि कहलाती है अर्थात् अव्यय—महान् एवं अक्षर और अहंकार से स्थानावरोध नहीं होता है । परन्तु जो क्षर एवं विशेष (शब्दरसरूपादितन्मात्रा) की सृष्टि है—वह जरूर स्थानावरोधक (वामच्छद) समझनी चाहिए, क्योंकि मेटिरीयल (भौतिक) पदार्थसृष्टि इसी क्षर से प्रारम्भ होती है । बस, इस प्रकार—

१—अव्यय	२—महान्
३—अक्षर	४—अहंकृति
५—क्षर	६—विशेष

विश्व के ये ही कुल ६ तत्त्व समझने चाहिएँ । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथ क्षरे वाचि रसे विशेषकः स्वरूपसम्बन्धवशेन सृज्यते ।
किन्तु क्षराद्वाऽथ विशेषतोऽपि वाऽतिरिच्य रूपं न विजायते ततः" ।।३१।।



(८)—अव्ययाक्षरक्षराणां पुरुषाणां महदहंकारविशेषाणां प्रकृतीनां चान्योन्यवैधर्म्यम् ।

अव्यय—अक्षर एवं क्षर पुरुषों का एवं महत्—अहंकार और विशेष प्रकृतियों का परस्पर वैधर्म्य बतलाना—

जिस स्वरूपसम्बन्ध का हम पहले जिक्र कर आए हैं— वह इस विज्ञान शास्त्र में दो प्रकार का माना जाता है—१-विशुद्धस्वरूप संसर्ग २-सृष्टस्वस्वरूपसंसर्ग । इन दोनों में से जो सृष्टस्वरूपसम्बन्ध है-वह भी १-सग्रन्थिकस्वरूप सम्बन्ध एवं २-अग्रन्थिकस्वरूपसम्बन्ध—इन भेदों से दो प्रकार का है— इस प्रकार स्वरूपसम्बन्ध १-विशुद्ध, २-अग्रन्थिकसृष्ट, ३-सग्रन्थिकसृष्ट—इन तीन भेदों से—तीन प्रकार का समझना चाहिए । सारांश यह है कि पूर्वोक्त १-विभूति, २-योग, ३-बन्ध—सम्बन्धों को ही यहाँ प्रकारान्तर से बतलाते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्वरूपसंसर्ग इह द्विधायं विशुद्धक्लृप्तोऽप्यथ सृष्टक्लृप्तः ।
संसृष्टक्लृप्तोऽपि पुनर्द्विधा स्यात् सग्रन्थिकाग्रन्थिकभेदक्लृप्तः" ।।३२।।

इन्हीं तीनों सम्बन्धों को उदाहरण द्वारा समझाते हैं-हमने पूर्व प्रकरण में बतलाया था कि प्रथम प्रथम रसबल की भुक्ति से प्राथमिकसृष्टि अव्यय की होती है-उसमें रसबल के विभूत्यादि सम्बन्ध से वाक्, प्राण, मन-तीन भेद होते हैं-इस प्रकार से इन तीनों को मिलाकर प्राथमिक विशुद्ध रसावतार की जो उत्तम सृष्टि होती है-उसे अव्यय कहते हैं- अर्थात् इस सृष्टि में रसबल का सम्बन्ध जिस तरह पानी में सूर्य्य का सम्बन्ध है-तद्वत् समझना चाहिए । इस अव्यय के बाद इसके वाक् में महान् के-तम के परस्पर भुक्त होने से जो सृष्टि होती है-उसे अक्षर सृष्टि एवं अहंकारसृष्टि कहते हैं । अव्यय के बनिस्पत अक्षर में रसबल का जो सम्बन्ध है-वह कुछ घनिष्ट है एवं अक्षर के वाक् में अहंकार के बल के परस्पर भुक्त होने से जो सृष्टि होती है-उसे क्षर एवं विशेष सृष्टि कहते हैं । इस क्षर में अक्षर से ज्यादा ग्रन्थि-बन्धन समझना चाहिए-सारांश यह हुआ कि रसबल के विशुद्धसम्बन्ध से अव्यय एवं जब अव्ययरस में बल की और घनिष्ठता आ जाती है तो अक्षर की एवं जब उस रसबल का अत्यन्त ही ग्रन्थिबन्धन हो जाता है तो अक्षर की सृष्टि होती है । इसी प्रकार विशुद्ध बलरस के सम्बन्ध से महान् की एवं कुछ घनिष्टता होने पर अहंकार की एवं सर्वथा ही घनिष्ठता होने पर विशेष की सृष्टि होती है-इसी को बतलाते हैं—

शुद्ध निरूपित (रसबल के प्राथमिक सम्बन्ध से पैदा होने वाले) जो तीन सम्बन्ध (विभूति, योग, बन्ध) हैं-उनसे जो वाक्, प्राण, मन पैदा होते हैं-उन तीनों आत्मस्वरूपों से जो पहली सृष्टि होती है-उसे परसृष्टि कहते हैं एवं वह त्रैधातव्य आत्मा अव्यय एवं उत्तम नाम से कहा जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सर्गैस्त्रिभिः शुद्धनिरूपितैस्तैर्भवन्ति वाक्प्राणमनांसि यानि ।
तैरात्मभिर्यः प्रथमः प्रवृत्तः परः स आत्माऽव्यय उत्तमश्च" ॥३३॥

इसी प्रकार सृष्टनिरूपित (अव्यय के रसबल से पैदा होने वाले) जो तीन सर्ग (विभूति, योग, बन्ध) हैं-उनसे जो वाक्, प्राण, मन पैदा होते हैं-उन तीनों आत्मस्वरूपों से जो द्वितीय सृष्टि होती है-उसे अवरसृष्टि कहते हैं एवं यही अक्षर कहलाता है। बस, इसी त्रैधातव्य आत्मा को परावर भी कहा करते हैं। यहाँ पर जो सम्बन्ध बतलाया गया है-वह अग्रन्थिक समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा ने कहा है—

"सर्गैस्त्रिभिः सृष्टनिरूपितैस्तैर्भवन्ति वाक्प्राणमनांसि यानि ।
अग्रन्थिकैस्तैरपरः प्रवृत्तोऽक्षरः स आत्मा स परावरश्च" ॥३४॥

इस प्रकार संसृष्टि संसृष्ट से निरूपित (अव्यय की सृष्टि से संसृष्ट) जो अक्षर है-उसमें (रस-बल के) विभूत्यादि जब तीन सम्बन्ध फिर होते हैं ' उस सम्बन्ध से जो वाक्, प्राण एवं मन बनता है-उन तीनों आत्मस्वरूपों को अवर आत्मा कहते हैं। बस, यही तीसरी अनित्य (अक्षरधिया) क्षर की

सृष्टि समझनी चाहिए-यह जो क्षर की सृष्टि है-उसे सग्रन्थिबन्धन युक्त समझनी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"संसृष्टिसंसृष्टनिरूपितैस्तैर्भवन्ति वाक्प्राणमनांसि यानि।
सग्रन्थिकैस्तैरवरोऽयमात्माऽभवत् तृतीयः क्षर इत्यनित्यः" ॥३५॥

इसी प्रकार से विशुद्ध रसबल की भुक्ति (रसवद्बल) से जो सृष्टि होती है-उसे महान् (योनि) सृष्टि कहते हैं एवं संसृष्ट जो महान् है-उसमें जब फिर रसबल की भुक्ति होती है तो अहंकार की उत्पत्ति होती है। यहाँ पर यह बलरस का अग्रन्थिकबन्धन समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एवं स योनिर्महदाख्ययाऽभूत् संशुद्धयोरेव तयोः प्रसर्गात्।
संसृष्टयोश्चाप्यनयोः प्रसर्गादभूदहंकार इतीह योनिः" ॥३६॥

इस प्रकार संसृष्टि-संसृष्ट समन्वय से (महान् से संसृष्ट जो अहंकार-सृष्टि है-उसमें जब रसबल का समन्वय होता है उससे) विशेष की सृष्टि होती है-यह विशेष क्षर की योनि समझनी चाहिए-यहाँ जो सम्बन्ध है-वह सग्रन्थिकबन्धन समझना चाहिए। इस प्रकार से यह विशेष सग्रन्थिक है एवं अहंकार और महत् निर्ग्रन्थिक है-बस, यही इनमें परस्पर -वैधर्म्य है। सारांश यह हुआ कि अव्यय असंग है एवं अक्षर कुछ बन्धन वाला है एवं क्षर सर्वथा ग्रन्थिबद्ध है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"संसृष्टिसंसृष्टसमन्वयाच्चाभवद्विशेषः क्षरयोनिरेषः।
सग्रन्थिकस्तत्र विशेष एषोऽस्त्यग्रन्थि चाहंकरणं महच्च" ॥३७॥

—❀—

६—कार्य्यब्रह्मणामिन्द्रवाय्वग्नीनां स्वरूपनिर्देशः।

कार्य्यब्रह्म जो इन्द्र-वायु एवं अग्नि हैं-उनके स्वरूप का निर्देश—

पूर्वप्रकरण में हमने प्रत्येक पुरुष में मन-प्राण एवं वाक्-इस प्रकार से तीन-तीन थोक बतलाए हैं-वे जो तीनों पार्ट हैं- उन तीनों ही पुरुषों को अलग-अलग करके समझने चाहिएँ-अर्थात्-१-मनोमय पुरुष, २-प्राणमय पुरुष, ३-वाङ्मय पुरुष। इन्हीं उपरोक्त भिन्न-भिन्न पुरुषों के वीर्य्य से (प्रभाव से) जो कार्य-ब्रह्म उत्पन्न होते हैं-उनको क्रमशः बतलाते हैं अर्थात् अव्ययस्थित मनोवीर्य्य से जो कार्यब्रह्म उत्पन्न होता है-उसका क्या नाम है एवं प्राण से पैदा होने वाले का क्या नाम है एवं वाक् से पैदा होने वाले का क्या नाम है-यह बतलाते हैं।

परन्तु यहाँ पर जो मनोमयादि वीर्य्यों से कार्यब्रह्मों की उत्पत्ति बतलाई जाती है-उन प्रत्येक में मन, प्राण एवं वाक्-तीनों हिस्से समझने चाहिएँ। जैसे मनोमय कार्य्यब्रह्म है-इन्द्र तो इसमें केवल मन का हिस्सा ही नहीं समझना चाहिए अपि तु, तीनों का ही समझना चाहिए-चूंकि यहाँ पर मन का भाग उल्बण रहता है, अतः 'मनोमय' ऐसा व्यवहार किया गया है। बस, यही क्रम सर्वत्र कार्य्यब्रह्मों में समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"त्रयोऽप्यमी स्युः पुरुषाः पृथग्विधामनोमयाः प्राणमयाश्च वाङ्मयाः।
तद्वीर्य्यभूतानि तु यानि कार्य्यवद् ब्रह्माणि तानि त्रिविधानि वच्म्यतः" ॥१॥

पूर्वोक्त १-शुद्ध (विभूति), २-अग्रन्थिक (योग), ३-सग्रन्थिक (बन्ध) भेद से यह मन, प्राण एवं वाक् तीन-तीन प्रकार का होता है-अर्थात् अव्यय के मन-प्राण-वाक् शुद्ध, अक्षर के मन-प्राण-वाक् अग्रन्थिक एवं क्षर के मन-प्राण-वाक् सग्रन्थिक समझने चाहिएँ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है —

"सग्रन्थिकाग्रन्थिकशुद्धभेदात् त्रिधामनः स्यात् त्रिविधा तथा वाक्।
प्राणस्त्रिधा स्यात् प्रथमं द्वितीये तेषां द्वितीयं तु पुनस्तृतीये" ॥२॥

इस प्रकार से अव्ययादि में वर्तमान मन प्राणादि तीनों से निर्मित जो पुरुष है-वह तीन प्रकार का होता है अर्थात्-जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है-उसी उसका भिन्न-भिन्न नाम हो जाता है। इस प्रकार से जो कार्य्यब्रह्म अव्यय के मन भाग से अवच्छिन्न होता है- उस कार्य्यब्रह्म को इन्द्र कहते हैं अर्थात्-जिन कार्य्यब्रह्मों में अव्ययमन उल्बण रहता है-उसको हम विज्ञान शास्त्र में इन्द्रनाम से पुकारेंगे। जो कार्य्यब्रह्म अव्यय के प्राणभाग से अवच्छिन्न रहता है-उसे वायुपुरुष कहते हैं। क्योंकि यहाँ पर प्राणभाग ही उल्बण है। एवमेव जो कार्य्यब्रह्म अव्यय के वाक्भाग से अवच्छिन्न रहता है-उसे अग्निपुरुष कहते हैं, क्योंकि यहाँ वाक्भाग ही उल्बण रहता है। इस प्रकार से १-इन्द्र, २-वायु, ३-अग्नि-इन तीन पुरुषों की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार से ये जो तीनों कार्य्यब्रह्म बतलाए हैं-वे फिर तीन प्रकार के कहलाते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"त्रिभिः कृतस्तैः पुरुषस्त्रिधा सोऽवच्छिद्यते यो मनसा स इन्द्रः।
प्राणेन वायुः पुरुषोऽथ वाचा सोग्निस्त्रयस्ते त्रिविधाः पुनः स्युः" ॥३॥

अव्यय के मन-प्राण एवं वाक्-जिन जिन कार्यब्रह्मों में आकर उनकी आत्मा (अपनी चीज) बन गए हैं—उनके (अर्थात्-प्रवर्ग्य मन-प्राणादि के) अतिरिक्त जो शुद्ध अव्यय के वाक्-प्राण-मन हैं अर्थात्-जितना हिस्सा अव्यय के मनादि का कार्य्यब्रह्मों में आकर इन्द्र-वायु-अग्नि नाम से परिणत हो गया है-उससे शुद्ध अलग बचा हुआ जो अव्यय में मन, प्राण एवं वाक् हैं-उनको क्रमशः १-ज्योतिः, २-विधृतिः

एवं ३-प्रतिष्ठा-इस नाम से पृथक् समझना चाहिए अर्थात्-इस कार्य्यब्रह्मरूप इन्द्र में अव्ययस्थित ज्योति का सदा आगमन होता है-बस, यही क्रम सर्वत्र समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तेषामबद्धान्यपि चाव्ययानि शुद्धानि वाक्प्राणमनांसि यानि।
तानि प्रतिष्ठा विधृतिश्च तद्वज्ज्योतिस्तथेति क्रमतः प्रथन्ते" ॥४॥

अब ज्योति आदि का विभाग बतलाते हैं-जो हमने ज्योति बतलाया है-उसको अव्ययमन समझो एवं विधृति प्राण समझो एवं प्रतिष्ठा वाक् समझो। इस प्रकार इस ज्योति में (मनोमय ज्योति में) चित् (ज्ञान-चेतना) रहता है अर्थात्-ज्योति को ही चेतना एवं ज्ञान कहते हैं। और जो विधृति है-उसमें आनन्द रहता है अर्थात् संसार में आनन्द-विधृति (पकड़ से-वस्तु के ग्रहण से) से ही होता है, अतः विधृति आनन्दस्वरूप समझनी चाहिए। और जबकि प्रतिष्ठा होती है-तभी वह पदार्थ 'सत्' कहलाता है अर्थात् प्रतिष्ठा को ही सत् कहते हैं। इस प्रकार से इसी मनोमय, प्राणमय एवं वाङ्मय अव्यय को 'सच्चिदानन्द' कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ज्योतिर्मनः स्याद्विधृतिः पुनः स्यात् प्राणः प्रतिष्ठा पुनरत्र वाक् स्यात्।
चिज्ज्योतिषि स्याद्विधृतौ तु *मुत्स्याद्यतः प्रतिष्ठा तत एव सत् स्यात्" ॥५॥

इन ज्योति-विधृति एवं प्रतिष्ठा में से जो ज्योति रस है-वह फैलाव करने वाला होता है अर्थात्-स्वभाव से ही यह ज्योति (ज्ञान) विकाशशील है एवं ठीक इसके विपरीत जो प्रतिष्ठारस (वाक्) है-वह प्रत्येक पदार्थ का आकुञ्चन करने वाला है अर्थात्-जब किसी पदार्थ में प्रतिष्ठा होती है-तभी वह परिमित (संकुचित) प्रतिभासित होता है-अन्यथा तो उसकी उपलब्धि ही नहीं हो सकती है एवं जो बल में संतनन (तनाव) होता है-वह इसी विधृतिरस से होता है अर्थात्-जैसे सूर्य्य ने पृथिवी को विधृति से पकड़ रखा है एवं पृथिवी ने सूर्य्य को। सारांश यह हुआ कि अखिल विश्व के पदार्थों में परस्पर यह विधृति हो रही है। इस प्रकार से प्रत्येक पदार्थ में प्रसरण (ज्ञान) एवं प्रतिष्ठा (सत्ता-पदार्थस्वरूप की अवधि) एवं एक से एक की विधृति-ये तीनों धर्म्म रहते हैं। इन ज्योति-प्रतिष्ठा एवं विधृति का जो आयतन है-वह इन अक्षरों को ही समझना चाहिए अर्थात्-विना अक्षर के स्वातन्त्र्येण इनकी उपलब्धि सर्वथा नहीं हो सकती।

इस प्रकार से अव्यय के मन-प्राण से इन्द्र (ज्योति), वायु (विधृति), अग्नि (प्रतिष्ठा)-ये तीन कार्यब्रह्म पैदा होते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ज्योतिः प्रसाराय रसः प्रतिष्ठा त्वाकुञ्चनायास्ति रसोऽखिलेषु।
भवेद्बले संतननं विधृत्या स्युरक्षराण्यायतनान्यमीषाम्" ॥६॥

* 'मुत्' = मोद-आनन्द।

इसी प्रकार से जो अक्षर में जो मन-प्राण-वाक हैं–उनको क्रमशः जो कि कार्य्यब्रह्म मन से अवच्छिन्न रहता है–उसे **अन्तर्य्यामी** कहते हैं एवं जो प्राण से परिच्छिन्न रहता है–वह **सूत्रात्मा** नाम से प्रसिद्ध है एवं जो वाक् है–वह **सत्य** नाम से कहा जाता है–इस प्रकार क्रमशः १-अन्तर्य्यामी (मन), २-सूत्रात्मा (प्राण), ३-सत्य (वाक्)–तीन नाम मन आदि के होते हैं। इस प्रकार से उन तीन मनोमय, प्राणमय, वाङ्मय पुरुषों से यह अन्य १-अन्तर्य्यामी, २-सूत्रात्मा, ३-सत्य–त्रिपुरुष उत्पन्न होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथाक्षराण्याहुरिमानि चान्तर्यामी मनः सत्यमिदं तु सा वाक्।
प्राणस्तु सूत्रात्मतया प्रसिद्धस्त्रिपुरुषोऽन्यः पुरुषस्त्रिभिस्तैः" ।।७।।

यह जो अन्तर्य्यामी आदि तीनों पुरुष बतलाए हैं–वे परस्थान (अव्ययस्थान) निरूपित जो ज्योति आदि हैं–उनके आयतन बनते हैं। अर्थात् इसी–अक्षररूप आयतन में अव्ययपुरुष निवास करता है–उन परस्थान निरूपित ज्योति आदि का–क्रमशः विभाग बतलाते हैं–इस अक्षरस्थित अन्तर्यामी में यह ज्योति गृहीत होती है एवं जो अक्षरस्थित सत्य है–उसमें प्रतिष्ठा रहती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एतानि सन्त्यायतनानि तेषां क्रमात् परस्थाननिरूपितानाम्।
ज्योतिर्गृहीतं भवतीदमन्तर्यामिण्यथो सत्यगता प्रतिष्ठा" ।।८।।

एवं सूत्रात्मा के सम्बन्ध से विधृति गृहीत होती है–इस प्रकार से ज्योति आदि तीनों धर्म्मों से यहाँ पर अक्षरस्थित अन्तर्यामी आदि धर्म्मी कहलाते हैं। अर्थात्–सत्य का धर्म्म है–प्रतिष्ठा एवं अन्तर्यामी का धर्म्म है--ज्योति एवं सूत्रात्मा का धर्म्म है–विधृति। कहने का सारांश यही है कि ज्योति आदि धर्म्म हैं और धर्म्म विना धर्म्मी के रह नहीं सकते, अतः उनके धर्म्मी ये सत्यादि तीनों बनते हैं। इस प्रकार वे ज्योति आदि शक्तियाँ हैं एवं अन्तर्यामी आदि शक्तिमान् हैं, अतः शक्तिमानों (अन्तर्यामी) के विना शक्तियों का प्रातिस्विकस्वरूप कहीं भी उपलब्ध नहीं हो सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सूत्रात्मलाभाद्विधृतेर्हि लाभो धर्मैस्त्रिभिस्तैरिह धर्मिणस्ते।
ताः शक्तयोऽमी खलु शक्तिमन्तो न तैर्विनैषां क्वचिदात्मलाभः" ।।९।।

इसी प्रकार से जो क्षरस्थित मन, प्राण, वाक् हैं–उनसे क्रमशः मन भाग से प्रज्ञा (प्रज्ञामात्रा[1]) का स्वरूप बनता है एवं प्राण से तेज (तेजमात्रा) का स्वरूप बनता है एवं वाक् से भूत (भूतमात्रा) बनते हैं।

१ द्रष्टव्य-मूलसंस्कृतपाठ ९वें सूत्रान्तर्गत तालिका इसी ग्रन्थ के ३८० पृष्ठ पर।

इस प्रकार क्रमशः इस क्षर से प्रज्ञा, तेज, भूत की उत्पत्ति समझनी चाहिए। चूँकि क्षर नाना हैं अतः ऐसे क्षरों में जब अक्षर स्थित होते हैं–इस कारण से एकस्वरूप वाला भी यह अक्षर–इन क्षरों में नाना भाव को प्राप्त हो जाता अर्थात्–क्षर भेद से अक्षर भेद हो जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रज्ञा मनः प्राण इहास्ति तेजो वाग्भूतमित्थं क्षरतोऽपि विद्यात्।
क्षरेषु तिष्ठन्ति यदाक्षराणि नानात्वमेतान्युपयन्ति तेन" ॥१०॥

इस प्रकार से अव्यय और अक्षर, विशेष के भूतादिमात्राओं के–पैदा करने वाले नहीं हैं, अतः यह सदा एक ही स्वरूप से अर्थात् एकत्वरूपेण ही उपलब्ध होते हैं। इसी कारण से ज्योति ज्योति का जितना भाग (स्वरूप) है–वह नाना–भाव को प्राप्त नहीं होता अर्थात्–प्रकाशत्वेन सभी प्रकाश एक-रूप ही समझना चाहिए। एवमेव अन्तर्यामी का जितना भाग है–वह भी नाना-भाव को प्राप्त नहीं होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"परोऽक्षरो वा न विशेषकर्मा तस्मात्सदैकत्वमिमौ लभेते।
ज्योतिः सरूपं बहुनास्ति नान्तर्यामी सरूपो बहुधा प्रपन्नः" ॥११॥

परन्तु यदि कहीं पर जो हम ज्योति के नानात्व का प्रत्यक्ष करते हैं एवं जो अन्तर्यामी का हम नाना प्रकार का भेद देखते हैं अर्थात्–प्रतिवस्तु जो ज्योति एवं अन्तर्यामी का भेद देखते हैं–इस प्रकार इनके एक रहने पर भी उपाधिक्षर के भेद से ही इनमें भेद बतलाया जाता है, वस्तुतः प्राति-स्विकरूपेण इनमें कुछ भी भेद नहीं है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यज्ज्योतिषः क्वापि बहुत्वमन्तर्यामी क्वचिद्वा बहुधोदितः स्यात्।
तत्रास्य चैकस्य सतोऽप्युपाधिक्षरस्य भेदादिव भेदमाहुः" ॥१२॥

इस प्रकार क्षर क्षर का जितना भाग है–वह सारा विशेषों को उत्पन्न करने वाला (विशेष कर्म्मा) समझना चाहिए। इस प्रकार वह क्षर स्वतन्त्ररूपेण नाना-भाव से उत्पन्न हुआ करता है। सारांश यह हुआ कि उस क्षर से प्रज्ञास्वरूप नाना-भाव पृथक्–पृथक् पैदा होते रहते हैं एवं फिर अपूर्व-अपूर्व भाव पैदा होते रहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"क्षरस्तु सर्वोस्ति विशेषकर्मा स्वतन्त्र उत्पद्यत एष नाना।
प्रज्ञाः सरूपाः पृथगुद्भवन्त्यो नश्यन्त्यपूर्वाः पुनरुद्भवन्ति" ॥१३॥

इस तरह यह प्रज्ञा एवं भूतमात्रा साथ मिलकर प्राणरूप देव में युक्त रहती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रज्ञाधिमात्रा अपि भूतमात्राः प्राणाधिमात्रा बह्वो भवन्ति ।
प्रज्ञाश्च भूतानि सहान्वितानि प्राणेषु देवेषु समर्पितानि" ॥१४॥

सम्पूर्ण कथन का सारांश बतलाते हैं—

पूर्वोक्त प्रकरण में हमने बतलाया है कि अव्यय का 'मन' ज्योति कहलाता है एवं अक्षर का 'अन्तर्य्यामी' कहलाता है एवं क्षर का 'प्रज्ञा' कहलाता है । इसी प्रकार अव्यय का प्राण 'विधृति' कहलाता है एवं अक्षर का प्राण 'सूत्रात्मा' कहलाता है एवं क्षर का प्राण 'तेज' कहलाता है । इसी प्रकार अव्यय का वाक् 'प्रतिष्ठा' कहलाता है एवं अक्षर का वाक् 'सत्य' कहलाता है एवं क्षर का वाक् भूत कहलाता है । इस प्रकार ये सब मिलकर प्रत्येक पदार्थ में रहा करते हैं अर्थात्—प्रत्येक पदार्थ को अव्यय, अक्षर, क्षर—इन तीनों से युक्त समझना चाहिए, अतएव पुरुष (वस्तुजात) त्रैधातव्य बतलाया जाता है ।

बस, जिसको (अव्यय मन को) हमने ज्योति बतलाया है—उसके ग्रहण करने से अक्षर मन **ज्योतिर्मयात्मा** कहलाता है—क्योंकि अव्यय की ज्योति का प्रकाश इसी अक्षर मन पर पड़ता है । अर्थात् 'ज्योतिर्मयात्मा' से अक्षर समझना चाहिए एवमेव जो ज्योतिर्मय है—वह क्षर-मन कहलाता है अर्थात्—उस अक्षरात्मक ज्योति से जो ज्योति निकलती है—वह क्षर पर गाबिल रहती है, अतः इसे ज्योतिर्मय कहा है एवं शुद्ध ज्योति है—वह अव्यय का मन समझना चाहिए, क्योंकि वह ज्योति सूर्य्य के प्रतिबिम्ब के समान है । न्यायशास्त्र का नियम है कि पदार्थ ज्ञान में १-ज्ञाता, २-ज्ञेय, ३-ज्ञान—ये तीन सीगे होते हैं—इनमें से ज्योति को ज्ञानस्थानापन्न (अव्यय) समझना चाहिए । ज्योतिर्मयात्मा को ज्ञाता के स्थान में समझना चाहिए एवमेव ज्योतिर्मय को ज्ञेय के स्थान में समझना चाहिए अर्थात् उस अव्ययज्योति के प्रकाश से अक्षर प्रकाशित होता हुआ क्षर को (भूत को) प्रकाशित करता रहता है ।

बस, जिस प्रकार मन तीन नाम से—ज्योतिः, ज्योतिर्मयात्मा एवं ज्योतिर्मय—पुकारा जाता है—तद्वत् प्राण के भी (तीनों के) तीन नाम समझने चाहिएँ—जो अव्यय का प्राण है—वह विधृति कहलाता है एवं अक्षर का विधर्ता एवं क्षर का विधर्तृ कहलाता है । अर्थात् अव्यय की प्राणरूप विधृति से अक्षर का प्राण विधर्ता नाम से कहलाता हुआ क्षर के प्राण को विधृति के रूप में बनाए रखता है । इसी प्रकार वाक् के भी तीन ही नाम समझने चाहिएँ—जैसा कि गुरुवर श्री ओझाजी ने कहा है—

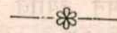
"ज्योतिर्मयात्मग्रहणं मनः स्याज्ज्योतिर्मयं ज्योतिरिति त्रिधा तत् ।
प्राणस्त्रिधा स्याद्विधृतिर्विधर्ता विधर्तृभावग्रहणश्च तद्वत्" ॥१५॥

अव्यय के वाक् को प्रतिष्ठा समझना चाहिए एवं अक्षर के वाक् को प्रतिष्ठितात्मा (प्रतिष्ठाता) नाम से ग्रहण करना चाहिए एवं क्षर वाक् को प्रतिष्ठिता (प्रतिष्ठित) समझना चाहिए । इस प्रकार

अव्ययवाक् की प्रतिष्ठा से–अक्षरवाक् प्रतिष्ठाता बनता हुआ क्षरवाक् को प्रतिष्ठित नाम से कहलवाता है । इस प्रकार से सत्ता (अव्यय) एवं सत् (क्षर) एवं सत्य (अक्षर) यही त्रयी वाक् समझनी चाहिए । इनमें से जो सत्ता एवं प्रतिष्ठा है–उनमें अर्थ का भेद नहीं समझना चाहिए अर्थात् जो सत्ता है–वही प्रतिष्ठा है ।

इस प्रकार से अव्ययस्थान ने अबद्ध १–ज्योतिः, २–विधृति, ३–प्रतिष्ठा–ये तीन एवं अक्षर-स्थान में अग्रन्थिबद्ध अन्तर्य्यामी-सूत्रात्मा-अव्यक्तसत्य–ये तीन समझने चाहिएँ एवं क्षरस्थान में प्रज्ञा (प्रज्ञामात्रा), तेज (प्राणमात्रा), भूत (भूतमात्रा)–ये तीन समझने चाहिएँ । और इन्द्र, वायुः, अग्नि–ये देवता विशेष समझने चाहिएँ । बस, सारा विश्व इसी में समाप्त समझना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रतिष्ठितात्मग्रहणः प्रतिष्ठा प्रतिष्ठितात्मेति च वाक् त्रिधा स्यात् ।
सत्ता च सत् सत्यमिति त्रयी वाक् सता प्रतिष्ठेति न भिद्यतेऽर्थः" ।।१६।।



१०–प्रकृतिविशेषाणां माया–महामाया-योगमायानां स्वरूपनिर्देशः ।

प्रकृतिविशेष माया-महामाया एवं योगमाया का स्वरूप निर्देश–

पूर्वप्रकरण में हमने रस-बल के समन्वय से सृष्टि बतलाई है । बस, इस प्रकार इस रस में बल के एवं बल-बल के समन्वय से जो ये नाना-भाव पैदा हो जाते हैं–वे कैसे हो जाते हैं–इसे समझाते हैं–जिस प्रकार से एक लकड़ी जो कि अब तक पीली थी–अग्नि के संयोग से जलकर कृष्णवर्ण की हो जाती है एवं थोड़ी देर में और अग्नि की मात्रा से वह काला वर्ण सफेद (राख) रङ्ग में परिणत हो जाता है । कहने का तात्पर्य्य यह है कि लकड़ी में जो एक पहले पीलारङ्ग था–वह कहाँ चला गया एवं वह काला रंग जिसका कि स्वप्न में भी खयाल नहीं था–कहाँ से आ गया एवं फिर वह काला रंग भी नष्ट हो कर फिर जो एक सफेद वर्ण हो गया–वह कैसे हो गया ?–इत्यादि वैचित्र्य जो हम देखते हैं–वह कहाँ से आता है ? एवं कहाँ चला जाता है–यह हम नहीं जान सकते । बस, इस वैचित्र्य का जिसका कि हमें सर्वथा बोध नहीं है–उसी को (वैचित्र्य पैदा करने वाले कारण को) इस शास्त्र में माया नाम से कहा गया है । इसी माया को अभ्व भी कहते हैं–**अभूतं भूतम् इति अभ्वम्** । अर्थात् जो मिथ्या हो कर के प्रतिभासित होता है–इसे ही माया एवं अभ्व कहते हैं, अतएव पुराणों में माया का स्वरूप बतलाया है कि—

"ना सती सा नासती–नोभयात्माविरोधतः ।
काचिद् विलक्षणा माया वस्तु प्रकृतिरिष्यते" ।।

चूँकि बल नाशवान् है-इसलिए इसे सती नहीं कह सकते, परन्तु साथ ही में जगत् का स्वरूप भी इसी के द्वारा बनता है-अर्थात्-जगत् ही इसका स्वरूप है, अतः इसे असती (मिथ्या) भी नहीं कह सकते। चूँकि सदसत् का परस्पर विरोध है, अतः इसे उभयात्मा भी नहीं कह सकते-क्योंकि भाव एवं अभाव का परस्पर विरोध है। ऐसी जो एक यह माया है-ऐसी इस माया को हम स्वीकार करते हैं। अतएव क्यों यह विचित्रभाव जगत् में पैदा हो जाते हैं?-इसका उत्तर श्रुति भी निम्नलिखित ही देती है—

"को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ।।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद" ।।[1]

जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथो रसे तत्र बलस्य सर्गादुदेति योऽयं विविधो विशेषः।
कुतः स आयाति वियाति स क्वेत्यजानता सा कथिताऽत्र माया" ।।१।।

यह जो माया है-वह १-सामान्य माया, २-महामाया एवं ३-योगमाया-भेद से तीन प्रकार की जगत् में प्रसिद्ध है-इसी योगमाया को पौराणिक लोग विष्णुमाया कहा करते हैं-**योगमाया हरेः**। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सामान्यमाया महती च मायाऽन्या योगमायेति भवन्ति मायाः।
तिस्रः प्रसिद्धा अथ योगमायां तां विष्णुमायामिति केचिदाहुः" ।।२।।

परन्तु यहाँ पर एक प्रश्न होता है कि जब रस-बल एक हैं एवं इनमें जो वैचित्र्य पैदा करने वाला एक ही अम्ब (माया) है-तो फिर इसके तीन नाम कैसे हुए?-इसी का उत्तर देते हैं-

उस व्यापक एवं असीम रस में (ब्रह्म में) जो बल है-उसे हमने मायाबल कहा है। और बल का दूसरा नाम है-कर्म्म। इस प्रकार ब्रह्म में मायाबल जो कर्म्म है-वह चूँकि तीन प्रकार का है-अर्थात्-वह अपनी स्थिति रस में तीन प्रकार से कायम करता है, अतः माया भी स्वंतः ही तीन प्रकार की हो जाती है। इस प्रकार उस अमितरस में जो बल द्वारा मिति (परिच्छेद) हो जाती है-उसी को माया कहते हैं, जो कि माया दिग्देशकाल से उपकल्पित है अर्थात्-बल ने जितने रस को दिग्देशकालाव-

१ ऋग्वेद १०।१२९।६-७।

च्छिन्न कर लिया है-वही माया कहलाती है-**मीयते-अनया-सा माया**। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"माया बलं ब्रह्मणि कर्म्म यत् तत् कर्मत्रिधा तत् त्रिविधास्ति माया।
रसेऽमिते सा मितिरेव माया दिग्देशकालैरुपकल्पिता या" ॥३॥

भगवान् ने अर्जुन से गीता में कहा है कि—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः" ॥[1]

अर्थात् सारांश यही है कि जो जैसा है-वह वैसा ही रहता है-जबकि यह सिद्धान्त है तो फिर जो एक शुद्ध अमित रस है-उसमें मिति (परिच्छेद) होना सर्वथा विरुद्ध है-क्योंकि यह जो अमित रस है-यह मित किस प्रकार से हो सकता है। इस प्रकार चूंकि अमितरस मित कभी नहीं हो सकता, अतः यह माया सर्वथा असम्भवी है-इस प्रकार से यह सर्वथा असम्भव जो अभ्व है-जिसको कि हम जगत्-रूपेण देखते हैं। वह माया वस्तुतः हमारे ख़याल में सर्वथा मिथ्या है-पर मिथ्या होते हुए भी इसको जगत्‌रूप से विद्यमान रहने से अभाव नहीं मान सकते, अतएव जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तत्रामिते सा हि मितिर्विरुद्धा कथं मितं स्यादमितं यदीदम्।
असंभवन्तीमपि लोकयामो मायाऽत्र मिथ्येति वितर्कयामः" ॥४॥

न इसको सती ही कह सकते हैं एवं न असती ही कह सकते हैं। अपि च-यह खुद मिथ्यारूप है, परन्तु जगत्-रूपेण यह सती प्रतीत होती है। इस प्रकार विरुद्ध धर्म्मद्वय से युक्त जो यह माया है-यह सर्वथा ही मिथ्या-समझनी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"न वा सती सा न च वाऽसती सा स्वतोऽसती या परतः सती या।
विरुद्धधर्मद्वययोगिनीयं मायाऽस्ति मिथ्येति वितर्कयामः" ॥५॥

चूंकि रस एकरूप है एवं अक्रिय है-एकरस-है अर्थात् अखण्ड है, अतः ऐसे अक्रियरस से सक्रिय सापेक्ष जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती एवमेव बल विना रस के कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि स्वतः यह बल जड़ है। इस प्रकार केवल बल से भी सृष्टि नहीं हो सकती, अपि तु, जब रस बल को खाकर

१ गीता २।१६।

आत्मस्वरूप बन जाता है, ऐसे रस-बल के समन्वय से नई सृष्टि होती है–यह जो सृष्टि पैदा करने वाला बल है–उसे ही मायाबल कहते हैं। इस प्रकार बलवद्रस जगत् का आत्मा जो बतलाया है–उसे ही जगत् का पिता समझना चाहिए एवं माया-बल जगत् की माता समझनी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रसोऽक्रियश्चैकरसो बलं वा यन्नीरसं तन्न पृथक् प्रवृत्तिः।
रसेन संसृज्य बलं प्रसूते मायाऽस्ति माताऽथ पिता स आत्मा" ॥६॥

सर्वप्रथम जिस व्यापक रस की जो मिति होती है–वह महामाया कहलाती हैं अर्थात्–पहले-पहल रस पर जो माया व्यवच्छेदक एक ब्रह्माण्ड का निम्र्माण करती है–तद्ब्रह्माण्डावच्छेदकावच्छेदेन जो माया है–वही महामाया कहलाती है–जिसके कि पेट में माया एवं योगमाया निवास करती हैं एवं यही माया शिव एवं विष्णु को पैदा करने वाली है। बस, यह जो महामाया है–उसे अभ्व नामक बल समझना चाहिए। यह बल 'नाम-रूप एवं कर्म्म' से व्याकृत होता है अर्थात् इसी मायाबल के कारण नाम-रूप-कर्म्म का व्यवहार होता है एवं इसी माया के तारतम्य से बन्ध, योग एवं विभूतियाँ संसार में नाना प्रकार की दिखलाई पड़ती हैं एवं इसी माया से प्रमाच्छन्द, माच्छन्द एवं प्रतिमाच्छन्दों का निम्र्माण होता है–बस, यह सारा प्रपञ्च इसी माया का समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यतोमितिः सा महती तु माया बलं हि तन्नाम च कर्म्म रूपम्।
बन्धाश्च योगाश्च विभूतयो वा मा च प्रमा च प्रतिमा च माया" ॥७॥

कहाँ तक कहें–अव्यय-क्षर किंवा अक्षर एवं जीव, ईश्वर या परमेश्वर जो भी कुछ रूप सुने जाते हैं–वे सब माया के वश से निर्म्मित होते हैं। चूँकि यह माया परमेश्वर तक की व्यवच्छेदिका है, अतएव इसे **महामाया** कहा गया है। जैसा कि गुरुवार श्री ओझा जी ने कहा है—

"परोऽवरो वाथ परावरो वा स ईश्वरो वा परमेश्वरो वा।
मायावशादेव भवन्ति रूपाण्येतानि माया महती ततः सा" ॥८॥

हमने इस रस-बल का नाना प्रकार का सम्बन्ध बतलाया है–उन्हीं सम्बन्धों में से १–विभूति, २–योग एवं ३–बन्धात्मक–जो स्वरूपसम्बन्ध बतलाया है उस स्वरूप-सम्बन्ध के कारण जब रस में बल स्थित होता है तो उसमें दो विशेष भाव पैदा होते हैं। अर्थात् जहाँ स्वरूपसम्बन्ध से रस में बल सम्बद्ध हुआ तहाँ ही उसमें दो विशेष-भाव पैदा हो जाते हैं। उन दोनों विशेषों को मात्रा एवं संस्था नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार से यह रस-बल मात्रा से संसृज्य होता हुआ एकसंस्थ कहलाने लगता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्वरूपसंसर्गवशाद्रसे स्थितं बलं विशेषद्वयमत्र भावयेत् ।
मात्रां च संस्थां च ततः स मात्रया संसृज्यते तद्वदसौ च संस्थया" ॥९॥

कहने का साराँश यह हुआ है कि प्रत्येक पदार्थ मात्रा-छन्द से एवं वर्णछन्द (संस्था) से छन्दित रहता है । यह मात्रा एवं संस्था रस-बल के समन्वय से ही उत्पन्न होती है । इस प्रकार से छन्द का स्वरूप दो प्रकार का सिद्ध हुआ–एक मात्रा एवं दूसरा संस्था । इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में जो मात्रा एवं संस्था ये जो दो विशेष-भाव बतलाए हैं–उनमें से जितना भाग दिग्देशकालावच्छिन्न है–उसे तो मात्राच्छन्द समझना चाहिए । जिसे कि वयोनाध (परिधि) भी कहते हैं । इस मात्राच्छन्द से मित्ति (परिच्छिन्न) जो वृत्त है–उसे मात्रा-वृत्त कहते हैं । क्योंकि यह वृत्त इसी मात्रा (परिच्छेद) के कारण बना है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"छन्दः स्वरूपं द्विविधं तदुक्तं या तत्र मात्रास्त्यथ याऽत्र संस्था ।
दिग्देशकालैः प्रमितिस्तु मात्रा छन्दो मितं तत्कृतवृत्तमाहुः" ॥१०॥

इस मात्रा के अन्दर जो जाति-आकृति एवं व्यक्ति का भाव होता है–उसे वर्णच्छन्द कहते हैं–इसी वर्णच्छन्द के कारण इस आकृत्यादि का भान होता है, अतः इसको वर्णवृत्त कहते हैं इस प्रकार से यह मात्रा वृत्त एवं वर्णवृत्तस्वरूप जिसका कहा जाता है–उसे ही पुरुष कहते हैं । अर्थात् प्रत्येक वस्तु में एक जो मात्रा होती है–इस मात्रा को परिच्छेद रूप समझना चाहिए । जैसे पुस्तक की यहाँ तक परिधि है–ऐसे व्यवहार में जो एक पुस्तक की चौतरफी सीमा है (हदबन्दी है) उसे ही मात्रा कहते हैं एवं उस परिच्छेद में जो पदार्थ है–जैसे पुस्तक में अक्षरादि–जिसको कि वय नाम से भी पुकारते हैं–उसे 'वर्ण' कहते हैं–बस, संसार की प्रत्येक वस्तु (पुरुष में) में मात्रा एवं संस्था–ये दो भाव विद्यमान रहेंगे–इतना ही नहीं अपि तु, इन्हीं दोनों से पुरुष (पदार्थ) का स्वरूप निर्म्मित होता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"जात्याकृतिव्यक्तिकृतिस्तु वर्णच्छन्दः कृतं तेन तु वर्णवृत्तम् ।
मात्राकृतं वर्णकृतं स्वरूपं यस्योच्यतेऽसौ पुरुषः प्रदिष्टः" ॥११॥

यह जो मात्रा-सम्बन्ध हमने बतलाया है–यह मात्रा-सम्बन्ध के उस व्यापक रस में से निकला हुआ जो औपाधिकस्वरूप है–उसी के कारण से उत्पन्न हो गया है । इसी कारण से उस रस का खण्ड हो गया है । अर्थात्–उस व्यापक रस में जितनी दूर में मात्रा-बल संसक्त होता है–उतनी दूर का रस उस माया के साथ निकल कर वह–खण्डरूप में परिणत हो जाता है । जैसे एक बडा भारी चौड़ा मैदान है–उस व्यापक मैदान में बीचों-बीच हमने २० खम्भे रोप कर जो एक अलग स्थान कायम कर लिया है–वह उस व्यापक मैदान में से निकला हुआ उस मैदान का औपाधिक समझना चाहिए । परन्तु वस्तुतः वह मैदान अब भी उतना ही मौजूद है । बस, इसी प्रकार मात्रा से रस के औपाधिक खण्ड के रहने

पर भी वस्तुतः उसमें खण्ड की किसी प्रकार से भी कल्पना नहीं हो सकती। क्योंकि हम इसका घट-स्थित आकाशवत्-अर्थ की तरह बाध देखते हैं। जिस प्रकार एक घड़े में आकाश को बन्द कर यदि बम्बई ले जाएँ तो क्या वहाँ तक वही पूर्वोक्त आकाश जाएगा? नहीं, कभी नहीं। जो आकाश हमने जयपुर में बन्द किया था वह तो वहीं रह गया, परन्तु-हम आकाश को लोटे में बाँध कर ले आए। इस प्रकार का व्यवहार जैसा मणिकाकाश-घटाकाशादि में होता है तद्वत् ही इस व्यापक रस में खण्ड व्यवहार समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"निचाय्यतौपाधिक एष मात्रा संसर्ग एते न रसस्य खण्डः।
न वस्तुगत्या परिकल्पनीयो घटस्थिताकाशवदर्थ बाधात्" ॥१२॥

संसार में जितने छोटे-छोटे रूप है एवं बडे-बडे रूप हैं-ये जो छोटे और बडे रूप हैं-वे नाना प्रकार के मृत्यु में (बल में) स्वयमेव उत्पन्न होते हैं अर्थात्-इसी बल के कारण हर समय आप से आप पदार्थों में परिवर्त्तन होता रहता है। बस, इसी मृत्यु के संसर्गरूप आवरण (परिच्छेद) से पूर्ण एवं अखण्ड जो अमृत (रस) है-वह भी खण्डवत् ही प्रतिभासित होता है वस्तुतः रस सदा अखण्ड ही समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अणूनि रूपाणि बृहन्ति नानाविधानि मृत्योः स्वयमुद्भवन्ति।
तत्सर्गरूपावरणेन पूर्णाखण्डामृतं खण्डवदेव भाति" ॥१३॥

इस प्रकार से उस अमित रस को मित करने वाले (मितिस्वरूपा) जो माया है-वह वहीं से निकलती है एवं उसी में लीन हो जाती है जैसे अभी हमारे हाथ में हलने-चलने स्वरूप माया उत्पन्न हो रही है किन्तु थोड़ी ही देर में वह माया उसी हाथ में लीन हो जाती है। इस प्रकार से यह सिद्धान्त हुआ कि जो मिति (परिच्छेद) है-वही माया है-इस मिति से जो मित होता है-वह मायी कहलाता है। इस मायी को ईश्वर कहते हैं, क्योंकि रस-बल के प्राथमिक महामाया-सम्बन्धरूप जो मिति हुई-उस मिति से जो मित हुआ-वही मायी 'ईश्वर' कहलाता है। इस ईश्वर का यह मायामय ही विश्व (शरीर) समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तस्यामितस्यापि मितिः कृतेयं माया समायाति वियाति चेयम्।
मितिस्तु माया मित एष मायीश्वरोऽस्य मायामयमेव विश्वम्" ॥१४॥

अतएव श्रुति कहती है—

"मायां तु प्रकृतिं विद्यात्-मायिनं तु महेश्वरम्"-इति ॥[1]

१ श्वेताश्वतरोप० ४।१०।

हमने बतला दिया है कि जब रस-बल का सम्बन्ध होता है तो वहाँ पर संस्था और मात्रा-यह दो विशेष सर्वप्रथम पैदा हो जाते हैं। अब इनमें से मात्रा किन-किन स्वरूपों से रहती है एवं संस्था किन-किन स्वरूपों से रहती है ? इसका विवेचन करते हैं—

इस प्रकार इस व्यापक रस में जो बल की संस्था उत्पन्न होती है-सम्बन्धभेद के कारण त्रिविध प्रकार की प्रसिद्ध है। अर्थात्-(१) विभूति संस्था, (२) योग संस्था एवं (३) बन्धसंस्था-ये ही तीन प्रकार की संस्थाएँ इस रस में उत्पन्न होती हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रसे बलस्याथ भवन्ति संस्था संसर्गभेदास्त्रिविधाः प्रसिद्धाः।
बन्धश्च योगश्च विभूतिरेतै रसे भवन्ति त्रिविधा हि संस्थाः" ॥१५॥

सारांश यह हुआ कि उस रस में जब बल की संस्था बन्धसम्बन्ध से युक्त होती है-उससे वाक्-सर्ग होता है-अर्थात्-बन्धसम्बन्ध से जितनी संस्था का पार्ट होता है-वह वाक् कहलाता है एवं जितनी संस्था योगसम्बन्ध से होती है-उसे प्राणसंस्था कहते हैं एवं विभूतिसम्बन्ध से जितनी संस्था घिरती है वह मनसंस्था कहलाती है। बस, इस प्रकार से स्वरूपसंसर्ग के भेद से एक ही संस्था से मन, प्राण, वाक्-ये तीन आत्मसर्ग उत्पन्न होते हैं। ये जो आत्मसर्ग हैं-अव्यय के (विश्वातीत) समझने चाहिएँ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"बन्धक्रमेण प्रभवेदियं वाक् प्राणस्तु योगक्रमजो निरुक्तः।
"मनो विभूतिक्रमतः प्रवृत्तं संसर्गभेदात् त्रय आत्मसर्गाः" ॥१६॥

इस प्रकार से उस आत्मस्वरूपसंस्था में यह मृत्यु कभी संसृक्त (संसृष्ट) होता है-अर्थात्-उसमें से उत्पन्न होता है एवं कभी प्रतिसक्त (प्रतिसृष्ट) होता है-अर्थात्-उसी में घुस जाता है-इसी कारण से यह मृत्यु नानात्व को प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ-जो कि एक पीले रङ्ग वाली लकड़ी की संस्था है, परन्तु यदि इसमें अग्नि का सम्बन्ध कर दिया जाए तो अभी वह पीला रङ्ग न मालूम कहाँ चला जाएगा और उसके बजाय काला आ जाएगा फिर काला उसमें घुस जाएगा और सफेद आ जाएगा-इस प्रकार कभी भीतर घुसने से एवं कभी बाहर आने से ही इस मृत्यु के नानास्वरूप दिखलाई पड़ते हैं। इस प्रकार से जो कि रङ्ग अब तक नहीं था-अब वह कहाँ से आ गया ? यह बात कोई नहीं जान सकता अर्थात्-नहीं था, परन्तु प्रतिभासित होने लग गया, अतएव इस माया को-अभ्व (अभूतं भूतम्) कहते हैं। अतः सारांश यही हुआ कि जो यह अभ्व इस आत्मा में से उत्पन्न हुआ करता है एवं उसी में लीन हुआ करता है-इसलिए वह जो अभ्व है-वह उस आत्मा में माया नाम से कहलाता है और चूंकि यह माया का प्रपञ्च यच्चयावत् ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, अतः इस अभ्व को-**महामाया** कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"संसृज्य तस्मिन् प्रतिसृज्य भूयो यत्रैष नानात्वमुपैति मृत्युः ।
तत्राभ्वमायाति वियाति तस्मात् तदभ्वमस्मिन् महती हि माया" ॥१७॥

चूंकि हम 'यह अभ्व कहाँ से आया ? और कहाँ चला गया' ?–यह जानने में असमर्थ हैं, अतः अज्ञातोत्पत्ति के कारण ही यह जो एक अद्भुत है एवं जो असत् (नहीं होकर के) होकर भी डरावना (दारुण) है–अर्थात्–इसी नामरूपकर्म्मात्मक अभ्व से (जो कि रस से अलग होने के कारण सर्वथा झूंठा है)–आत्मा में बन्धन पड़ता है, अतएव इसे दारुण कहते हैं । अपि च–चूंकि यह आत्मा के विरुद्ध है, अतएव इससे हर समय आत्मा को अलग निकालने की इच्छा रहती है और जिससे आत्मा में विकृति की आशङ्का रहती है–ऐसा जो नामरूपकर्म्मात्मक मायासमूह है–उसे ही अभ्व कहते हैं । यही अभ्व लोक में यक्ष नाम से कहा जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यदद्भुतं यत्त्वसदेव दारुणं यतः पृथग्भावमिवात्मनोऽर्थते ।
आशङ्कते चात्मनि विक्रिया यतो लोके तदभ्वं तदु यक्षमुच्यते" ॥१८॥

इस प्रकार से यह जो अभ्व है–वह अज्ञातोत्पत्ति होने के कारण अत्यन्त ही अद्भुत है एवं असत् होते हुए भी यह बडा ही डरावना है । इस प्रकार चूंकि यह असत् (सत्ताभावयुक्त) है, अतएव सत्ता-स्वरूप आत्मा से इसका अलग रहना ही इष्ट समझा जाता है । इस प्रकार से उस व्यापक ब्रह्म में इस अभ्व के कारण विक्रिया (विकार) उत्पन्न होती है, अतएव ब्रह्म के साथ लागू इस नामरूपकर्म्मात्मक अभ्वत्रितय की कल्पना करनी पड़ती है । अर्थात्–यह व्यापक ब्रह्म जो हमें खण्डशः प्रतीत हो रहा है–उसकी हमें नाम-रूप एवं कर्म्मात्मक अभ्व की कल्पना करनी पड़ती है । क्योंकि ब्रह्म में तो यह खण्डत्व एवं नामरूपादि हो नहीं सकता, अतः अगत्या अभ्व की कल्पना करनी पड़ती है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अत्यद्भुतं चासदिदं भयावहं ततः पृथक्त्वं पुनरिष्टमात्मनः ।
विभाव्यते ब्रह्मणि विक्रिया ततस्तद् ब्रह्मणोऽभ्वत्रितयं प्रकल्पते" ॥१९॥

इस प्रकार से इस ब्रह्म में बल के बन्धन से नाम-रूप एवं कर्म्म की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार इन तीनों की समष्टि को ही अभ्व कहते हैं एवं यही यक्ष कहलाता है । ऐसा यह अभ्व उस रसस्वरूप अमृत में बैठा बैठा बार-बार मरा करता है–अर्थात् हरवख्त नामरूपादि विपर्य्यय हुआ करता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रूपं च तत्कर्म च नाम चेति प्रजायते ब्रह्मणि कर्मबन्धात् ।
त्रयं तदभ्वं तदु यक्षमुक्तं पुनः पुनस्तन्म्रियतेऽमृतस्थम्" ॥२०॥

चूंकि यह मृत्यु सर्वदा अमृत पर ही स्थिर रहता है, अतः अमृत पर स्थित रहने के कारण कभी भी मर नहीं सकता अर्थात्–इस मर्त्यधर्म्मा बल के रसाधारत्वेन कभी भी उच्छेद नहीं होता। परन्तु ठीक इसके विपरीत यह अमृत सर्वदा इस मृत्यु से आवृत रहने के कारण यह शुद्ध रस भी नानारूपवान् एवं कर्म्मवान् प्रतिभासित होता रहता है अर्थात्–इसी मृत्यु की बदौलत यह व्यापक रस भी खण्डशः एवं नाम, रूप, कर्म्म वाला प्रतीत होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"न सर्वथाऽसौ म्रियतेऽमृते स्थितस्ततोऽमृतो मृत्युरथामृतं पुनः।
यदावृतं नित्यमनेन मृत्युना रसः स तस्माद्बहुरूपकर्मवान्" ॥२१॥

संसार में यदि हम विचारपूर्वक पदार्थों का अवलोकन करें तो अखिल विश्व में हमें तीन ही पदार्थ दिखलाई देंगे–जिनका कि नाम १–ज्ञान, २–क्रिया, ३–अर्थ है। संसार में यह वस्तु है या नहीं–इसका प्रत्यक्ष हमें विना ज्ञान के नहीं हो सकता, अतः भावात्मक एवं अभावात्मक जो पदार्थ हैं–उन सबका चूंकि यह ज्ञान ही आश्रय है, अतः हम सारा विश्व इसी के आधार पर–आश्रय पर स्थित है–ऐसा कह सकते हैं, अतः सिद्धान्त यह हुआ कि इस विश्व में १–ज्ञान–एक पदार्थ है–जो कि व्यापक एवं सबका आश्रयभूत है। इसी प्रकार इस ज्ञान के आश्रयभूत जो कोई पदार्थ हमें दिखलाई पड़ता है–वह अर्थ नाम से प्रसिद्ध है–लोक में ज्ञान द्वारा हम **घटं जानामि, पटं जानामि**–इत्यादि व्यवहार किया करते हैं–इस व्यवहार में जो **जानामि** है–वह ज्ञान है एवं जो घट है–वही अर्थ है–बस, सिद्धान्त हुआ कि एक ज्ञान के अतिरिक्त अर्थ नामक दूसरा पदार्थ भी है–इसी प्रकार इस ज्ञान और अर्थ के अलावा एक तीसरी वस्तु और माननी पड़ती है–जिसे कि क्रिया कहते हैं। इस क्रिया का सबूत यही है कि जिस समय हम दूध में दही का आतञ्चन देते हैं–उसके दो घण्टे बाद वह दुग्धपदार्थ दहीपदार्थ के रूप में परिणत हो जाता है। अब इसमें विचार करना चाहिए कि यह जो दूध दही बन गया–वह किस क्षण में बना–अनुमान करने से एवं परीक्षा करने से मालूम हो जाएगा कि जिस समय इस दूध में दही डाला गया था–बस, उसी क्षण से इस दूध में दही बनने की क्रिया प्रारम्भ हो गई थी, परन्तु चूंकि वह क्रिया अतिसूक्ष्म एवं शीघ्र होती थी–इसलिए हम उसे पकड़ नहीं सकते थे।

कहने का सारांश यही हुआ कि जिस दूध पदार्थ को जिसने दही के रूप में परिणत कर दिया–वही एक क्रिया है–जो कि त्रिक्षण स्थायिनी है। इस प्रकार बस, इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान और अर्थ की तरह क्रिया भी एक पदार्थ है–जिसको कि अवश्य ही मानना पड़ेगा। इस तरह अखिल विश्व में १–ज्ञान, २–क्रिया एवं ३–अर्थ-ये ही तीन पदार्थ हैं। विश्व भर में इन तीनों के अलावा कोई चोथी चीज है ही नहीं–यह सिद्धान्त समझना चाहिए। पूर्व प्रकरण में हमने जगत् को ब्रह्म एवं कर्म्मात्मक बतलाया है–इसमें से जो कर्म्म है–उसे ही क्रिया कहते हैं–इस प्रकार इस हिसाब से जगत् ब्रह्म एवं कर्म्मात्मक ही सिद्ध होता है और प्रकृत में जगत् को ज्ञान (ब्रह्म)–अर्थ एवं क्रिया–इन तीन से व्याप्त बतलाया है, अतः यह जगत् तीन (ज्ञान–क्रिया–अर्थ) से व्याप्त है अथवा ब्रह्म एवं कर्म्म से–यह सन्देह होता है–इसी का निराकरण करते हैं—

जो हमने क्रिया बतलाई है-वह दो प्रकार की समझनी चाहिए-एक सिद्धावस्था क्रिया जिसे कि **'भाव'** भी कहते हैं एवं एक साध्यावस्था क्रिया जो कि क्रिया ही कहलाती है। इस प्रकार यही क्रिया (कर्म्म) भाव और क्रिया दो स्वरूपों में परिणत हो जाती है। जिस समय हम तन्दुल पकाने लगते हैं-उस समय चूंकि तन्दुलपाकक्रिया प्रतिक्षण हो रही है, अतः उस समय **'पचति'** का प्रयोग होता है एवं जब वह क्रिया समाप्त हो जाती है तो-वही **'पाकः'** के रूप में परिणत हो जाती है-इस **'पाकः'** को ही भाव कहते हैं। सारांश यह हुआ कि जो क्रिया की समष्टि हो जाती है-उसे ही भाव कहने लगते हैं, अतएव भगवान् पाणिनि कहते हैं कि **'भावे'**-घञ् अर्थात् जब वह क्रिया भावरूप में-समष्टिरूप में परिणत हो जाए तभी उससे **'घञ्'**-प्रत्यय होता है। बस, सम्पूर्ण कथन का सारांश यही हुआ कि वही क्रिया भाव (अर्थ) कहलाती है-जो कि इस क्रिया की सिद्धावस्था है एवं वही क्रिया जब साध्यावस्था में रहती है तो वह कर्म्म नाम से व्यवहृत होती है, अतः सिद्ध हुआ कि वस्तुतः जगत् ब्रह्म एवं कर्म्मात्मक ही है परन्तु जब कर्म्म के दो भेद हो जाते हैं तो वही कर्म्म अर्थस्वरूप में परिणत हो जाता है, वस्तुतः वह अर्थ भी क्रिया (क्रियासमष्टि) ही समझना चाहिए, अतः ज्ञान, क्रिया, अर्थ-इन तीन से भी हम जगत् को व्याप्त बतला सकते हैं और ब्रह्म-कर्म्म से भी हम जगत् को व्याप्त बतला सकते हैं-उभयथा भी कुछ भी विरोध नहीं है।

अब यहाँ पर प्रश्न होता है कि जो तुमने क्रिया के दो भेद बतला कर उसी क्रिया की समष्टि को भाव (अर्थ) बतलाया है-वह सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि जब क्रिया एकक्षणस्थायिनी है तो ऐसी हालत में उस प्रतिक्षण नष्ट होने वाली क्रिया की समष्टि बन ही नहीं सकती, अतः क्रिया जो है-वह अर्थ से स्वतन्त्र ही तीसरा पदार्थ है-न कि क्रिया की सिद्धावस्था का नाम भी भाव (अर्थ) है, अतः जबकि यह तीसरा पदार्थ है तो फिर जगत् को केवल ब्रह्मकर्म्मात्मक ही बतलाना असंगत है-बस, इसी प्रश्न का जवाब देते हैं-यद्यपि यह प्रश्न बिल्कुल ठीक है कि चूंकि क्रिया प्रतिक्षण नष्ट होती रहती है, अतः उसकी समष्टि सर्वथा नहीं बन सकती, अतः अर्थ एक तीसरा ही पदार्थ मानना चाहिए। परन्तु इस विषय में हमें इतना ही कहना है कि यह जो क्रिया (कर्म्म)-है-वह रस को छोडकर कभी नहीं रहती-अर्थात्-विना रस के क्रिया रह ही नहीं सकती-बस, जबकि यह परिस्थिति है तो इस अमृत-स्वरूप रस पर इस क्रिया के रहने पर यह प्रतिक्षण नष्ट होती हुई भी क्रिया धाराबल रस वितान की वजह से हमें एकरूपेण समष्टिरूपेण (अर्थरूपेण) प्रतिभासित होती रहती है। जिस प्रकार गंगा में जो पानी इस समय है-वह दूसरे क्षण में नहीं रहता-अर्थात् प्रवाह के कारण प्रतिक्षण आगे का पानी जाता रहता है और पीछे से दूसरा-दूसरा पानी आता रहता है। इस प्रकार यद्यपि उस पानी का जिसको कि हमने गङ्गा कहा था नाश हो गया है-तथापि उस धाराबल के कारण आज भी इस दूसरे पानी में भी गंगा का व्यवहार हो रहा है। इससे मानना पड़ता है कि इस रस के कारण प्रतिक्षण नष्ट होती हुई क्रिया भी धाराबल के कारण समष्टिरूप से प्रतिभासित होती रहती है, अतः उसी क्रिया की सिद्धावस्था को ही अर्थ समझना चाहिए-न कि इससे अलावा और कोई तीसरा पदार्थ अर्थ है, परन्तु यदि कोई प्रश्न करे कि साहब! फिर जब क्रिया और अर्थ एक ही वस्तु है तो फिर संसार में अर्थ का भिन्न व्यवहार क्यों होता है? इसी प्रश्न का उत्तर देते हैं—

हमने बलबल का कई प्रकार का सम्बन्ध–**बल सम्बन्धाधिकार** नाम के प्रकरण में बतला दिया है–उन्हीं सम्बन्धों में हमने एक स्वरूपसम्बन्ध एवं एक वृत्तित्व नाम का सम्बन्ध भी बतलाया है । बस, जिस समय इस बलबल का (क्रिया का) परस्पर स्वरूपसम्बन्ध होता है तो–उसे ही भाव कहने लगते हैं । चूंकि स्वरूपसम्बन्ध विभूति, योग एवं बन्ध से तीन प्रकार का है, अतः जब त्रयात्मक इस स्वरूप-सम्बन्ध से बलबल परस्पर बद्ध हो जाते हैं तो-यही क्रिया बद्ध होने के कारण भावरूप में परिणित हो जाती है–जिसे कि अर्थ कहते हैं । परन्तु यदि इस भाव पर किंवा स्वतन्त्र बलबल का परस्पर स्वरूप-सम्बन्ध न होकर यदि वृत्तित्वसम्बन्ध ही हो तो बलों के परस्पर असम्बद्ध रहने के कारण–क्रिया की समष्टि के अभाव के कारण–वह बल कर्म्म नाम से ही कहा जाता है–जिसे कि 'प्रतिक्षण नष्ट होने वाली' क्रिया कहते हैं ।

बस, इस प्रकार इन्हीं सम्बन्धों के भेद के कारण वही बल भाव (अर्थ) कहलाने लगता है एवं वही बल क्रिया कहलाने लगता है ।

इस प्रकार जो कि बल भावरूप में परिणत हो गया है–वह भाव–वही समझो जो कि उस वस्तु का नाम एवं रूप है–अर्थात् यह पुस्तक है और इस पुस्तक का यह रूप है–यह जो पदार्थों में नाम एवं रूप का व्यवहार होता है–वह केवल इसी सिद्धावस्थारूप भाव में समझो–इस प्रकार नाम एवं रूपमय जो यह भाव है–इसमें जितना सा पार्ट रूप का है–वही संस्था और मात्रा नाम से कहा जाता है–अर्थात्–संस्था (आकृति, जाति, व्यक्ति) एवं मात्रा (वस्तुपरिच्छेद–मात्राच्छन्द)–इन दोनों को मिल कर के ही पदार्थ का रूप (स्वरूप) बनता है, अतः मात्रा एवं संस्था–ये ही दोनों 'रूप' (वस्तुस्वरूप) समझना चाहिए । इस प्रकार जितना बल स्वरूपसम्बन्ध में परिणत होकर भावरूप में परिणत हो गया है–उसी को नाम एवं रूप कहते हैं–इस भावात्मक बल पर और जो बल वृत्तित्वसम्बन्धसम्बन्धेन बढता है–उसे ही कर्म्म (क्रिया) कहते हैं–इस प्रकार–वे ही बल सम्बन्ध के तारतम्य से नाम, रूप एवं कर्म्म–इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्वरूपसंसर्गिबलं तु भावो वृत्तित्वसंसर्गबलं च कर्म्म ।
भावः स यन्नाम यदस्य रूपं मात्रा च संस्थेत्युभयं हि रूपम्" ।।२२।।

बस, इसी नाम, रूप एवं कर्म्म को उदाहरण में घटा कर बतलाते हैं—

'अयं घटः'–यहाँ पर जो घट का नाम है एवं मात्रा (परिच्छित्ति) एवं संस्था (**कम्बुग्रीवादि पृथु बुध्नोऽस्ति**)–यह जो दो भाव–इस घट में है–जिसको कि रूप कहते हैं–यह नाम और रूप की समष्टि ही घट का भाव है–अर्थात्–इन दोनों को मिला करके ही घटस्वरूप निर्म्मित होता है । और इसी 'भाव' को घटत्व कहा करते हैं । इस घटत्व से अलग जो बल इस घटत्व पर वृत्तित्वसम्बन्ध से रहता है–वही घट का कर्म्म कहलाता है–बस, इसी प्रकार संसार के अखिल पदार्थों में यह नाम, रूप एवं कर्म्म–ये तीन भाव समझने चाहिएँ ।

इस प्रकार से घटं-घटत्वम्-में जो घटत्व-घटत्व का पार्ट है-उसे तो नाम, रूप एवं कर्म्मात्मक समझना चाहिए एवं जो घट यह अनिर्वाच्य पदार्थ है-उसे 'सत्-चित्-आनन्द' आत्मक समझना चाहिए। बस, इस प्रकार सच्चिदानन्दात्मक अनिर्वाच्य घट में नामरूपकर्म्मात्मक घटत्व प्रतिष्ठित रहता है, अतएव भगवान् ने गीता में कहा है—

"ब्रह्मण्याधाय (घटे) कर्म्माणि (घटत्वं) सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा" ॥[1]

बस, सम्पूर्ण कथन का सारांश यही हुआ कि **सच्चिदानन्दात्म ब्रह्म एवं नामरूपकर्म्मात्म कर्म्म से** सारा जगत् व्याप्त है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"घटस्य यन्नाम घटस्य मात्रा संस्थेति रूपं च घटस्य भावः।
घटत्वमुक्तं तदतः पृथक् स्याद् घटस्य कर्मेत्यखिलेषु विद्यात्" ॥२३॥

हमने पूर्व प्रकरण में बतला दिया है कि क्षर-अक्षर के आधार पर रहता है एवं अक्षर मनः-प्राणवाङ्मय अव्यय के आधार पर रहता है। इस प्रकार से प्रत्येक पदार्थ अव्ययाक्षरक्षरात्मक होने से त्रैधातव्य कहलाता है। इसी प्रकार से उस अव्यय के जो मन, प्राण, वाक्-ये तीन पार्ट हैं उनका क्रमशः ज्योति, विधृति एवं प्रतिष्ठा-ये तीन स्वरूप भी बतला दिए हैं-बस, प्रकृत में हमें इसी से सम्बन्ध बतलाना है—

हमने प्रत्येक पदार्थ में नाम, रूप एवं कर्म्म-ये तीन भाव बतलाए हैं। इन तीनों में से जो रूप-रूप का हिस्सा है-वह अव्यय के ज्योति-भाग से समझना चाहिए। अर्थात्-'घट' का जो रूप है-वह एक अनिर्वाच्य है, अतः सबका सम्बन्ध ज्योति के साथ समझना चाहिए एवं इसका जो कर्म्म है-उसका सम्बन्ध विधृति से (प्राण से) समझना चाहिए। क्योंकि इसी कर्म्म की बदौलत (क्रिया की बदौलत) पदार्थ का स्वरूप पकड़ा हुआ रहता है। यदि थोड़ी देर भी आदान-विसर्गरूपा क्रिया बन्द हो जाए तो उसी वक्त वह पदार्थ नष्ट हो जाए, अतः विधृत्यात्मक प्राण से इस कर्म्म को पकड़ा हुआ समझना चाहिए। इसी प्रकार जो इस घट का नाम है-उसका सम्बन्ध अव्यय की प्रतिष्ठा (वाक्) से समझना चाहिए। इस प्रकार नाम, रूप, कर्म्म-ये तीनों मायाबल क्रमशः उस ब्रह्मबल (अव्ययबल) के साथ वाक्, मन एवं प्राण के साथ बद्ध समझने चाहिएँ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ज्योतिर्निबद्धं बलमस्ति रूपं प्राणेन संबद्धबलं तु कर्म्म।
स्यान्नामसंबद्धबलं तु वाचा मायाबलानि त्रिविधानि तानि" ॥२४॥

---

१ गीता ५।१०।

हमने पूर्व प्रकरण में बतला दिया है कि प्रत्येक पदार्थ में जो सच्चिदानन्द का पार्ट है-उसे ब्रह्म कहते हैं एवं जो उस वस्तु का नाम, रूप एवं कर्म्म है-वही अभ्व (माया) का स्वरूप है। इस प्रकार से यह नामरूपकर्म्मात्मक अभ्वत्रय अव्यय, अक्षर एव क्षर तीनों में रहते हैं ऐसा समझना चाहिए। प्रकृत में हमें बतलाना यह है कि जो अव्यय के नामरूप एवं कर्म्म हैं-उनका उस अव्यय के नित्य होने के कारण नित्य ही प्रवाह चलता रहता है। अर्थात जितना सा मायाबल अव्यय में मौजूद है-उस मायाबल की (नामरूपकर्म्म की) धारा कभी विच्छिन्न नहीं होती। यद्यपि कर्म्म प्रतिक्षण नष्ट होता रहता है-तथापि चूंकि अव्यय रसस्वरूप है, अतः उसके ऊपर इस नामरूप के हरवक्त नष्ट होते रहने पर भी 'गंगाप्रवाहवत्' धाराबल से करोड़ों वर्षों तक सर्वदा ही उस अव्यय में स्थित नाम, रूप एवं कर्म्म का भेद नहीं होता। अर्थात-इस पदार्थ में अव्यय का जो पार्ट है-उसमें स्थित जो नाम, रूप एवं कर्म्म है-उसकी विच्छित्ति कभी भी नहीं होती। बस, जिस प्रकार यह अभ्व (नाम, रूप एवं कर्म्म) पर पुरुष में (अव्ययपुरुष में) प्रवाहवन्नित्य ही धृत रहता है-तद्वत् ही अक्षर में भी यह नामरूपकर्म्मात्मक अभ्वत्रितय अव्ययवत् प्रवाहवत् नित्य ही धृत समझने चाहिएँ। अर्थात्-उस वस्तु में जितना अक्षर का पार्ट है-उसका जो नाम, रूप एवं कर्म्म है-वह भी ध्रुवस्वरूप अक्षर पर रहने पर धाराबल से सदा एकसा ही-एक ही रूपेण प्रतिभासित हो सकता है। कहने का सारांश यही है कि जिस प्रकार अव्यय के नामरूपादि कभी नहीं बदलते तद्वत् अक्षर के नामरूपादि भी कभी नहीं बदलते (परन्तु ठीक इन दोनों के विपरीत जो क्षरपुरुष (विकारक्षर) में जो नाम, रूप, कर्म्म हैं-वे सर्वथा अनित्य हैं। इस नाम, रूप एवं कर्म्म की यही अनित्यता है कि, जिस समय रसबल को छोड देता है-उस समय-वह पदार्थ अभावरूप में परिणत हो जाता है एवं जब रस उस बल को पकड़ लेता है तो वही पदार्थ भावरूप में परिणत हो जाता है। जैसे घट के रस ने जब घट के बल को पकड़ लिया तो **घटोऽस्ति**-यह घड़े का भाव हो गया एवं जिस रस से घट का बल युक्त था-वह रस यदि उससे निकल जाए तो-उसी समय **घटाभावः** एतद्रूप घट का अभाव हो जाए। बस, रस के वियोग एवं संयोग से भावाभावरूप अनित्यता होने के कारण क्षरपुरुष में स्थित नाम, रूप एवं कर्म्म सदा बदलते रहते हैं, अतएव जो आज घट का नाम, रूप, कर्म्म था-घट के नष्ट हो जाने पर पूर्वोक्त तीनों ही नामरूपकर्म्म बदलकर दूसरे ही नाम रूपकर्म्म वहाँ पर कूद पड़े। बस, तो यह सिद्धान्त हुआ कि अव्यय, अक्षर, क्षर-इन तीनों में से जो अव्ययाक्षर के नामरूपकर्म्मादि हैं-वे चूँकि अव्ययाक्षर नित्य हैं, अतः उनकी नित्यता के कारण प्रतिक्षण नष्ट होने वाले भी यह नामरूपकर्म्म धारारूपेण 'गंगाप्रवाहवत्' सदा सर्वदा एकनाम, एकरूप एवं एक कर्म्म से विद्यमान रहते हैं एवं ठीक इसके विपरीत चूँकि विकारक्षर अनित्य है, अतः उसकी उसी अनित्यता के कारण तत्रस्थित जो नामरूपकर्म्म हैं-वे रस के वियोग-संयोग से भावाभावात्मकत्वेन अनित्यस्वरूप में परिणत होते हैं-सदा भिन्न-भिन्न स्वरूप में परिणत होते रहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तद् ब्रह्मणोऽभ्वं परपूरुषे च प्रवाहनित्यं ध्रियतेऽक्षरे वा।
क्षरे त्वनित्यं भवतीह भावः स्यादप्यभावो रसविप्रकर्षात्" ॥२५॥

पूर्व श्लोक में रसविप्रकर्ष से जो भाव एवं अभाव बतलाया है–उसी का स्पष्टीकरण करते हैं–जो कि घड़े का नाम, रूप एवं कर्म्म–जिस समय घड़ा नहीं बना था–उसके पहले अर्थात्–मृत्तिका में सर्वथा नहीं था–अर्थात् मृत्तिका में जो घड़े का नाम, रूप एवं कर्म्म का घट के पहले सर्वथा ही अभाव था–इस प्रकार पूर्वासत् (मृत्तिकावस्था में) जो घड़े का नाम, रूप एवं कर्म्म है–अभ्वत्रय है–उसका मिट्टी की सत्ता से जो कि घड़े की प्रभव है–जब योग हो जाता है–तो बस, वही भाव **घटोऽस्ति**–इस नाम से कहलाने लगता है। अर्थात् जब मृत्तिका की सत्ता के पेट में नाम, रूप एवं कर्म्म घुस पड़ते हैं–बस, तभी मृत्तिका की सत्ता से ही सत्तावान् होता हुआ अतएव भावरूप होता हुआ **घटोऽस्ति** इस रूप में वह घट पदार्थ परिणत हो जाता है। तो बस, जो कि नामरूपकर्म्म पहले नहीं थे–उनका यदि प्रभवस्थ प्रतिष्ठा से योग हो जाए अर्थात् प्रभव की सत्ता के पेट में यदि वह नामरूपकर्म्म आ जाएँ तो बस, वही घट की (संसार के सभी पदार्थों की) 'उत्पत्ति' कहलाती है। परन्तु ठीक इसके विपरीत यदि वह प्रभवस्थसत्ता उस पेट में आए हुए नाम, रूप, कर्म्म का परित्याग कर दे तो फौरन उसी समय उसका अभाव हो जाएगा। बस, इस सत्ता के बाहर जब नामरूप निकल जाते हैं तो–उस पदार्थ के अभाव के कारण यही उस पदार्थ का लय कहलाता है। बस, इसी सत्ता के कारण जगत् में जहाँ-तहाँ हमें उत्पत्ति एवं लय अर्थात् प्रतिक्षण नई-नई सृष्टि का आविर्भाव एवं पूर्व-पूर्व का तिरोभाव होता रहता है, परन्तु इतना अवश्य ध्यान रहे कि यह जो भाव है एवं अभाव है–वह दोनों ही बलस्वरूप होने के कारण मर्त्यस्वरूप ही हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पूर्वासतोऽपि प्रभवस्थया यः प्रतिष्ठयाऽभ्वत्रितयस्य योगः।
स एष भावोऽथ तया वियोगो भवेदभावोऽप्युभयः स मर्त्यः" ॥२६॥

इस प्रकार से जब एक ही मृत्तिका की सत्ता के पेट में नाना नाम-रूप एवं कर्म्म आ जाते हैं अर्थात् एक ही मिट्टी से जब १०० घड़े बन जाते हैं तो इन घटरूप-भावों में जो नाना विधत्व बतलाया गया है–वह घट सामान्य के विशेष ही कहलाते हैं–चूंकि यहाँ पर सामान्यरूपेण घटत्वेन भावरूप घट एक ही है, तथापि **अयमपि घटः–अयमपि घटः**–इत्यादि अनन्त प्रकार के विशेष इस एक ही घटत्वरूप सामान्य घट के हो जाते हैं।

सारांश यही हुआ कि सामान्य घट के (जातिरूप घट के) ये अनन्त घटविशेष (व्यक्ति) रूपेण स्थित हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तदेषु भावेषु यदस्ति नानाविधत्वमुक्तः स विशेष एषः।
तत्रैकभावेऽपि भवन्त्यनन्ता इमे विशेषा इति भावसिद्धिः" ॥२७॥

अब योगमाया का स्वरूप बतलाते हैं–यदि परस्पर दो कर्म्मों का (बलों का) योग हो और उनके परस्पर युक्त होने पर उनकी जो पहले की प्रतिष्ठा है–सत्ता है–यह यदि अपने पहले के नाम, रूप

एवं कर्म्म से च्युत हो जाए और उन दोनों के मेल से–उन दोनों की मिली हुई सत्ता से यदि उस पदार्थ का और कोई तीसरा ही नाम, रूप एवं कर्म्म हो जाए तो–बस, यही योगमाया कहलाती है। सारांश यही हुआ कि जिस प्रकार सोरा और कोयला–इन दोनों के मेल से सोरा की सत्ता ने सोरा के नाम, रूप को छोड दिया एवं कोयले की सत्ता ने कोयले के नामरूप को छोड दिया अपि तु, दोनों की सत्ता ने मिलकर 'दारु'–इस तीसरे ही नाम, रूप एवं कर्म्म का ग्रहण कर लिया तो बस, यह जो स्वनामरूपादि त्यागपुरस्सर–इन पदार्थों का परस्पर योग होता है–इस योग को कराने वाली जो माया है–उसे ही 'योगमाया' कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सा योगमायाऽन्वितयोस्तु कर्मणोः पूर्व्ये प्रतिष्ठे उभये निजाभ्वतः ।
यदि च्यवेते अथ चेन्न वा भवत्येका प्रतिष्ठेह न वाभ्वगामिनी" ॥२८॥

परन्तु इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि जो हमने विभूति, योग एवं बन्ध तीन प्रकार के स्वरूपसम्बन्ध बतलाए थे–उनसे नामरूपकर्म्मात्मक अभ्वों का जब दूसरे-दूसरे अभ्वों से जब योग किंवा बन्धसम्बन्ध होता है–तभी उनसे कोई तीसरा सर्ग होता है। अर्थात्–बल बल का जब अग्रन्थिबन्धन एवं सग्रन्थिबन्धन जब होता है तभी नई सृष्टि होती है और यदि इनका परस्पर योग न हो तो तीसरी वस्तु हर्गिज पैदा नहीं हो सकती। इस प्रकार जो माया बल बल का परस्पर योग करवाती है–उसे हम इस विज्ञानशास्त्र में योगमाया नाम से पुकारेंगे एवं जो माया सर्वप्रथम रस-बल का सम्बन्ध करवा कर उस अमित रस को मितरूप में परिणत कर एक ब्रह्माण्ड का स्वरूप-निम्माण करने वाली है–उस माया को हम महामाया कहेंगे–जिसके कि पेट में योगमाया काम किया करती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अभ्वानि सर्वाणि तु योगतः स्युर्नायोगतः किञ्चिदुदेति रूपम् ।
बलस्थितामिच्छति योगमायां रसस्थिता स्यान्महती तु माया" ॥२९॥

यह जो योगमाया है–वह तीन प्रकार की समझनी चाहिए–ब्रह्ममाया, विष्णुमाया, शिवमाया। इस प्रकार एक ही योगमाया के तीन भेद कैसे हुए ?–यह बतलाते हैं—

जो योगमाया दो पदार्थों के योग के लिए–उनको प्रेरित करती है–अर्थात् जिस माया द्वारा भिन्न-भिन्न रहने वाले दो पदार्थ परस्पर आपस में जब मिलते हैं–तो बस, प्रथम इन पदार्थों के मेल में जो माया नियुक्त रहती है–इसे ही **ब्रह्ममाया** कहते हैं। परन्तु उन पदार्थों के योग होने पर उस पदार्थ की स्थिति जिस माया द्वारा होती है–वही **विष्णुमाया** कहलाती हैं–अर्थात् ब्रह्ममाया का कार्य है सिर्फ उत्पन्न करना एवं उत्पन्न की अनन्तकाल तक स्थिति कायम करना–यह काम है–विष्णुमाया का। परन्तु ठीक इसके विपरीत जो माया उस पदार्थ का लय कर देती है–अर्थात् जिस माया के कारण वह स्थिर पदार्थ भी नष्ट हो जाता है–बस, यह कार्य जिस माया द्वारा होता है–उसे ही **शिवमाया** कहते हैं। इस प्रकार

उत्पन्न करने वाली–'**ब्रह्ममाया**' एवं स्थिति रखने वाली '**विष्णुमाया**' एवं प्रलय करने वाली '**शिवमाया**' –ये ही तीन प्रकार की योगमाया समझनी चाहिएँ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"द्वयोस्तु योगाय चिराय युक्तं स्थातुं लयायैव च या नियुङ्क्ते ।
सा ब्रह्ममायाऽपि च विष्णुमाया शैवी च माया क्रमशः पृथक् स्यात्" ॥३०॥

जहाँ पर दो बल परस्पर मिले और उन दो बलों के मिलते ही जो क्षणमात्र में उनका सम्बन्ध टूट जाए–बस, पदार्थों के मिलते-मिलते ही जो एक क्षणमात्र में उनमें परस्पर विच्युति हो जाती है–बस, यही 'शिवमाया' कहलाती है। इसी लय करने वाली शिवमाया के सामने जब विष्णुमाया कमजोर पड़ जाती है तो उस पदार्थ की स्थिति ज्यादा देर तक नहीं रह सकती। जिस प्रकार जल में लहर उत्पन्न होती है, परन्तु उसी समय नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार अभी-अभी मेघ का काला स्वरूप है, परन्तु कुछ ही देर में वह कालिमा धवलता के रूप में परिणत हो जाती है। एवमेव अग्निज्वाला भी प्रतिक्षण बदलती रहती है। इसी प्रकार आकाश में उल्का आती है, परन्तु उसी समय गायब हो जाती है एवं आकाश में विद्युत् चमकती है, परन्तु फौरन गायब हो जाती है–इस प्रकार से जो इन पूर्वोक्त पदार्थों में स्थिरता का अभाव है–वह इसी शिवमाया की महिमा समझनी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सा शैवमाया यदि चेद्बले द्वे युते क्षणादप्ययुते भवेताम् ।
जलोर्मयो वारिदरूपमग्निज्वाला यथोल्का दिवि विद्युतश्च" ॥३१॥

परन्तु ठीक इसके विपरीत आकाश में–नीलिमा, सूर्य्य, चन्द्रमा, तारा एवं पृथिवी, समुद्र. पर्वत–इत्यादि नाना प्रकार के जो अनन्तकाल से एक ही प्रकार के पदार्थ एक ही रूप में जो हमें प्रतिभासित हो रहे हैं–यह विष्णुमाया की महिमा समझनी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"खे नीलिमा भास्कर-चन्द्र-तारा-पृथ्वी-समुद्राश्च महीधराश्च ।
एवंविधा ये चिरमेकरूपा भावाः स्थिताः सा किल विष्णुमाया" ॥३२॥

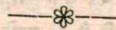
इस प्रकार से सबका निष्कर्ष बतलाते हैं–लोक में जो माया दो बलों पर अधिकार करती है–(मिलाती है)–वह योगमाया कहलाती है एवं प्रथम प्रथम जो रस-बल की परिच्छित्ति कायम कर ब्रह्माण्ड का स्वरूप निर्म्माण करती है–वह महामाया कहलाती है। बस, इस महामाया के पेट में ब्रह्ममाया, विष्णुमाया, शिवमाया–वे त्रिविध प्रकार की योगमाया प्रविष्ट रहती हैं, अतएव इस महामाया को ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र–इन तीनों की माता बतलाया गया है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"बलद्वये याऽधिकरोति लोके सा योगमाया महती तु माया ।
रसं बलं योजयते महत्यां ता योगमाया स्त्रिविधा विशन्ति" ॥३३॥

परन्तु सबका सारांश यही समझो कि जो योगमाया है किंवा महामाया है–किंवा सामान्यमाया है–इनके स्वरूप में कुछ भी भेद नहीं है।

क्योंकि जो नाम है एवं जो रूप है एवं जो कर्म्म है–इनके पूर्वापर का नाम ही माया है। चूंकि यह नामरूपकर्म्मादि तीनों मायाओं में समान हैं, अतः इन तीनों को एकार्थक ही बतला दिया है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सा योगमाया महती च माया विशुद्धमाया च न भिद्यतेऽर्थः।
यन्नाम यद्रूपमथास्य कर्म्माप्यपूर्ववच्चापरवच्च माया" ॥३४॥



११–मायाया रसबलपुरुषातिरिक्तत्वमतम्।

माया को रस, बल एवं पुरुष के अतिरिक्त बतलाना—

इस प्रकार से अखिल ब्रह्माण्ड की–ईश्वर की एवं जीव की–सारांश यह है कि वस्तुजात की महामाया, योगमाया सामान्यमाया-रूपिणी जो भगवती माया है–वही जन्मदात्री समझनी चाहिए। इस प्रकार की यह माया रसस्वरूपिणी है–किंवा बलस्वरूपिणी है किंवा पुरुषस्वरूपिणी है अथवा इन तीनों से अलावा यह चौथी है? इसका विवेचन करते हैं—

हमने प्रारम्भ में ही रस को शान्त एवं निष्क्रिय बतलाया है–और बल को ठीक कुर्वद्रूप बतलाया है। परन्तु यह बल विना रस के एक क्षण भी नहीं ठहर सकता। इस प्रकार इसी रस-बल से जगत् का निर्म्माण होता है। परन्तु यहाँ पर एक प्रश्न होता है कि–जिस समय उस शान्त एवं निष्क्रियरस में बल सोता रहता है–उस समय उस बल को जो कि स्वतः क्रियास्वरूप है–संसार निर्म्माण में किसने प्रवृत्त किया। क्योंकि क्रिया खुद जड़ है, अतः वह अपने आप को संसार निर्म्माण में लगा नहीं सकती, अतएव यह बडा भारी प्रश्न उठ जाता है कि जब रस खुद निष्क्रिय है एवं बल के उसमें सोते रहने के कारण एक प्रकार से वह बल नहीं के बराबर ही है–तब ऐसी हालत में प्रथम-प्रथम उस सोते हुए बल को किसने सृष्टिनिर्म्माण के लिए प्रवृत्त किया? बस, इस प्रश्न के उत्तर को खोजते-खोजते भारतीय प्राचीन महर्षियों ने पता लगाया कि भाई! इस रस एवं बल से अतिरिक्त नामरूपकर्म्मात्मक एक स्वतन्त्र ही अभ्व (माया) नामक तीसरा ही पदार्थ है–जो कि इस बल में प्रेरणा कर तद् द्वारा रस को भी परिच्छिन्न बनवा कर ऐसे परिच्छिन्न रस-बल से जगत् का निर्म्माण करवाया करता है। बस, इसी अभ्व का दूसरा नाम 'माया' (मीयते-रसः-अनया सा माया) समझना चाहिए। परन्तु इतना अवश्य समझना चाहिए कि इस बल में प्रेरणा करने वाली माया नाम की एक कोई तीसरी वस्तु तो अवश्य है, परन्तु वह कैसी है? इसका सर्वथा पता नहीं। अर्थात् वह उस रस-बल के (जिसके कि

अलावा कोई तीसरा पदार्थ है ही नहीं) किस कोने में बैठी थी एवं अब वह कहाँ से आ गई--यह कोई नहीं बतला सकता, अतएव इसी माया के विषय में कहा है—

"को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः" ॥[1]

"न सती (सत्ताभावात्) सा नासती (जगत्रूपेण वर्त्तमानत्वात्) सा नोभयात्मा (सदसतः परस्परविरोधात्) विरोधतः। काचिद् विलक्षणा माया वस्तु प्रकृतिरिष्यते" ॥

इस प्रकार की यह अनिर्वाच्या भगवती 'माया' इस रस एवं बल से पृथक् नामरूपात्मक अम्ब-स्वरूपयुक्ता ही माननी पड़ती है। जिसके कि माने विना जगत् निर्म्माण के विषय के सहस्रशः प्रश्न कथमपि हल नहीं हो सकते।

इस प्रकार जिस तरह यह माया न रस हो सकती है-न बल हो सकती-तद्वत् पुरुषस्वरूप भी इसे नहीं मान सकते-क्योंकि पुरुष की उत्पत्ति है-रसबलाधीन। अर्थात् जब रस बल को खा जाता है-ऐसे बलवद्रस से पुरुष (आत्मा) की उत्पत्ति होती है। अथवा यदि पुरुषशब्द से **पुरुष एवेदं सर्वम्**-इस सामान्यपुरुष का ग्रहण करो तो रसवद्बल से पुरुष की उत्पत्ति होती है-ऐसा समझो। उभयथा दोनों प्रकार के पुरुषोत्पत्ति में रस-बल दोनों के योग की आवश्यकता है-अर्थात् जब तक बल क्रिया न करे, तब तक कोई सृष्टि पुरुषादि की नहीं हो सकती। तो ऐसी हालत में पुरुष को ही माया मान लेने पर सर्वप्रथम इस निष्क्रिय एवं शान्त रस में सोते हुए बल को प्रेरित कर किसने जगत् का निर्म्माण कराया? यह प्रश्न ज्यो का त्यों बना रहता है, अतः इस पुरुष के भी पहले जिसके कि द्वारा 'शान्त रस' में सोता हुआ बल प्रेरित होकर वह बल पुरुष की उत्पत्ति करने में समर्थ हुआ-उसकी सत्ता अवश्य ही मान लेनी पड़ती है, अतः सबका सारांश यही हुआ कि-न यह माया रस है-न बल है एवं न पुरुष ही है अपि तु, उन तीनों से यह चौथी ही एक विलक्षणा माया है जो कि सोते हुए बल को प्रेरित कर पुरुषादि का सर्ग करवाया करती है। बस, इसी का सारांश बतलाते हैं—

न यह माया रस है-न बल है एव न पुरुष है अपि तु, यह चौथी ही एक विलक्षणा माया है-इस प्रकार प्रथम प्रथम वह बल माया द्वारा प्रेरित होकर रस में क्रिया करता है-अर्थात् रस को परिच्छिन्न कर एक ब्रह्माण्ड का स्वरूप बना डालता है-यह जो ब्रह्माण्ड का स्वरूप बनवाने वाली भगवती माया है-इसे ब्रह्माण्ड के निर्म्माण करने के कारण **महामाया** कहते हैं। तत् पश्चात् इस महामाया के पेट में इस रस-बल दोनों के सम्बन्ध से (बलवद्रस से) किंवा रसवद्बल से पुरुष (आत्मपुरुष किंवा जगत् पुरुष) की सृष्टि होती है।

---

१ ऋग्वेद मं० १०।१२९।६।

इस प्रकार रस-बल दोनों से उत्पन्न जो पुरुष है–ऐसे-ऐसे दो पुरुषों में स्थित जो माया है अर्थात् पुरुषोत्पत्ति के बाद जब दो पुरुषों के मेल से जब तीसरी चीज पैदा होती है इस तीसरी चीज पैदा करने वाले पुरुष द्वय का जो संयोग कराने वाली है वह **योगमाया** कहलाती है अर्थात् पुरुष द्वय में यह माया (योगमाया) स्थित रहती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"नेयं रसो नापि बलं न पूरुषो माया तुरीयेति वदन्ति केचन।
रसे बलं तत् पुरुषो द्वयोस्तयो र्मायास्थितेयं पुरुषद्वये भवेत्" ॥३५॥

हमने यह इस प्रकरण के प्रारम्भ में ही बतला दिया था, कि यह बल विना रसआश्रय के एक **मिनट भी नहीं ठहर सकता। चूँकि बल की सत्ता विना इस रस के एक क्षण भी नहीं हो सकती। अतः रस को इन बलों का आत्मा समझना चाहिए अर्थात्–यह रस ही बलों का आत्मा है। इसी प्रकार** जो कि पुरुष रस एवं बल दोनों से मिलकर हुआ है उसका रस एवं बल दोनों ही आत्मा है। क्योंकि यदि केवल रस हो तब भी पुरुष नहीं बन सकता एवं यदि केवल बल हो तब भी पुरुष नहीं बन सकता अतः जब कि पुरुषोत्पत्ति दोनों के समन्वय पर ही यदि अवलम्बित है तो सुतरां इन रस-बल दोनों को पुरुष का आत्मत्व सिद्ध हो गया। इसी प्रकार जो दो पुरुषों के मेल से परस्पर तीसरी वस्तु पैदा होती है–इस तीसरी वस्तु को पैदा करने वाले जो ये दोनों पुरुष हैं–वह इस **योगमाया** के आत्मा हैं। जब कभी परस्पर दो पुरुषों का संसर्ग होता है तभी यह योगमाया अपना कार्य करने में समर्थ होती है अर्थात् दोनों के योग को यही योगमाया करवाती है। जब इन दोनों के योग से ही इसका स्वरूप बनता है तो सुतरां इन दोनों पुरुषों को इस योगमाया का आत्मा मानना पड़ता है। इस प्रकार से जिसको हमने माया बतलाया है–उसे **मिथ्या** (सत्यानुषक्ता) समझना चाहिए एवं जो पुरुष है–उसे **सत्यानृत** स्वरूप समझना चाहिए। क्योंकि इसमें सत्यस्वरूप रस का भी हिस्सा है एवं मिथ्यास्वरूप बल का भी हिस्सा है, परन्तु ध्यान रहे इसमें जो बल को मिथ्या बतलाया है उससे बल का रस के साथ सम्बन्ध मिथ्या है न कि बल मिथ्या है–यह समझना चाहिए एवं जो रस एवं बल पहले-पहल के दो स्वरूप हैं–ये सर्वथा सत्य ही हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रसो बलानां पुरुषस्य ते द्वे आत्मास्त्यमुष्याः पुरुषौ पुनर्द्वौ।
माया तु मिथ्या पुरुषस्तु सत्यानृतस्वरूपः प्रथमे तु सत्यम्" ॥३६॥

यहाँ पर जो हमने माया को मिथ्या बतलाया है जैसा कि शङ्कराचार्य ने माया को मिथ्या बतलाया है वैसा नहीं समझना चाहिए–शङ्कराचार्य ने कहा है कि यह जो माया है वह सर्वथा झूँठी है–अर्थात् वस्तुतः कुछ भी नहीं। यह जो शङ्कराचार्य का मत है वह सर्वथा भ्रान्त ही समझना चाहिए। हमने जो माया को मिथ्या बतलाया है वह इसी लिहाज से कहा है कि यह माया खुद सत्तारूप न होकर रस की सत्ता से सत्ता-युक्त कहलाती है। चूँकि यह खुद असत् है एवं सतायुक्त रस की सता से ही यह सत्तावाली कहलाती है अतः इसे प्रातिस्विकरूप से हम एतद्रूपेण मिथ्या कह सकते हैं, अतः

हमारे कहने से माया कोई चीज ही नहीं है–यह सर्वथा सिद्ध नहीं होता। जिस प्रकार मृत्तिका की सत्ता को लेकर ही घट सत्तावान् कहलाता है न कि उसकी खुद की वह सत्ता है तथापि क्या हम इस घड़े को जो कि सर्वथा हमारे सामने मौजूद है एवं जिससे हम रात-दिन काम किया करते हैं क्या वह मिथ्या कहला सकता है? सर्वथा नहीं। बस, इसी प्रकार से किसी भी पदार्थ को **मिथ्या** नहीं समझना चाहिए। अति च–श्रुति कहती है कि–**ब्रह्मं वेदं सर्वम्**–अर्थात् यह जो तुम कुछ देख रहे हो–वह सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। यह कह कर फिर आगे श्रुति ब्रह्म का प्रतिपादन करती है–कि **'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'**। अर्थात् वह ब्रह्म सत्यस्वरूप है–विज्ञानस्वरूप है एवं आनन्दस्वरूप है। इस प्रकार संसार के यावन्मात्र पदार्थों को श्रुति का ब्रह्ममय बतलाना एवं ब्रह्म को सत्य-ज्ञान-आनन्दस्वरूप बतलाना अभिप्राय है। यदि **'यत् किञ्चित् दृश्यते तत् सर्वं मायिकमेव'**–यह शङ्कराचार्य के हिसाब से जगत् को सर्वथा मिथ्या ही यदि मान लिया जाए तो फिर–**ब्रह्मं वेदं सर्वम्**–यह श्रुति सर्वथा ही शङ्कराचार्य के मत से झूँठी साबित हो जाएगी। इसलिए माया मिथ्या है इसका केवल यही तात्पर्य्य समझना चाहिए कि यह खुद असत् है एवं रस की सत्ता से ही यह प्रतिभासित होती है अतः इसे मिथ्या कहा गया है। इतना ही नहीं अपि तु, जो शङ्कराचार्य स्वप्नोपनिषत् में माया को झूँठी बतलाते हैं–हमारे ख़याल से माया तो झूँठी क्या परन्तु स्वप्न भी झूँठा नहीं है, अतएव स्वप्न में ही वीर्य्य स्खलन हो जाता है–यदि यह स्वप्न झूँठा ही था तो फिर केवल मैथुनैक साध्य ही जो वीर्य्यपतन है–वह स्वप्न में कैसे हो गया? इसलिए इस स्वप्न को सच्चा मानते हुए ही भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

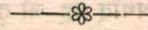
सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः।[1]–अर्थात् यह स्वप्न भले-बुरे फल को बतलाने वाला है। इस प्रकार जब स्वप्न ही झूँठा नहीं है तो तद्वत् माया को झूँठा बतलाना यह कहाँ तक संगत हो सकता है? अतः जो सत्यानुषक्त है–वही माया है–यही समझना चाहिए। जैसे यदि हमारी आँख में पीलाया है तो शङ्ख भी हमें पीला ही दिखलाई पड़ेगा। यहाँ पर शङ्ख में जो धवलता है–वह हमारे आँख में जो पीतिमा है-उस सत्यस्वरूपा पीतिमा के साथ अनुषक्त होने से शङ्ख की धवलता हमें पीली मालूम होने लगती है, अतः वह पीला रङ्ग हमारे आँख का ही समझना चाहिए। इस प्रकार सबका कहने का सारांश यही हुआ–**सत्यसंसर्गेण सत्यस्वरूपा सा मिथ्या।** अर्थात् **सत्यानुषक्ता सा मिथ्या।** यही मिथ्या का अर्थ समझना चाहिए। संसार के दृष्टि तीन प्रकार की होती है–१–पामार्थिक (रज्जु को ब्रह्म समझना), २–व्यावहारिक (रज्जु को रज्जु ही समझना), एवं ३–प्रातिभासिक (रज्जु को सर्प समझना)। इस प्रकार से जो रस एवं बल हैं वे तो वस्तुतः दोनों सत्य पदार्थ हैं एवं इनसे बना हुआ जो पुरुष है–वह केवल व्यवहार का साधनभूत है एवं जो चौथी माया बतलाई है वह सर्वथा प्रतिभास-गम्या ही है। सारांश इसका यही समझना चाहिए कि सर्वत्र तत्त्व एवं सत्य जो पदार्थ हैं वे ये ही रस एवं बल ही हैं।

इस प्रकार से यह माया रस-बल एवं पुरुष इन तीनों से चौथी ही समझनी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

---

१ ब्रह्मसूत्र ३।२।४।

"रसो बलं वा परमार्थरूपे स पूरुषस्तु व्यवहारहेतुः ।
माया तुरीया प्रतिभासगम्या सर्वत्र तत्त्वं स रसो बलं वा" ।।३७।।



१२–मायोदाहरणम् ।

माया के उदाहरण—

इस प्रकार से रस-बल द्वारा सम्पूर्ण जगत् का निर्म्माण करने वाली अतएव च–ब्रह्म की क्रीड़ा-भूमिस्वरूपा यह भगवती–यह माया इस रस-बल एवं पुरुष से स्वतन्त्र ही समझनी चाहिए जिसके कि रहने के स्थान का पता नहीं है एवं कहाँ से यह उत्पन्न होती है ? एवं कहाँ यह लीन हो जाती है । ऐसी यह जो माया है इसे **अनिर्वाच्या** कहते हैं । जब हमने यह सिद्धान्त बतला दिया कि इसी माया द्वारा जगत् का निर्म्माण होता है तो फिर जगत् में यह किस स्वरूप से अपना काम करती है ? यह बतलाना आवश्यक है तो बस, इस मायाबल के द्वारा क्या-क्या अघटित घटनाएँ हो जाती हैं ? यह कुछ थोड़े से द्रष्टान्तों द्वारा सूक्ष्मरूपेण बतला दिया जाता है । किसी मेज पर रखी हुई लकड़ी को जिसका कि आधा हिस्सा मेज से बाहर निकला हुआ है यदि कोई मनुष्य उस लकड़ी के बाहर निकले हुए हिस्से को यदि नीचे की तरफ आकर्षित करता है तो उस आकर्षण बल से ठीक उसके विपरीत दिशा में अर्थात् दूसरे छोर में क्रमशः जितना हम उस लकड़ी को नीचे करते जाएँगे–उतना ही उस लकड़ी का दूसरा हिस्सा अन्य बल द्वारा जिसकी कि हमको खबर भी नहीं है–ऊँचा उठता जाएगा । बस, हमने नहीं चाहा था कि यह लकड़ी का ऊपर का हिस्सा भी ऊपर को हमारी मन्शा के खिलाफ उठ जाए, परन्तु हमारे विना चाहे ही उस हमारे आकर्षण बल से ठीक बर-अक्स (विपरीत) में जो लकड़ी के दूसरे सिरे के ऊपर उठाने वाला बल उत्पन्न हो जाता है बस, इसे ही **माया** समझनी चाहिए ।

इसी भावार्थ को बतलाते हैं कि–इस विश्व में मायाबलस्वरूप जिस तरफ के लकड़ी के हिस्से का मनुष्य आकर्षण करता (नीचे की तरफ दबाता) है–बस, उस आकर्षण बल से उस लकड़ी के ठीक विपरीत दिशा के क्रम से (अर्थात् जितना हिस्सा लकड़ी का नीचे दबता जाएगा ठीक उतना ही नीचे हुई लकड़ी का दूसरा हिस्सा ऊँचा उठता जाएगा । एक दूसरा ही बल उत्पन्न हो जाता है–जिस दूसरे बल से वह लकड़ी का दूसरा सिरा भी ऊँचा उठ जाता है । बस, कहने का सारांश यही है कि हमने केवल हमारा बल (पौरुषेयबल) नीचे के हिस्से के दाबने में ही लगाया था । हमने कभी भी हमारे पौरुषेयबल को लकड़ी के ऊपर के हिस्से के उठाने में प्रवृत्त नहीं किया था–तथापि हमारे बल से अतिरिक्त हमारी विना इच्छा के जिस अपौरुषेय नये बल से वह लकड़ी का दूसरा सिरा उठ जाता है, बस, जिसने इस अनचाहे बल से उस लकड़ी के दूसरे सिरे को उठवा दिया–इसे ही **योगमाया** कहते हैं ।

इसी प्रकार से जब खेवटिया नाव खेता है तो वह नाव खेनेवाले डाण्ड (पतवार) का बलप्रयोग जिस तरफ करता है–नाव इस बल के ठीक विपरीत भाग में ही अपनी गति कायम करती है–अर्थात् खेवटिया बलप्रयोग करता है–जल के पश्चिमभाग में परन्तु नाव ठीक इसके खिलाफ पूर्वभाग में जाती है–बस, हमारा बल किसी दूसरी तरफ हो रहा है–और नाव हमारे बल के खिलाफ किसी दूसरे बल से प्रेरित होती हुई अन्य ही दिशा में जाती है–यह जो नाव को हमारे बल से अलावा अन्य बल से प्रेरित कर पूर्व में जो कोई ले जाता है–बस, उसे ही हम 'योगमाया' कहते हैं।

इसी प्रकार एक पक्षी के दो पङ्ख भिन्न-भिन्न दिशा में जाने के लिए उद्योग करते हैं–अर्थात् जिस समय पक्षी पूर्वाभिमुख किए हुए उड़ रहा है–उस समय उसका एक पङ्ख उत्तरदिशा में अपना बल लगा रहा है और एक पङ्ख पश्चिमदिशा की तरफ उड़ने का बल लगा रहा है, परन्तु उन दोनों बलों से अलावा ही एक तीसरा बल न मालूम विना कोशिश के ही कहाँ से आ पड़ता है–जिसके कि द्वारा न वह पक्षि दक्षिण में जा सकता है और न वह पक्षि उत्तर में ही जा सकता है अपि तु, उन दोनों उत्तर-दक्षिण मार्गों को छोडकर वह सीधा पूर्व की तरफ ही चलने लगता है। अब यहाँ पर सवाल होता है कि बल पक्षी ने लगाया–उत्तर-दक्षिण उड़ने में, परन्तु चलता है–वह पूर्व की तरफ–इस प्रकार से स्वपौरुषेयबल के अतिरिक्त कौनसा ऐसा अपौरुषेयबल आ पड़ा जिससे कि पक्षी मजबूरन पूर्व की तरफ जा रहा है–बस, इस प्रश्न का जबाब यही हो सकता है कि उसके बल के अतिरिक्त जिस अन्य बल द्वारा जिसने उसको पूर्व की तरफ जाने को बाध्य किया–वह यही भगवती योगमाया है।

इसी प्रकार से अनुमान करें कि जिस समय मनुष्य माला फेरता है–और वह मनुष्य माला के प्रत्येक मणियों को अपनी अंगुलि क्रिया से अपनी तरफ खिचता हुआ उस खैंचे हुए मणिये को नीचे डाल देता है और फिर आगे के मणिये को पकड़ लेता है। फिर उसको भी डाल देता है और तीसरे मणिये को पकड़ लेता है–इस प्रकार से उत्तरोत्तर उन मणियों को वह नीचे डालता है और आगे-आगे के मणियों को खैंचता जाता है–बस, इसी क्रिया का नाम है–माला जपना। परन्तु इस क्रिया के अतिरिक्त इसी माला में इस माला के ठीक अर्द्धभाग के आगे के मणियाँ स्वतः ही ऊपर की ओर उठ जाते हैं अर्थात् जब वह जप करने वाला मनुष्य एक मणिया अपनी अंगुलि के बल से पीछे की तरफ हटाता है तो इस पौरुषेयबल के अतिरिक्त अन्य ही किसी अपौरुषेयबल के धक्के से जिसकी कि माला जपने वाले को खबर भी नहीं है–माला के अर्द्धभाग के बीच का मणिया ऊपर की ओर उठ जाता है–गरज यह है कि जितने मणियाँ यह मनुष्य पीछे की तरफ डालता जाएगा–उतने हीं (गणना में) मणिएँ आप से आप ही माला के अर्द्धभाग के आगे से ऊपर की ओर हटते जाएँगे। इस प्रकार से उस मनुष्य के विना बलप्रयोग किए ही एवं विना उसके चाहे ही जो किसी पुरुषातिरिक्त अपौरुषेयबल से धक्का खाकर उस माला के अर्द्धभाग के आगे के मणिएँ ऊपर उठते जाते हैं–ये सब 'योगमाया' की ही महिमा समझनी चाहिए। इसी का खुलासा बतलाते हैं—

माला जपने वाला मनुष्य उस-उस मणिए को जब उत्तरोत्तर प्राप्त करता रहता है–अर्थात् आगे से मणियों को अंगुलि द्वारा उत्तरोत्तर पीछे की तरफ जब डालता जाता है तो ठीक उस मनुष्य के कर्ष-

णबल (मणिए को पीछे की तरफ खींचने का बल) से अन्य किसी दूसरे ही बल से खिचते हुए माला के अर्द्धभाग के आगे के मणिए पूर्व मणियों से पृथक् भिन्न हो जाते हैं अर्थात्–वे अर्द्धभाग से आगे के मणिए अपनी गति उन पूर्व मणियों से ठीक विभिन्न भाग में ही कायम करते हैं। यह जो विना हमारे उद्योग के–वे जिस बल से प्रेरित होकर विपरीत दिशा में जाते हैं–बस, इसे ही मायिकबल समझना चाहिए। अर्थात्–यह सारा कृत्य कराने वाली यही भगवती 'योगमाया' है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"मालामिहाकर्षति यां दिशं बलादन्यद्बलं तद्विपरीतदिक्क्रमात्।
अभ्येति तं तं मणिमुत्तरोत्तरं तन्मायिकं कर्षणतः प्रभिद्यते" ॥३८॥

इसी प्रकार से पानी से लबालब भरे हुए किसी पात्र के (अमत्र-लोटा-अमरती) किसी एक हिस्से में यदि हम धक्का मारें तो उसी समय उस पात्र में स्थित जल में चारों तरफ ठीक नाप से वर्त्तुलाकार-अपना मण्डल बनाती हुई एक वीची धारा (लहर) उत्पन्न होगी। अन्ततोगत्वा वह धारा उस पानी के ठीक केन्द्र में जाकर लीन हो जाएगी। अर्थात् एक पार्श्व से आहत जो अमत्र (अमरती या लौटा) जल है–उसकी वीचिएँ-उस लोटे के केन्द्र में जाकर ठहर जाती हैं।

अब यहाँ पर सवाल होता है कि हमने तो बलप्रयोग केवल पानी के एक ही हिस्से में किया था–ऐसी हालत में हमारे से अतिरिक्त वह कौनसा बल था–जिसने कि पानी के चौतरफ वर्त्तुलाकार एवं ठीक नपी हुई चतुर कारीगर की कारीगरी के माफिक लहरें पैदा कर दी एवं उन लहरों को केन्द्र में जाकर समाप्त कर दी। बस, इसका यही उत्तर हो सकता है कि जिसने इस पात्र में सर्वत्र एकसार लहर पैदा करवा कर उन सबको नाभि में जाकर विश्रान्त कर दिया–यह सब भगवती 'योगमाया की ही महिमा है।

इसी प्रकार जिस समय हम किसी काच के केन्द्र में मुष्ट्याघात करते हैं–उस समय उस काच को दो तरफ से किंवा तीन, चार, पाँच, तरफ से तोड़ती हुई एक धारा उस काच के बीच में होकर निकल जाती है। अब यहाँ पर सवाल होता है कि हमने हमारा बलप्रयोग केवल काच के मध्य-भाग को तोड़ने के वास्ते किया था तथापि हमारे विना चाहे ही किस अपौरुषेय बल ने-जिसकी कि हमें जरा भी खबर नहीं–उस काच के सीमा के अन्तिम छोर तक धारारूप से एक लकीर कायम कर दी अर्थात् तोड़ दिया ? बस, इस प्रश्न का यही उत्तर हो सकता है कि जिस अन्य बल द्वारा काच के आखिरी भाग तक जिसने उस काच में धारा डलवाई अर्थात्-काच को तुड़वाया वह सब–इसी भगवती 'योगमाया' की महिमा है। इसी को स्पष्ट करते हैं—

मुष्टयाघात से काच जब टूट जाता है–तब उस त्रुटि के पार्श्वभाग में हो कर मायास्वरूपिणी-यह धारा काच के सीमान्त तक चली जाती है। अर्थात्–इसी धारा के कारण काच के सीमान्त तक एक

काच के टूटने की लकीर पड़ जाती है–यह 'योगमाया' की ही कृपा समझनी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पार्श्वाहतामत्रजलस्य वीची मायाबलात् तिष्ठति नाभिमित्वा।
आघाततः काचपदं त्रुटित्वा धारां त्रुटेः पार्श्वत एति मायाम्" ॥३९॥

हमारे शरीर में घ्राण (नासिका), रसना (जिह्वा), त्वक्, चक्षु एवं श्रोत्र -ये ५ इन्द्रियाँ मानी जाती हैं। इन पाँचों इन्द्रियों के गुण भिन्न-भिन्न क्रमशः–गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शब्द–ये पाँचों माने गए हैं। बस, प्रकृत में इन्हीं के विषय में हमें कुछ कहना है–इन पाँचों में से सर्वप्रथम हम घ्राण ही का विचार करते हैं। जिस समय हम किसी पुष्प के गन्ध का घ्राणेन्द्रिय द्वारा अनुभव करते हैं तो उस समय यह सवाल होता है कि क्या यह गन्ध इस पुष्प में है–जो हमारे नाक में आ गई किंवा यह गन्ध क्या हमारे नाक में था जो कि उस पुष्प के सम्बन्ध होते ही उद्भूत हो गया? परन्तु विचार करने से ये दोनों ही विचार निरर्थक मालूम होते हैं। अतः अब यह तीसरी ही बात माननी पड़ती है कि यह जो गन्ध हमें मालूम होता है–वह घ्राण के एवं पुष्प के दोनों के संयोग से ही पैदा होता है। अर्थात् न खुशबू फूल में है और न खुशबू घ्राण में है अपि तु, पुष्प का एवं घ्राण का परस्पर जब सम्बन्ध होता है, तब उस सम्बन्ध से ही वह तीसरी चीज पैदा हो जाती है जो कि गन्ध नाम से कहाती है। सारांश यही हुआ कि जो यह गन्ध है–वह उसी समय संयोगदिष्ट से उत्पन्न होने के कारण तात्कालिकी ही होती है। इस पर यदि कोई सवाल करे कि साहब! यदि संयोग से ही गन्ध पैदा होती है तो फिर सब पुष्पों के संयोग से एक ही प्रकार का गन्ध आनी चाहिए, क्योंकि पुष्प में तो गन्ध तुम मानते नहीं हो–जिससे कि तुम्हारा कार्य सिद्ध हो जाए–अपितु तुम तो संयोग में गन्ध मानते हो–ऐसी हालत में सब से एक ही प्रकार के गन्ध का अनुभव तुम्हारे मतानुसार होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं है, अतः तुम्हारा यह कहना कि साहब! यह गन्ध तो पुष्प एवं घ्राण के संयोग से ही उत्पन्न होता है–सर्वथा निर्मूल है और हमारे मतानुसार से तो भिन्न-भिन्न प्रकार के गन्धानुभव में कुछ भी आपत्ति नहीं है, क्योंकि हम तो गन्ध उसी पुष्प में मानते हैं बस, इसी प्रश्न का उत्तर देते हैं। संसार का निर्म्माण भिन्न-भिन्न प्राणों के परस्पर के योग से हुआ करता है बस, संसार की जितनी भी वस्तुएँ तुम देखते हो–वे सब एक प्राणस्वरूप हैं। भगवान् सूर्य्य के–ज्योतिः–गौः–आयुः–ये तीन मनोता माने जाते हैं। इन तीनों में से जो ज्योति का भाग है–उससे देवस्वरूप बनता है एवं आयु से हमारा जीवन बनता है एवं गौ से संसार के भूतों का निर्म्माण होता है चूँकि इन तीनों से ही जगत् का निर्म्माण होता है, अतः श्रुति कहती है–**नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः**। इन तीनों में से जो गौ है–उसे किरण कहते हैं। यह गौ संख्या में १००० (एक सहस्र) मानी जाती हैं। यह प्रत्येक गौ सात-सात भिन्न-भिन्न रंगों के डोरों से मिलकर बनी हुई है–अर्थात्-प्रत्येक गौ सात-सात सूत्रों की समष्टि है (उन सातों रंगों के नाम हैं–१–लाल, २–सुनहरी, ३-पीला, ४–हरित, ५–नीला, ६–काला, ७-बैंगनी–बस, इन्हीं सातों रंगों के सात सूत्रों की समष्टि एक गौ कहलाता है। जब ये सात रंग परस्पर जिस तरह आकर मिलते हैं तो इन सबका रूप मिलाकर सफेद रंग हो जाता है चूँकि गौ में सातों उद्बुद्धरूप से ही मिले हुए हैं, अतः यह

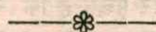
किरण (गौ) सफेद रंग की है, परन्तु ठीक इसके विपरीत यदि यह सातों रंग परस्पर मरकर मिलते हैं तो फिर ये सातों ही काले रंग के रूप में परिणत हो जाते हैं। अस्तु, बतलाना हमें यहाँ यह है कि यहाँ के प्रत्येक भौतिक पदार्थ में (प्राण में) यह सप्तरंगविशिष्ट गौ बैठा हुआ है, क्योंकि हमने भूतों की उत्पत्ति इसी गौ से बतलाई थी। इस प्रकार से प्रत्येक भौतिकपदार्थों के प्राण गौ से निर्मित रहने के कारण सातों रंग के होते हैं–यह सिद्ध हुआ। परन्तु जिस पदार्थस्थित प्राण में जो रंग उल्बण रहता है–सूर्य्य की किरणों के सम्बन्ध से वही रंग उसमें उद्‌भूत हो जाता है और बाकी के अवशिष्ट ६ रंग उसी में लीन हो जाते हैं। तो कहने का तात्पर्य्य यह है कि जो यह काला-पीला रंग दिखलाई पड़ता है–वह सब केवल सूर्य्यकिरणों के पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने से ही दिखलाई पड़ता है–अर्थात्-इस की प्रतीति सूर्य्यकिरणों द्वारा होने की वजह से तात्कालिकी ही है, अतः इन पदार्थों को जो हम काला, नीला समझ रहे हैं–यह सर्वथा हमारी भ्रान्ति है। परन्तु इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि जिसपदार्थ में जिस जाति का प्राण होगा बस, वह प्राण सूर्य्यकिरणस्थित सातों रंगों में से केवल अपने जात के ही रंग का ग्रहण करेगा-बस, इन्हीं प्राणों की विभिन्नता के कारण सब सबरंग में परिणत नहीं हो सकते। तो जिस प्रकार भौतिक पदार्थ प्राणों की विभिन्नता के कारण सब रंग में परिणत नहीं हो सकते तद्वत् ही प्रकृत में पुष्पगत प्राण वैजात्येन घ्राण पुष्प के सम्बन्ध से एक ही प्रकार का गन्ध एवं सब गन्ध एक ही कालावच्छेदेन नहीं हो सकता और इतना ही नहीं यदि तुम इन गन्धादि को तात्कालिक न मानोगे तो हम तुम से पूछेंगे कि! बतलाओ यदि उनके संयोग में ही गन्ध नहीं है तो फिर एक बीमार आदमी को गन्ध का, रस का, रूप का एवं शब्द का अनुभव क्यों नहीं होता? क्योंकि नहीं होता? क्योंकि तुम्हारे हिसाब से उस पुष्प में गन्ध तो अवश्य ही मौजूद है। तब फिर क्या कारण है कि एक आदमी को गन्धादि का अनुभव हो रहा है और एक को नहीं? बस, इस प्रश्न का उत्तर तुम्हारे मतानुसार सर्वथा नहीं बन सकता। और हमारे मतानुसार तो कुछ भी विरोध नहीं है, क्योंकि हम जबाब दे सकते हैं कि भाई! जो बीमार आदमी है–उसकी प्रज्ञा जो कि इन्द्रियों में रहा करती है वह उन पुष्पादि से सम्बन्ध करने में असमर्थ है, अतः ऐसे मनुष्य को गन्धादि का अनुभव नहीं होता। क्योंकि प्रज्ञा की शिथिलता के कारण उस पुष्प और प्रज्ञा का सम्बन्ध ही नहीं हो सकता, अतः गन्धादि को सिद्धान्तरूपेण तात्कालिक ही समझने चाहिएँ।

अस्तु, प्रकृत में बतलाना हमें यह है कि जो स्पर्श एवं शब्द एवं गन्ध एवं रस एवं रूप–उन-उन पुष्पादि पदार्थों में नहीं था एवं न हमारे इन्द्रियों में ही वह गन्धादि थे–ऐसी हालत में घ्राण स्थितप्रज्ञा के एवं पुष्प के इसी तरह वायु के एवं त्वक् स्थित प्रज्ञा के एवमेव शब्द (निराकार) के एवं श्रोत्र-स्थित प्रज्ञा के एवं चक्षुस्थित प्रज्ञा के एवं पुरोदृश्यमान पदार्थ के मेल से जो अकस्मात् नाना बल के (अर्थात्–परस्पर दो बलों के) संघात से जो स्पर्श, शब्द, गन्ध, रस, रूप की उत्पत्ति हो जाती है अर्थात्-उन उन पदार्थों में गन्धादि थे और न हमारे प्रज्ञा में ही वे गन्धादि थे, फिर अकस्मात् जो इन गन्धादि का स्फुरण (अनुभव) होने लगता है–यह कौन कराता है और साथ ही में प्रतिक्षण यह गन्धादि बदलते भी रहते हैं–यह बदलाव भी इनका कौन कराता है? यह एक बडा भारी सवाल उत्पन्न होता है अर्थात्–जो गन्ध न प्रज्ञाबल में था एवं न पुष्प बल में था–फिर इन बलों के अतिरिक्त वह तीसरा

कौनसा अपौरुषेय बल था जिसने कि–जिसकी स्वप्न में भी सम्भावना नहीं थी–ऐसा गन्ध उत्पन्न करा दिया। बस, इस प्रश्न का यही उत्तर हो सकता है कि इन दोनों बलों के अतिरिक्त एक किसी अन्य ही अपौरुषेय बल को प्रेरित कर जो तद् द्वारा तात्कालिक गन्धादि का उद्भव करवाया करता है–वह यही भगवती 'योगमाया' है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्पर्शो रवो गन्धरसे च रूपं भवन्ति नानाबलसंघघातात्।
असन्त्यकस्मादिह यत् स्फुरन्ति प्रत्युत्क्रमन्तेऽपि च मायिकं तत्" ॥४०॥

बस, इस प्रकार से यह माया कहाँ-कहाँ किस-किस रूप से विद्यमान रहती है–यह सूक्ष्मरूप से बतला दिया है।



१३–कर्म्मस्थब्रह्मपरिचयः।

कर्मस्थ ब्रह्मपरिचय—

इस **'पूर्णद्विसत्य'** प्रकरण के प्रारम्भ में ही हमने संसार में व्यापक ब्रह्म एवं कर्म्म–ये दो सत्य बतलाए थे। और साथ-साथ ही में–इन दोनों का अविनाभाव भी बतलाया था। इस प्रकार से जब इनमें से एक के विना एक नहीं रह सकता तो फिर हमें केवल कर्म्म ही कर्म्म क्यों दिखलाई पड़ता है अर्थात्–जिस ब्रह्म को तुम कर्म्म से एवं कर्म्म को ब्रह्म से एक क्षण भी अलग नहीं मानते ऐसा यह ब्रह्म हमें क्यों नहीं दिखलाई पड़ता–क्योंकि हम तो जहाँ देखते हैं–वहाँ केवल कर्म्म ही कर्म्म हमारी दृष्टि में आता है–बस, इसी का जबाब देते हैं। यह तुम्हारा प्रश्न बिल्कुल सत्य है कि हमें केवल कर्म्म ही कर्म्म का स्वरूप दिखलाई पड़ता है न कि ब्रह्म का, क्योंकि ब्रह्म निराकार है, अतः कर्म्म के अलावा तुम उसका कहीं भी प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, अतः जिस ब्रह्म को हमने निराकार बतलाया है–उसका एकमात्र लक्षण एवं स्वरूप-दर्शक–यही एक कर्म्म है। तो बस, जिस कर्म्म को तुम देख रहे हो–उसे ब्रह्म ही समझो, क्योंकि कर्म्म प्रतिक्षण बदलने वाला है, अतः उसकी स्थिति एकक्षण भर भी नहीं रह सकती। परन्तु ऐसा होने पर भी जो पदार्थ हमें अनन्त काल तक स्थित दिखलाई पड़ता है–वह सब इसी ब्रह्म की महिमा समझनी चाहिए। अर्थात्–इसी ब्रह्म की सत्ता से प्रतिक्षण बदलने वाला, अतएव असत्–भी यह कर्म्म हमें सत्ता रूप से प्रतिभासित हो रहा है। तो कहने का सारांश यही हुआ कि जो तुम कर्म्म का सत्तारूपेण (स्थिति) प्रत्यक्ष कर रहे हो–वह इसी ब्रह्म की महिमा है, अर्थात्–कर्म्म का जो प्रत्यक्ष करना है–यह इसी ब्रह्म का प्रत्यक्ष है। बस, प्रकृत में हमें बतलाना यही है कि यह ब्रह्म इस कर्म्म में कितनी प्रकार से रहता है एवं कर्म्म में रहते हुए उस ब्रह्म को हम कैसे पहचान सकते हैं?

यह जो ब्रह्म है–वह प्रत्ययसाक्षिक (ज्ञानैकगम्य) है एवं रसप्रद है एवं पात्र है एवं विवर्त्त है एवं लम्बन है एवं च आलम्भन है एवं आयतन है। बस, इस प्रकार से इन कर्म्मों में सात ही प्रकार से

हम ब्रह्म की स्थिति देख सकते हैं, अर्थात्–कर्म्म में ब्रह्म ७ (सात) ही प्रकार से स्थित समझना चाहिए–अब प्रत्येक को दृष्टान्तपूर्वक बतलाते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ब्रह्मास्ति तत्प्रत्ययसाक्षिकं रसप्रदं च पात्रं च विवर्ति लम्बनम्।
आलम्भनं चायतनं च सप्तधा तद्ब्रह्म पश्यामि तु कर्मसु स्थितम्" ॥१॥

१–प्रत्ययसाक्षिक–यह तो ब्रह्म है–वह कितने ही कर्म्मों में प्रत्ययसाक्षिकरूप से ही प्रतिभासित होता है। अर्थात्–यह जो ब्रह्म है–वह कितने ही स्थलों में केवल ज्ञानैकसाक्षी ही प्रतिभासित होता है। जिस प्रकार उल्बण गुणों से द्रव्य की प्रतीति हुआ करती है–तद्वत् बलों से–यह ब्रह्म प्रत्ययसाक्षिक-रूप से प्रतीयमान होता है। गुण, कर्म सामान्य एवं विशेषों को मिलाकर ही घट का स्वरूप बनता है। अर्थात् जो घट द्रव्य अब तक सर्वथा ही अदृश्य था– अब यही घट गुण, कर्म्म, सामान्य, विशेषों की समष्टि से दीखने लग गया। हम यहाँ पर पूछते हैं कि बतलाओ गुण, कर्म्मादि में से गुण घट का स्वरूप है अथवा कर्म्म है ? एवं सामान्य है किंवा विशेष है ? उसका उत्तर तुम यही दोगे कि साहब ! इनमें से पृथक्-पृथक् घट का स्वरूप कोई नहीं है अपि तु, गुण का कर्म्म से एवं कर्म्म का सामान्य से एवं सामान्य का विशेष से मेल होने पर इस प्रकार से जो इनका परस्पर मेल है–उन सबको मिलकर के ही घट का स्वरूप बनता है अर्थात्–इन सबकी समष्टि से ही घट बनता है। परन्तु इस प्रकार से जो कर्म्मादि के मेल से घट की उत्पत्ति बतलाने वाले हैं उनसे हम यही पूछेंगे कि भाई ! यह जो तुमने मेल बतलाया वह भी तो गुण ही है तब फिर इनके मेल से घट बन जाता है–यह तुमने क्या कहा ? अतः अन्त में यही मानना पड़ता है कि इन गुणकर्म्मादि को एक ही स्वरूप में बांधने वाला जो कोई एक निराकार पदार्थ है वही–घट है। जिसको कि हम गुणादि के अतिरिक्त कहीं पा नहीं सकते। इस तरह गुणकर्म्मादि तो घट बन नहीं सकते परन्तु **अयं घटः** यह प्रतीति हमें अवश्य होती है। इसलिए गुण-कर्म्मादि के अतिरिक्त केवल प्रत्ययैकगम्य (अर्थात्–केवल ज्ञान से ही प्रत्यक्ष होने वाले) ही उस निराकार पदार्थ को गुणकर्म्मादिरूप बल में समझना चाहिए। बस, जिस प्रकार निराकार घट उल्बण गुणकर्म्मादि से प्रत्ययैकगम्य हुआ करता है तद्वत् ज्ञानैकगम्य बलों से इस ब्रह्म को पहचानना चाहिए–उसी को उदाहरण द्वारा बतलाते हैं–जिस प्रकार से किसी भट (वीर) समूह को आते देखकर हम कहा करते हैं ! कि भाई **सेना** आ रही है, परन्तु हम उस कहने वाले से पूछते हैं कि भाई ! जरा यह तो बत-लाओ कि इन योद्धाओं के समूह को तुमने सेना कैसे कहा ? क्या यह योद्धा सेना है अथवा यह योद्धा सेना है ? उत्तर देने वाला यही उत्तर देगा कि नहीं साहब ! न यह योद्धा सेना है और न यह योद्धा यह सेना है परन्तु इन सब योद्धाओं की जो समष्टि है–उसे ही सेना कहते हैं। तो बस, इस प्रकार से जो एक युनिवर्सल नॉलेज (व्यापक ज्ञान) है–उसे ही हम सेना (ब्रह्म) कहते हैं। सारांश इसका यही हुआ कि हम सेना को हाथ लगा कर के वस्तु की तरह प्रत्यक्ष नहीं करवा सकते, अपि तु, इन सभी योद्धाओं में रहने वाली जो एक समष्टिरूप व्यापकब्रह्मस्वरूपिणी **सेना** है–उसका हम केवल ज्ञानज्योति से ही प्रत्यक्ष कर सकते हैं। बस, इस प्रकार से घटस्वरूप बल में (कर्म्म में) जो सेना स्वरूप निराकारब्रह्म है–उसका प्रत्यक्ष हम ज्ञान द्वारा ही कर सकते हैं अर्थात्–वह ब्रह्म प्रत्ययसाक्षिक ही समझना चाहिए।

इसी **प्रकार** से वृक्ष-समूह में **'वन'** शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ पर भी यही पूर्वोक्त प्रश्न होता है कि क्या यह वृक्ष वन है अथवा यह वृक्ष वन है?–उत्तर मिलता है कि साहब! यह भी वन नहीं है–यह भी वन नहीं है। बस, इस प्रकार से–**इत्यपि न-इत्यपि न**–इस क्रम से सभी वृक्षों की व्यावृत्ति किए बाद जो कुछ बचता है–वही **वन** ब्रह्म है। अर्थात्–कहने का सारांश यही हुआ कि–सम्पूर्ण वृक्षरूपबलों में वृक्षों से अतिरिक्त जो एक–**निराकारस्वरूप युक्त वन** की प्रतीति होती है–बस, वही **ब्रह्म** समझना चाहिए जो कि ज्ञानैकगम्य है। इसी प्रकार घर–समूह में 'ग्राम' शब्द का प्रयोग हुआ करता है, परन्तु यहाँ पर भी यह घर भी ग्राम नहीं है–यह घर भी ग्राम नहीं है। इस प्रकार से–**इदमपि न इदमपि न**–यह कहते हुए जब सभी घरों की व्यावृत्ति हो जाती है–उसके बाद जो अपूर्व निराकार पदार्थ बचता है–उसे ही **ग्राम** कहते हैं, अतः यह सिद्ध हुआ कि सम्पूर्णक्षेत्ररूपबलों से अतिरिक्त जो एक निराकार ग्राम की प्रतीति होती है। बस, वही कर्म्मस्थ (क्षेत्रस्थ) ब्रह्म समझना चाहिए। कहने का तात्पर्य्य यही है कि यहाँ पर जो कर्म्मस्थ ब्रह्म है वह केवल ज्ञानैकगम्य ही है। इसी प्रकार जलसमूह में 'सरोवर' शब्द का व्यवहार हुआ करता है। अब यहाँ पर हम पूछते हैं कि क्या यह जल सरोवर है? अथवा यह जल सरोवर है? तो उत्तर मिलेगा कि–**इदमपि न-इदमपि न**। बस, इस प्रकार **इदमपि न इदमपि न**–यह करते-करते जब सब जलों की व्यावृत्ति हो जाती है–उस व्यावृत्ति के बाद जो कुछ बचता है–उसे ही हम 'सरोवर' कहते हैं। बस, इस प्रकार सम्पूर्ण जलरूपबलों से अतिरिक्त जो एक निराकार सरोवर की प्रतीति होती है बस, यही कर्म्मस्थ (जलसमूहस्थ) ब्रह्म समझना चाहिए। बस, यह जो सरोवररूप ब्रह्म है वह केवल ज्ञानज्योति से ही दीख सकता है। इसी प्रकार जो अर्चि-समूह है–उसमें–**अयं दीपकः**–यह व्यवहार हुआ करता है, परन्तु हम यहाँ पर भी वही पूर्वोक्त प्रश्न करते हैं कि बतलाओ यह अर्चि दीपक है अथवा यह?–उत्तर मिलता है–'इदमपि न–इदमपि न'। बस, इस प्रकार सभी अर्चियों की व्यावृत्ति के बाद जो कुछ बचता है–उसे ही हम दीपक कहते हैं। जो कि केवल प्रत्ययैकगम्य ही है, अतः इस दीपकरूप ब्रह्म को–अर्चिरूप कर्म्म में ठहरने वाला अतएव ज्ञानैकगम्य समझना चाहिए। तो बस, हमने उपरोक्त दृष्टान्तों द्वारा बतला दिया कि बलों में ब्रह्म प्रत्ययसाक्षिकरूपेण रहा करता है अर्थात्–इन बलों में इस ब्रह्म का प्रत्यक्ष प्रत्ययैकसाध्य ही समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तथाहि तत् प्रत्ययसाक्षिकं बलैः प्रतीयते द्रव्यवदुल्बणै र्गुणैः।
भटद्रुमक्षेत्रजलार्चिरुच्चयैः सेनावनग्रामसरःप्रदीपवत्" ॥२॥

रसप्रदम्–बस, जिस प्रकार बलों में ब्रह्म प्रत्ययसाक्षिकरूपेण स्थित रहता है तद्वत् इन्हीं बलों में रसप्रदरूपेण भी यह ब्रह्म स्थित रहता है। हमने कर्म्म को विनाशशाली अर्थात्–एक क्षण भी नहीं ठहरने वाला बतलाया है। जब कर्म्म एकक्षण भी नहीं ठहर सकता है तो ऐसी हालत में जो हमें यह कर्म्मरूप पदार्थ स्थिर प्रतिभासित हो रहे हैं–उनकी स्थिरता अनुपपन्न होगी, अतः कर्म्मों के नाशवान् होने पर भी इनकी स्थिरता देख कर अनुमान करना पड़ता है कि कोई एक ऐसा नित्य पदार्थ जरूर है

कि जिसकी वजह से यह अनित्य कर्म्म भी स्थिरवत् प्रतिभासित हो रहा है। बस, उसी नित्य पदार्थ को हम 'रस' कहते हैं। जो बल को हरवक्त अपना हिस्सा देता हुआ उसको स्थिरभाव में परिणत करता रहता है, अतः चूँकि यह रस बल की आत्मा है और निरात्मक कर्म्मबल एकक्षण भी ठहर नहीं सकता अर्थात्–हम उसे जरा देर भी निरात्मक स्थिर नहीं देख सक्ते। परन्तु देखते हैं, अतः मानना पड़ता है कि यह रसप्रदब्रह्म कर्म्म में निश्चयरूपेण विद्यमान रहता है। बस, यही उस कर्म्म का आत्मा है–जिसकी वजह से कि यह कर्म्म जिन्दा रहता है। इस प्रकार से जो आत्मस्वरूप यह रस है–वह कर्म्म में सत्तारस को हरवक्त दिया करता है। अर्थात्–क्षणिक अतएव च अविद्यमान बलों में यह ब्रह्म अपना सत्तारस दे-दे कर उनको विद्यमानता के रूप में परिणत किया करता है, अतएव जो घट (बलरूप) बलस्वरूपता के कारण जगत् में कहीं भी उपलब्ध नहीं था। वही अविद्यमान घट आज इस मृतिका के–सत्तारस के पेट में आ कर सत्तारूप में (विद्यमानता के रूप में) परिणत हो रहा है, अतः सिद्धान्त समझना चाहिए कि यह जो ब्रह्म है–वह हरवक्त कर्म्मों में रस देने के कारण रसप्रद कहलाता है। अर्थात्–इन कर्म्मों में स्थित इस रसप्रदब्रह्म को समझना एवं पहचानना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रसप्रदं ब्रह्म तु कर्मणि ध्रुवं निरात्मकं कर्म्मबलं न दृश्यते।
आत्मा स सत्तारसमादधाति यो यतो घटः सन्नधुना पुरा त्वसन्" ॥३॥

पात्रम्–जिस प्रकार से यह ब्रह्म कर्म्मों में रसप्रदरूपेण रहता है–उसी प्रकार से इसी ब्रह्म को–कर्म्मों का पात्र (बर्तन) स्वरूप भी समझना चाहिए। चूँकि बल विना रस के ठहर नहीं सकता, अतः इस ब्रह्म को बल का पात्र समझ कर बलों में पहचानना चाहिए। जैसे कि कपड़ा पानी का पात्र बन जाता है अर्थात्–यदि हम किसी कपड़े को पानी में डाल कर उसको पानी में से बाहर निकाल लें तो वह पानी उस कपड़े में स्थित हो जाएगा (यदि उस रसरूप पट से ज्यादा न हुआ तो) अर्थात्–पानी कपड़े में से नहीं चूएगा अतः इस पानी का यह कपड़ा बर्तन बन जाता है। बस, इसी प्रकार बल को अपने में रखने वाले इस ब्रह्म को बल का पात्र समझना चाहिए। इसी प्रकार से जैसे तैल का पात्र तिल होते हैं एवं जैसे कि घी का पात्र दूध होता है अर्थात्–इन पात्रों में रहता हुआ जैसे तैल एवं घृत बाहर नहीं गिर पड़ता तद्वत् इन बलों को अपने में सुरक्षित रूप से रखने वाले इस ब्रह्म का स्वरूप समझो, अतएव कर्म्मों में इस ब्रह्म को पात्ररूप से समझना एवं पहचानना चाहिए।

लम्बनम्–जिस प्रकार से यदि हम अपनी अङ्गुली के पोर (सिरा) पर एक हलकी सी जल की बिन्दु यदि लगा लें और उसका यदि हम बालू रेत से स्पर्श करावें तो उस बालु रेत का कुछ हिस्सा उस बिन्दु के चिपट जाएगा। बस, तो जिस प्रकार से वह जल की बिन्दु भूमि पर पड़ी हुई बालु रेत का अवलम्बन–(उसको अपने ऊपर लटकाने वाला) स्वरूप हो जाती है, बस, ठीक इसी प्रकार से इन सब कर्मों का इस ब्रह्म को आलम्बन (अपने सहारे से रखने वाला) समझना चाहिए। सारांश इसका

यही हुआ कि इस ब्रह्म को कर्म्मों के आलम्बन स्वरूप से भी पहचानना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पात्रं बलस्यास्ति यथाम्बुनः पटास्तिलास्तु तैलस्य घृतस्य वा पयः।
ब्रह्मेति वालम्बनमस्ति कर्मणां जलस्य बिन्दू रजसां मृदां यथा" ॥४॥

इसी आलम्बन स्वरूप रस का कहाँ-कहाँ प्रत्यक्ष होता है यह बतलाते हैं—जिस प्रकार एक मनुष्य आँखें खोल कर भी यदि घोर अन्धकार में चला जाए तो उस अन्धकार में अपने से अलावा उसको और किसी का भी आलम्बन (सहारा) नहीं मिल सकता, परन्तु यदि वही मनुष्य प्रकाश में चला जाए तो उस प्रकाश में जा कर जिस किसी का वह अवलम्बन करता है बस, वही आश्रयभूत बल में स्थित रस समझना चाहिए। अर्थात्—जिस समय वह मनुष्य अन्धकार में जाता है तो उसकी नेत्ररश्मियाँ किसी से भी सम्बन्ध नहीं करने पाती परन्तु प्रकाश में जब वह जाता है तो फौरन से उसकी नेत्र-रश्मियाँ पुरस्थित पदार्थों पर जाकर प्रत्याहत होती हुई उस पदार्थ के संस्कार को लेकर लौटती हैं बस, यही—**मैंने यह वस्तु देख ली**—यह जो उसका प्रकाश में ज्ञान होना है बस, वही आश्रयभूत उन पुरस्थित बलों में स्थित रस समझना चाहिए। अर्थात्—वही रस प्रत्याघात द्वारा उस मनुष्य का आलम्बन करता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"उन्मीलितं चक्षुरिहान्धकारे न त्वात्मनोऽन्येष्ववलम्बते तु।
अथ प्रकाशे त्ववलम्बते यद् गत्वा क्वचित् सोऽस्ति रसो बलस्थः" ॥५॥

इसी प्रकार से यदि चलते-चलते किसी मनुष्य का पैर किसी खड्डे में गिर जाता है तो यह आदमी पैर के आश्रयाभावात् गिर जाता है। यह जो गिरने की हालत होती है—वह विषम धरातल में समझनी चाहिए। परन्तु यदि वही मनुष्य किसी समधरातल में चलता है तो वहाँ चूँकि उसके पैर को आश्रय मिल जाता है, अतः उस समधरातलस्वरूप अवलम्बन के कारण वह नहीं गिर सकता। बस, इस प्रकार से यह जो चलने वाला मनुष्य है—वह अपने पैरों से जिस समधरातल का अवलम्बन करके चलता है बस, वह जो उसका अवलम्ब है—वह पृथिवीरूप बल में स्थित रस ही समझना चाहिए। अर्थात् वही रस उस चलने वाले मनुष्य का अवलम्बन है जिसके कि द्वारा वह नहीं गिर सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यद् गच्छतः शून्यधरातले स्यात् पातोऽथ पूर्णे तु पदावलम्बः।
यदेव तत्रैष पदावलम्ब्य प्रवर्तते सोऽस्ति रसोऽवलम्बः" ॥६॥

इसी प्रकार से हम देखते हैं कि जन्मान्ध मनुष्य आलम्बन के वास्ते अपने आगे की वस्तु का स्पर्श करने की अभिलाषा से अपने दोनों हाथों को फैला-फैला कर आगे की तरफ चलता है। इस

प्रकार चलते-चलते अपने आगे किसी चीज को स्पर्श कर वह अन्ध मनुष्य उस स्पर्श होने वाली वस्तु से आहत होकर–**कुछ है**–यह जो प्रत्यय करता है (जानता है)–वह वही उसका अवलम्बस्वरूप रस समझना चाहिए। अर्थात्–वही अन्धा जब किसी बल से स्पर्श करता है तो उसको **अस्ति** किञ्चित् इस सत्ता रस का आलम्बन मिलता है। चूँकि स्पर्श के बाद अस्ति यह ज्ञान होता है, अतः इसको (सत्ता को) बल से सर्वथा दूसरी चीज बतला सकते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"जन्मान्ध एष क्रमते स्वहस्तौ स्पर्शाय विस्तार्य पुरः क्वचित्तु।
स्पृष्ट्वा बलेनाहत एष किञ्चिद्ध्यस्तीति यद्वेत्ति स सोऽवलम्बः"।।७।।

इसी प्रकार से हम देखते हैं कि एक आदमी घोर अन्धकार में चला गया है इस प्रकार घोर अन्धकार में वह मनुष्य जाकर आँखें फाड़-फाड़ कर देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता है अर्थात्–उस अन्धकार में वह पदार्थ प्रत्यक्ष करने की दृष्टि से खूब आँखें फाड़-फाड़ कर देखता है, परन्तु वह यहाँ पर कुछ भी नहीं देखता है तो भी वह मनुष्य घोर जो अन्धकार है उसे ही देख कर–**अन्धकार है**–यह देखता है अर्थात्–कुछ भी नहीं देखने पर भी वह उस घोर अन्धकार को अवश्य देखता है। बस, उस समय जो **वह अन्धकार है**–यह देखता है वही उस पुरुष का अवलम्बन है अर्थात्–उस अन्धकाररूप बल में रहने वाला जो **अस्ति** रूप सत्तारस है–वही उस मनुष्य का अवलम्बन बनता है। बस, सम्पूर्ण कथन का सारांश यही हुआ कि इस ब्रह्म को जगत् का आलम्बन स्वरूप में पहचानना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथान्धकारे निबिडे स चक्षुर्विस्फार्य्य पश्यन्न च किञ्च पश्येत्।
अथापि पश्यन् प्रतमां तमोऽस्तीत्येवं स पश्यत्यवलम्बनं तत्" ।।८।।

आलम्भन (आरम्भण-आरम्भक)–जिस प्रकार से इस ब्रह्म को कर्म्म का आलम्भन बतलाया है तद्वत् इसी ब्रह्म को (रस को) बल का (कर्म्म का) आलम्भन समझना चाहिए अर्थात्–उत्पादक समझना चाहिए–जैसे कि पानी सूर्य के प्रतिबिम्ब का आरम्भक होता है एवं यही पानी लहरों को उत्पन्न करने वाला होता है–यदि यह पानी नहीं हो तो प्रतिबिम्ब की एवं लहर की उत्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती है बस, तद्वत् ही ब्रह्म को कर्म्म का आरम्भक समझना चाहिए। इस प्रकार से जिससे (जिस कारणभूत ब्रह्म से) वह बल उत्पन्न होता है एवं जिस ब्रह्म में उत्पन्न होता है उस बल का वह ब्रह्म आरम्भक कहलाता है। अर्थात्–कहने का मतलब यही है कि जिस प्रकार का कार्यकारणभाव दण्ड-घट में है वैसा यहाँ नहीं है अपि तु, मृत्तिका घट में जैसा कार्यकारणभाव है वैसा ही प्रकृत में समझना चाहिए, अतः इसका सारांश यही हुआ है जो ही बल का कारण है एवं जिसमें ही बल उत्पन्न होता है ऐसे बल का जो आरम्भण है–वही आरम्भक ब्रह्म कहलाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ब्रह्मेति वालम्भनमस्ति बिम्बस्योर्म्यश्च वारीव बलस्य सत्यम् ।
आरम्भणं तन्नु यतश्च यस्मिन्नारभ्यते तस्य बलस्य रूपम्" ॥९॥

इस प्रकार से इस आरम्भकरूप रस की महिमा से–बल से होने वाली जो मात्रा एवं संस्था (वस्तुस्वरूप) है–वह नाना प्रकार की लोक में नियत है अर्थात्–सहस्रशः प्रकार की नाना जातीय वस्तुएँ इस संसार में बल के तारतम्य के कारण नियतरूप से बनती रहती हैं। बस, इसी तारतम्य के कारण जैसा बल (वस्तु का स्वरूप) किसी स्थान पर बहुत ही ज्यादा मात्रा से देखा था–वही दूसरी जगह थोड़ी मात्रा में देखने में आता है एवं कहीं उस बल का सर्वथा ही अभाव हो जाता है। जैसे कि जो सूर्य्यप्रकाशरूप बल मैदान में बहुत ही ज्यादा मात्रा से दिखलाई पड़ता है एवं वही बल घर में उससे कुछ कम दिखलाई पड़ता है एवं वही बल एक अन्धेरी कोठरी में सर्वथा ही नहीं दिखलाई पड़ता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सर्वत्र संस्था हि बलप्रवृत्तेः सा सा पृथग्वन्नियतास्ति लोके ।
यादृग्बलं क्वाप्यतिशायि दृष्टं तन्मन्दमन्यत्र च न क्वचित्तत्" ॥१०॥

चूँकि बल ब्रह्म के अधीन है स्वतन्त्र नहीं है, अतएव कहीं-कहीं हम यद्यपि बलप्रयोग की खूब चेष्टा करते हैं, परन्तु हमारे बहुत उद्योग करने पर भी वह बल जो कि हम चाहते हैं–उत्पन्न नहीं होता और कहीं यह बल जरूरत से ज्यादा ही आप से आप ही (नियति के कारण) उत्पन्न हो जाता है। जैसे हम किसी लोहे की भींत को तोड़ने के लिए बडा ही बल लगाते हैं, परन्तु वह अपनी नियति के कारण एक सूत भी टस से मस नहीं होता। परन्तु ठीक इसके विपरीत जब हम पानी को जमीन पर डाल देते हैं तो विना चलाए ही अपनी नियति के कारण वह चल पड़ता है। इसी प्रकार जो दो मन का पत्थर पड़ा हुआ है–उस तक को हम लाख बलप्रयोग करने पर भी नहीं हटा सकते, उसी नियतिबल के कारण जो भूकम्प होता है–उससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हिल पड़ता है। यह सब नियति की महिमा समझनी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"क्वचिद्बलं कर्तुमिवेच्छतोऽपि नोत्पद्यते यत्नवतोऽपि भूयः ।
क्वचित्त्वकस्मादिव तत्प्रभूतं प्रजायते तन्नियतिप्रसादात्" ॥११॥

और सबसे बडा सबूत तो बल को परतन्त्र मानने का यही है कि यदि बल अपनी उत्पत्ति में आप ही स्वतन्त्र हो तो सर्वत्र सभी पदार्थ एककालावच्छेदेन सब समानरूपेण बन पड़ें। क्योंकि बल जब स्वतन्त्र होगा तब पदार्थों में वैजात्य कैसे होगा ? परन्तु ऐसा नहीं होता, अतः अवश्य ही कोई न कोई बल का नियन्त्रण करने वाली नियति माननी पड़ती है (ध्रियते–अवतिष्ठते)। बस, उसी नियति को हम रस कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"बलं स्वतन्त्रं यदि जन्मनि स्यात्सर्वत्र सर्वं बलमेकदा स्यात् ।
तस्मादवश्यं नियतिर्नियन्त्री बलस्य काचिद् ध्रियते रसः स." ।।१२।।

चूंकि इस नियतिरूप रस के विना बल स्वतन्त्ररूपेण कुछ भी नहीं कर सकता–इसलिए विज्ञलोग उस नियति को बल का आरम्भण (आरम्भक) मानते हैं । बस, इसी नियति को ब्रह्म समझना चाहिए एवं इसी को सत्य (नियति) समझना चाहिए । बस, चूंकि इसी सत्य (नियति) के अनुरोध से नवीन बल उत्पन्न होता है, अतः सत्य को ग्रहण करके ही बल के लिए यत्न होता रहता है ।

बस, कहने का सारांश यही है कि इस ब्रह्म को कर्म्मों का आरम्भक समझकर पहचानना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आरम्भणं तेन वदन्ति विज्ञा बलस्य तद्ब्रह्मतदस्ति सत्यम् ।
सत्यानुरोधेन बलोदयः स्यात् सत्यं गृहीत्वा यतते बलाय" ।।१३।।

आयतन–जिस प्रकार इस ब्रह्म को कर्म्म का आरम्भक बतलाया है तद्वत् कर्म्म का आयतन भी इस ब्रह्म को समझना चाहिए । अब यह ब्रह्म कर्म्म का आयतन कैसे है ?–यह बतलाते हैं—

संसार में जितनी भी वस्तुएँ हम देख रहे हैं–उन सबका नाम–रूप एवं आयतन भिन्न-भिन्न प्रकार का ही हमें दिखलाई पड़ता है । तो बस, यह नाम–रूप की भिन्नता एवं च इसी भिन्नता से उत्पन्न होने वाला यह प्रत्येक पदार्थ का भिन्न-भिन्न आयतन कैसे हो गया ? इसी का उत्तर देते हैं ।

इस संसार में नाम-रूप की पृथक्ता से ही सम्पूर्ण पदार्थों का आयतन भी भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है । यह जो नाम-रूप की भिन्नता है–वह बीच में अन्तर आने से ही होती है-अर्थात् जब इस वस्तु के एवं इस वस्तु के बीच में कुछ व्यवधान होगा-तभी वह वस्तु दिग्देशकाल से अवच्छिन्न होने के कारण उस दूसरी वस्तु से भिन्न नाम-रूप कर्म्म वाली कहलाएगी । बस, इस प्रकार से उन दोनों वस्तुओं के बीच में जो अन्तर है–वही नाम-रूप का परिच्छेद करवाने वाला होता है । बस, जो कि यह आकाश नाम-रूप का एवं भिन्न आयतन का कारण बनता है–उसे ब्रह्म ही समझना चाहिए । इस ब्रह्म की (आकाश की) तीन संस्थाएँ विज्ञान में बतलाई गई हैं–१-परमाकाश, २-पुराणाकाश, ३-दहराकाश । तो बस, सबका सारांश यही हुआ कि आकाशस्वरूप यही त्रिसंस्थब्रह्म नाम-रूप का भेद डलवाता हुआ पदार्थों के भिन्न-भिन्न आयतन का कारण बनता है । तो बस, इस ब्रह्म को कर्म्म में आयतन-स्वरूप से पहचानना चाहिए । इसी आकाशमय ब्रह्म के लिए श्रुति कहती है—

"आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता" ।[1]

जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

१ छान्दोग्योप० ८।१४।१।

"पृथक् प्रतीतेरिह नामरूपे पृथग् विभिन्नायतने भवेताम् ।
यदन्तरा तेहि यतः पृथक्त्वं ब्रह्मै तदाकाशमिदं त्रिसंस्थम्" ॥१४॥

विवर्त्तन—इस प्रकार जिस तरह से इस ब्रह्म को कर्म्म को आयतन बतलाया तद्वत् कईयों के मतानुसार यह ब्रह्म-कर्म्म का विवर्त्तन सिद्ध होता है—उसी का प्रतिपादन करते हैं । जो कार्य्यकारणभाव सत्य होता है—जैसे कि घट की सत्ता है, अतः हम उसे जानते हैं । उसे तो विवर्त्तनाभाव समझना चाहिए, परन्तु ठीक इसके विपरीत जो मिथ्या कार्य्यकारणभाव है—उसे विवर्त्त कहते हैं । अर्थात् हम जानते हैं—इसलिए घट है—यह जो कार्य्यकारणभाव है—वह मिथ्या कहलाता है । कहने का सारांश यही हुआ कि जहाँ तक सत्ता से ज्ञान हो—वह सच्चा कार्य्यकारणभाव (विवर्त्ताभाव) कहलाता है । जहाँ ज्ञान से सत्ता की प्रतीति हो—वह मिथ्या कार्य्यकारणभाव कहलाता है एवं इसे ही विवर्त्त कहते हैं ।

बस, इस प्रकार से कई-कई आचार्य्य इस ब्रह्म को विवर्त्तनस्वरूप ही मानते हैं और वे कहते हैं कि जिस प्रकार स्वप्न में हमारे विज्ञान में आए हुए अखिल पदार्थों की (रथ-रथी, सारथि, अश्व एवं मार्गादि की) कल्पना हो जाती है तद्वत् इस ब्रह्म में इन सब कर्म्म की (बल की) कलाओं को समझना चाहिए । अर्थात् जितने पदार्थ दीखते हैं—उन सबको स्वप्नवत् मिथ्या समझो एवं सच्चा केवल ब्रह्म को ही समझो । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"केचित् पुनर्ब्रह्म विवर्तनं विदुः स्वप्नेहि विज्ञानगता यथाखिलाः ।
रथा रथी सारथिरश्वकाः पथस्तथा ननु ब्रह्मणि कर्म्मणां कलाः" ॥१५॥

इस प्रकार से यह ब्रह्म भी पूर्ण है एवं कर्म्म भी पूर्ण है एवं दोनों की पूर्णता पर्याप्तिवृत्त्या ही समझनी चाहिए । अर्थात् जितना ही ब्रह्म पूर्ण है—ठीक उतना ही कर्म्म भी पूर्ण है । तो जब इस प्रकार से दोनों ही पूर्ण हैं । जो पूर्ण है—वह सत्य होता है, अतएव इस पूर्णत्व हेतु से ब्रह्म भी सत्य है एवं कर्म्म भी सत्य है—यह दो पूर्ण सत्य सिद्ध हो गए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ब्रह्म च कर्म्म च पूर्णं, प्रत्येकं पूर्णतास्ति पर्य्याप्ता ।
यत् पूर्णं तत् सत्यं, सत्ये द्वे तेन ते सिद्धे" ॥१६॥

बस, इस प्रकार से कितने ही महर्षियों का मत है कि इस जगत् में पूर्णतया व्याप्त 'ब्रह्म' एव 'कर्म्म' ये ही दो सत्य पदार्थ हैं । बस, इनसे अलावा तीसरा जगत् में कुछ भी तत्त्व नहीं है । इस प्रकार से कई आचार्य्यों के मतानुसार तो 'सत्-चित्-आनन्द'—ये तीन ही सत्य हैं एवं जिसका प्रतिपादन 'कृष्णत्रिसत्योपनित्' में कर दिया गया है एवं कईयों के मत से ब्रह्म एवं कर्म्म—ये दो मत हैं । इस तरह अब तक 'कृष्णत्रिसत्योपनित्' एवं 'पूर्णद्विसत्योपनिषत्'—ये दो प्रकरण समाप्त हो गए । हमने इस पूर्णद्विसत्योपनिषत् में ब्रह्म एवं कर्म्म का स्वरूप बतला दिया है एवं ब्रह्म का कर्म्म के साथ कैसा सम्बन्ध

है ? एवं कर्म्मों का कर्म्मों के साथ कैसा सम्बन्ध है एवं इन दोनों से सृष्टि किस प्रकार होती है ? एवं माया किसे कहते है ? एवं च–हम इस निराकार ब्रह्म को कर्म्म में किस तरह पहचान सकते हैं ? एवं इन कर्म्मों में यह ब्रह्म कितने भावों से दिखलाई दे सकता है ?–इत्यादि इत्यादि सब बातों का विशदरूप से विवेचन कर दिया है । अब इसके अनन्तर 'प्रत्ययोपनिषत्' प्रारम्भ करते हैं ।

॥ इति तृतीयो ब्रह्मकर्म्मभ्यां सृष्टिक्रमाधिकारः ॥

॥ इति त्र्यधिकारात्मकं पूर्णद्विसत्योपनिषत्तृतीयपर्वभाष्यं सम्पूर्णम् ॥

अथ

प्रत्ययैकसत्योपनिषत् (चतुर्थं पर्व)

४

संशयतदुच्छेदवादमूलसंस्कृतपाठः—

अथ प्रत्ययैकसत्योपनिषत् ।

१—ब्रह्मकर्मान्वितरूपस्य प्रत्ययत्वम् ।

प्रत्यय इति यत्संज्ञा, ब्रह्म च कर्म्म च तदेकधाभूतम् ।
विषयाकाराकारितमिन्द्रियजनितं हि तज्ज्ञानम् ॥१॥

इन्द्रियजनितज्ञानं जगतीदं दृश्यते किन्तु ।
इन्द्रियमास्तां मास्तां प्रत्यय एषोस्ति नित्योऽर्थः ॥२॥

नित्ये ज्ञाने ब्रह्मणि कर्म्माण्येतानि भान्ति विषया ये ।
उदयन्ते विलयन्ति च तद्विश्वं शाश्वतं विकुर्वाणम् ॥३॥

२—प्रत्ययस्याहंज्ञानाकारस्यैकसत्यत्वम् ।

कृष्णत्रिसत्यं प्रवदन्ति केचित् पूर्णद्विसत्यं च वदन्ति केचित् ।
एकं तु सत्यं प्रवदामि जीवं जीवादिह प्रत्ययतोस्ति नान्यत् ॥१॥

विचारकक्षापरपारगामिनो विज्ञानपाथोधितलावगाहिनः ।
अलौकिकं किञ्चिदवेक्ष्य चक्षते सत्यं तदेकं मतमस्ति निश्चितम् ॥२॥

स प्रत्ययः प्रत्यय एव सत्यता तत्रैव निष्ठा हि पुरा विपश्चिताम् ।
स ईश्वरो वा स च जीव एव वा जगत् स आत्मा स च यज्ञपुरुषः ॥३॥

स जीव एवेति ममास्ति निश्चयो मत्प्रत्ययो भावयतेऽखिलं जगत् ।
स प्रत्ययः साधु विविच्य भावितो विज्ञानमाहात्म्यविशेषमर्पति ॥४॥

३—ईश्वरज्ञानस्याहंज्ञानपूर्वकत्वम् ।

यदाहुरेके परमेश्वरैकसत्यत्वमस्तीति तदस्त्यलीकम् ।
सिद्धे तु सत्ये मयि सत्यतां चोपजीव्यतामीश्वरसत्यतास्ति ॥१॥

यदीश्वरः स्यात् प्रथमं प्रपन्नस्तदैषु बिम्बप्रतिबिम्बभावात् ।
जीवेष्वनन्यत्वमितो महेशादुदीरितं स्यादिदमुक्तरीत्या ॥२॥

किन्त्वीश्वरो न प्रथमं प्रपन्नो बहिर्जगन्मूलतया तमीक्षे ।
अन्तर्जगत्तस्तु बहिर्जगत्तत् प्रोत्तर्क्यतेऽन्तर्जगदस्ति मत्तः ॥३॥

अहं तु साक्षादनुभूयमानोऽस्म्ययं प्रमाणानुगमानपेक्षः ।
सिद्धः स्वतः स्वानुभवैकगम्यो न चापलभ्यो निजबोधरूपः ।।४।।
मामेव तस्मात् प्रथमं प्रवेद्मि प्रत्यक्तमं तत् परमीश्वरं च ।
अहं हि सोऽन्तर्जगदाकरोमि ततो बहिर्विश्वमथेश्वरं च ।।५।।

४–जीवेश्वरयोरहंरूपैकत्वम् ।

अहं तु साक्षादिव यः प्रपन्नः स एव विश्वं च महेश्वरश्च ।
नातः पृथक् किञ्चन सिद्धयतीति ब्रूमोऽवधेयं ध्रुवमेकसत्यम् ।।१।।
न सन्ति तावद्बहवोऽत्र जीवा एकोऽहमेवास्म्यवबोधरूपः ।
अनन्तजीवप्रतिपत्तिहेतोर्भ्रान्त्या प्रतीतावपि नोपपत्तिः ।।२।।
पूर्वे विनष्टा न जगद्विनष्टं त्विति ध्रुवं प्रत्यय एव मेऽस्ति ।
मज्ज्ञानमात्रं जगदेतदस्ति स्वप्नान्तिकज्ञानवदित्यवेहि ।।३।।
स्वप्ने यथा मत्प्रतिपत्तिसिद्धाश्चैत्रादयः स्युर्बहवोऽस्म्यहं च ।
चैत्रक्षये स्वप्नजगन्न नष्टं मयि प्रबुद्धे तु विलीयते तत् ।।४।।
स्वप्ने यथा प्रत्यय एव सर्वः पाथस्तरिस्तारयिता तरीता ।
अहं परे चेत्थमिह प्रतीमो जाग्रत्यपि प्रत्यय एष सर्वः ।।५।।
एकोऽहमेवास्मि समं सुषुप्तौ स्वप्नेऽपि जाग्रत्यपि ता अवस्थाः ।
ज्ञानप्रकाराः परिवर्त्यमाना दिनेऽधिसन्ध्यं निशि सूर्य्य एकः ।।६।।
ज्ञानार्थभेदेषु विनश्यमानेष्वपि ध्रुवं नायमहं विनाशी ।
एकोहमेवास्मि परो न कश्चिज्ज्ञानप्रकाराः स्वपरात्मभेदाः ।।७।।
❀ न प्रत्ययादन्यदिहास्ति किञ्चिन्न प्रत्ययारते बहवो भवेयुः ।
स्वप्ने यथा तद्वदिमेऽन्यजीवास्ततोऽस्मि चैको निजबोधरूपः ।।८।।
इमे तु जीवन्ति मृता इमेऽन्ये जीवामि कालेन गतिर्ममापि ।
तदित्थमित्थं च धियो भवन्तीत्येतद्धियां मूलमहं स एकः ।।९।।
प्रवेद्मि तस्मादहमस्म्यथो वाऽहमस्मि तस्मादखिलं प्रवेद्मि ।
शक्यं न निर्धारयितुं ततोऽहं ज्ञानं च सत्ता च न भिद्यतेऽर्थः ।।१०।।

❀ अत्र प्रत्ययैकत्वमुक्तम् । तद्विरुद्धं तु प्रत्ययनानात्वमुक्तं विशिष्टत्रिसत्योपनिषदि ईश्वरसिद्धि प्रकरणे–'यथाऽहमेकोस्मीत्यादिना' ।

५–अहमात्मनः प्रत्ययैकसारत्वम् ।

ज्ञानं हि कालो न च तत्र कालो ज्ञानं हि देशो न च तस्य देशः ।
अधस्तदूर्ध्वं न दिशोऽत्र तु स्युः प्रपूर्णरूपं क्व चलेत् स्खलेद्वा ॥११॥
अनादिकालाज्जगदस्त्यनन्ते काले पुनः स्थास्यति विश्वमेतत् ।
प्रवाहरूपा गतिरित्थमस्मिन्नास्ति प्रवाहः प्रतिपद्यते सः ॥१२॥
नासीद् द्रुमः सोऽङ्कुरतः क्रमेण पुष्पी फली नाशमुपैति काले ।
तदित्थमित्थं प्रभवन्ति भावा ज्ञानस्य रूपाणि विजृम्भितानि ॥१३॥
शुक्लं च कृष्णं च हरिच्च पीतं ह्रस्वं च दीर्घं निकटं च दूरम् ।
क्षुद्रं महच्चाधिकमल्पमेतत् सर्वं ननु ज्ञानमतो न भिन्नम् ॥१४॥
कृष्णं प्रतीमो धवलं प्रतीमो भेदं प्रतीमोऽस्त्युभयं प्रतीमः ।
यद्वेद्यते वेदयते च वेत्ता तांस्तत् प्रभेदांश्च मिथः प्रतीमः ॥१५॥
तस्माद्ध्रुवं प्रत्यय एष सर्वो प्रत्ययादन्यदिहास्ति किञ्चित् ।
तत्प्रत्ययाद् भिन्नतया प्रतीतान्येतानि भूतान्यपि तं प्रीतमः ॥१६॥

६–अहमात्मनि प्रात्ययिकभेदोपपादनम् ।

यत्त्वाहुरेषामविशेषभावादहंतया प्रत्ययमात्रतायाम् ।
यस्तत्र भेदः प्रतिभाति तस्मिन् किं मूलमस्तीति हि तत्र वच्मि ॥१७॥
स्यात् प्रत्ययोऽसौ सदसत् स्वरूपो ज्ञानं तदज्ञानवृतं प्रतीमः ।
ज्ञाने स्युरज्ञानकृता विशेषा दुर्बोधमज्ञानमिदं यथावत् ॥१८॥
चतुःप्रकारा प्रतिपत्तिरस्मिन् संभाव्यते तां पृथगत्र विद्धि ।
मृत्युः स शून्यं तदियं च मायाथैकात्म्यमेतास्वपि नो विशेषः ॥१९॥

७–मृत्युवादः ।

वदन्ति हि ज्ञानमिदं विरुद्धद्विरूपतादात्म्यमिति ब्रवीमि ।
तत्रामृतं भासकमेकवत् स्यादनेकवद्भास्य इहैष मृत्युः ॥२०॥
अत्रामृतं त्वन्तरमस्ति मृत्योः सत्राऽमृतं चाहितमस्ति मृत्यौ ।
प्रतिक्षणान्यान्यविधस्वरूपास्ते मृत्यवोऽस्मिन्नमृते विभान्ति ॥२१॥
यथोर्म्मयः स्युः क्षणिकाः समुद्रादुद्भूय तत्र प्रलयं व्रजन्तः ।
न ते समुद्रात् पृथगुत्प्लवन्ते तथाऽमृते मृत्यव आस्थितास्ते ॥२२॥

८—शून्यवादः ।

यद्वेदमुष्णीषमसत् पटे सत्येवं पटोऽसन् सति भाति सूत्रे ।
असच्च सूत्रं सति भाति तूलेऽसत्तूलमाभाति मृदीव सत्याम् ।।२३।।
मृदप्सु तास्तेजसि तच्च वायौ स वाय्यधिप्राणमियं च सत्ये ।
इत्थं क्रमात्ते निखिला विकारा असन्त एवेह मयैव क्लृप्ताः ।।२४।।
नामासतो यद्धृतमेतदेव त्वारम्भणं कल्पितवस्तुनोऽस्य ।
न ते विकारा अपि तु ध्रुवं मे विकारकामाः प्रतिभान्ति भेदात् ।।२५।।
यथाऽन्धकारे मनसा पिशाचं प्रकल्प्य तस्माद्भयमेति भूयः ।
सत्यं पिशाचं प्रतिपद्यतेऽसौ न वेत्ति मज्ज्ञानविजृम्भितं तत् ।।२६।।
तथैव बाल्यात्प्रतिपद्य भिन्नं भिन्नं दृढं प्रत्ययमेति भेदे ।
तद्वस्तुवद्भाति तु वस्तुशून्यं सत्ताश्रयानाश्रितभातिसिद्धम् ।।२७।।
नाना न किञ्चित् क्वचिदस्ति रूपाण्येतानि नानापि तदेकरूपम् ।
ज्ञानस्य रूपं हि तथावभासः स्वाभाविकत्वादिदमप्रणोद्यम् ।।२८।।

९—मायावादः ।

यद्वाहमानन्दमयोऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मास्मि स निर्विकारः ।
येऽस्मिन् विकाराः प्रतिभान्ति नाना मिथ्यैव ते भानमिदं तु माया ।।२९।।
यदित्थमित्थं परिवर्त्यमाना आभान्ति नाभान्ति च तेन मिथ्या ।
यत्तेऽथ भान्त्येव सदा विवृत्या तन्मायिकत्वं प्रवदामि तेषाम् ।।३०।।
भातीति नासत् सततं न भातीत्यतो न सन्नो सदसद्विरोधात् ।
न सन्न चासत् सदसन्न वा यन्निर्धार्यते तां प्रवदामि मायाम् ।।३१।।
यदस्ति यद्भाति च नो न भाति नो नास्ति तत्सत्यमहं हि सत्यम् ।
यद्भाति न त्वस्ति यदस्ति वा प्राक् पश्चाच्च नो भाति तदस्ति माया ।।३२।।
विवर्तितं भाति न चास्ति सत्त्वे त्वसत्त्वबाधादिदमस्त्यसत्यम् ।
अनस्तिमद्भाति तु भानसत्ताश्रयात् ततोऽस्तीति वदामि मायाम् ।।३३।।
भानं हि सत्यं विषयास्तु पूर्वं न सन्ति ते सन्ति हि भानकाले ।
पुनर्न सन्तीत्यत एव भानास्तित्वं गृहीत्वा पुनरुत्सृजन्ति ।।३४।।
एतद्धि सत्ताग्रहणं च सत्तोत्सर्गश्च साक्षादिव नापलप्यम् ।
तामेव मायां प्रवदामि विश्वं, सर्वं हि मायैव, ततोऽस्त्यसत्यम् ।।३५।।

कुतोस्ति माया, कथमस्ति माया, सात्मैव मायाऽथ, पृथङ् नु माया ।
इत्थं क्वचिन्निर्वचनं न शक्यं, तथापि पश्यामि ततोऽभ्युपैमि ॥३६॥

१०–ऐकात्म्यवादः ।

यद्वाऽत्र नाना प्रतिभान्ति भावा न तत्र नाना किमपीदमस्ति ।
एकत्र भाने त इमे निगूढा भानस्वरूपं हि तदेकमस्ति ॥३७॥

भावोऽप्यभावोऽपि तयोश्च भेदोऽप्यभावभेदादपि भावभेदः ।
सर्वं हि विज्ञानमिदं तदेकं कूटस्थमाभात्यचलं ध्रुवं च ॥३८॥

भेदप्रतीतावपि भेदकानि ज्ञानानि भेद्यानि च तानि तेषु ।
न ज्ञानतोऽन्यद्विभिनत्ति किञ्चित् तस्मादिदं ज्ञानमभिन्नमेकम् ॥३९॥

नास्तीत्यतोऽस्तीति भवन्ति खण्डा यदस्ति यन्नास्ति च ते हि रूपे ।
ज्ञानस्य न ज्ञानमिहास्ति बृवरणं नतोन्नतोर्म्यो मतमेकमम्भः ॥४०॥

यदस्ति तद्वेद्मि, न वेद्मि यत्तन्नास्तीति, विज्ञानमिदं स्वतन्त्रम् ।
अखण्डमेकं प्रतिभाति शुद्धं ज्ञानात् पृथग् ज्ञेयमिहास्ति नैतत् ॥४१॥

भानं हि सत्यं, तदहं स्वरूपं, भाने स्थितास्ते विषया न सत्याः ।
अहं हि सत्यं, तदसत्यमस्मिन् स्थितं, ततः सत्यवदेव भाति ॥४२॥

सत्या इमे स्युर्यदि तर्हि सन्तो न सन्ति भान्तोऽपि न भान्ति कस्मात् ।
सतस्त्वसत्ताप्यसतश्च सत्ता नैवोपपद्येत विरुद्धमेतत् ॥४३॥

यन्नास्त्यसत् तद् यदिहास्ति सत्तत् नास्तीति वेद्मीत्यसदस्ति तस्मात् ।
सच्चास्त्यसच्चास्त्युभयप्रतीतेर्ज्ञानं ततः सद्ध्रुवमस्ति नासत् ॥४४॥

ज्ञानस्य तस्यैव सतः स्थिरस्योपबृंहणं विश्वमिदं विभाति ।
तस्माच्च विज्ञानमिदं वदामि ब्रह्मेह सर्वं प्रतितिष्ठतीदम् ॥४५॥

यदैतदात्म्यं सकलं न तस्मात् पृथक् ततो ब्रह्म वदामि सत्यम् ।
स्वप्नेऽपि जाग्रत्यपि चाहमेव ज्ञानं यतो भाति समस्तमेतत् ॥४६॥

ब्रह्मायमात्मेति वदन्ति तस्माद् ब्रह्मास्म्यहं तत्त्वमसीति चाहुः ।
सत्यं तथा ज्ञानमनन्तमेकं ब्रह्माद्वितीयं तदिदं तु सर्वम् ॥४७॥

विषयिणि विषयसमेते व्यासज्य प्रत्ययत्वमुपपन्नम् ।
प्रत्यय एव च सत्यं तस्मात् सत्यं तदेकमिह सिद्धम् ॥४८॥

॥ इति प्रत्ययैकसत्योपनिषत् (चतुर्थं पर्व) ॥

अथ प्रत्ययैकसत्योपनिषत् ।

१–ब्रह्मकर्मान्वितरूपस्य प्रत्ययत्वम् ।

ब्रह्म और कर्म्म के मिले हुए रूप को प्रत्ययस्वरूप बतलाना—

[हिन्दीविज्ञानभाष्य] हमने पूर्णद्विसत्य नाम के प्रकरण में ब्रह्म और कर्म्म–यही जगत् के व्यापक दो पूर्णसत्य बतलाए हैं अर्थात् जगत् में ब्रह्म एवं कर्म्म दो सत्य हैं–बाकी सब मिथ्या हैं–यह बतलाया गया है । परन्तु प्रकृत में इस द्विसत्य का खण्डन कर एक सत्य की ही स्थापना करते हैं । कई महर्षियों का मत है कि जगत् में केवल प्रत्यय (ज्ञान) स्वरूप एक ही सत्य है । बस, जिस की हम **प्रत्यय** यह संज्ञा रखते हैं वह प्रत्यय ब्रह्म और कर्म्म का मिला हुआ स्वरूप समझना चाहिए–अर्थात् ब्रह्म (सच्चिदानन्द) एवं कर्म्म (नामरूपकर्म्म) का मिला हुआ जो स्वरूप है उसे ही प्रत्यय कहते हैं । चूंकि प्रत्यय-प्रत्ययत्वेन अखिल विश्व में एक ही है अतः जगत् में केवल प्रत्ययस्वरूप एक ही सत्य समझना चाहिए । यह जो हमने प्रत्यय (ज्ञान) बतलाया है उसको विषयाकाराकारित ज्ञान समझना चाहिए । जिस समय हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं उस समय उस वस्तु प्रत्यक्ष में ध्याता, ध्यान एवं ध्येय–इन तीनों का संमिश्रण रहता है अर्थात् जब इन तीनों का मेल होता है–तभी प्रत्यक्ष का स्वरूप बनता है । जैसे–**मैं घोड़े को देख रहा हूँ**–यह जो अश्व का प्रत्यक्ष है–इसमें तीनों भाव मौजूद हैं । मेरा जो अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य है–जिसके कि कारण 'अहम्' यह अभिमान मुझको हुआ करता है–वही–**'अहमश्वं पश्यामि'**–इस वाक्य में **अहम्** है । बस, यह जो मेरा अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य है–वही जब बाहर जा कर घोड़े के आकार से परिणत हो जाता है–तब इसकी **विषयावच्छिन्नचैतन्य–यह** संज्ञा हो जाती है तो बस, यह जो विषयावच्छिन्नचैतन्य है–उसे ही **अहमश्वं पश्यामि–इस वाक्य में अश्वं** समझना चाहिए । इसके अनन्तर जब यह मेरे चैतन्य के आकार में परिणत होता हुआ जब यह अश्व मेरे पास आ जाता है तो वही चैतन्य–**अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न** के नाम से कहलाने लगता है । इस प्रकार **अहमश्वं पश्यामि** में जो 'पश्यामि' या 'जानामि' का पार्ट है वही–अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य समझना चाहिए । इस प्रकार से अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य एवं अन्तकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य एवं विषयावच्छिन्नचैतन्य-इन तीन पुटों को मिलाकर के ही प्रत्यक्ष का स्वरूप बनता है । बस, इसीलिए इस प्रत्यक्षरूप प्रत्यय को त्रिपुटी युक्त कहा करते हैं । इस प्रकार से जब ये तीनों एकत्र हो जाते हैं तभी वस्तु का प्रत्यक्ष होता है और इसी प्रत्यक्ष को **प्रत्यय** कहते हैं । सारांश यही हुआ कि यह जो **अश्वं पश्यामि** ज्ञान है–वह केवल मेरा चैतन्य (ज्ञान) ही चैतन्य है । इसी मेरे विषयाकाराकारित–**अहमश्वं पश्यामि**–इस ज्ञान में जो 'जानामि' का पार्ट है वह तो ब्रह्म का स्वरूप समझना चाहिए एवं जो अश्व का स्वरूप हमारे ज्ञान में आ बैठा है–उसे नामरूपात्मक कर्म्म का स्वरूप समझना चाहिए ।

बस, इसी ब्रह्म-कर्म्म को अपने पेट में लिए हुए जो विषयाकाराकारित हमारा ज्ञान है–उसे ही हम प्रत्यय कहते हैं एवं यही एक प्रत्यय ही जगत् में सत्यस्वरूप है इसी का स्पष्टीकरण करते हैं–

प्रत्यय यह जिसकी संज्ञा है वह प्रत्यय ब्रह्म और कर्म्म का मिला हुआ स्वरूप है। अर्थात् ब्रह्म और कर्म्म को मिला कर के ही प्रत्यय (ज्ञान) का स्वरूप बनता है। इस प्रकार से यह जो प्रत्ययस्वरूप ज्ञान है–उसको विषयाकाराकारित एवं इन्द्रियजन्य समझना चाहिए। बस, विषयाकाराकारित एवं इन्द्रियजन्य जो प्रत्ययस्वरूप ज्ञान है उसके अलावा जगत् में कोई दूसरा तत्त्व है ही नहीं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रत्यय इति यत्संज्ञा, ब्रह्म च कर्म्म च तदेकधाभूतम्।
विषयाकाराकारितमिन्द्रियजनितं हि तज्ज्ञानम्" ।।१।।

यहाँ पर एक प्रश्न होता है कि जिस प्रत्यय को तुमने विषयाकाराकारित एवं इन्द्रियजनित बतलाया है–वह ज्ञान इन्द्रियाभाव में नहीं रहने से नहीं होगा। इस प्रकार जब इन्द्रियों के नहीं रहने से जब ज्ञान नहीं होगा तो फिर यह प्रत्ययस्वरूप ज्ञान एक ही है एवं नित्य है एवं सत्यस्वरूप है यह तुम्हारा कहना सर्वथा असंगत होगा। क्योंकि इन्द्रियाँ रहे ही तो ज्ञान होगा और नहीं रहेगी तो ज्ञान नहीं होगा। बस, इसी प्रश्न का उत्तर देते हैं–इस संसार में जो कुछ हम देखते हैं अथवा जो कुछ हमें दिखाई देता है वह इन्द्रियजनित ज्ञान है–यह अवश्य ही मानना पड़ेगा। क्योंकि देखना, सुनना–इत्यादि विषयक जो ज्ञान हैं–वे विना इन्द्रिय के नहीं हो सकते, अतः संसार में इन्द्रियजनित ज्ञान ही दिखलाई पड़ता है तथापि इसमें इतना विशेष समझना चाहिए कि भले ही चाहे इन्द्रिय रहे या न रहे तथापि यह ज्ञानस्वरूप जो प्रत्यय है–वह अवश्य ही नित्यपदार्थ है। अर्थात् हमारी इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी घोड़ा है–इस ज्ञान का सर्वथा उच्छेद नहीं हो सकता। और यही बात युक्तिसङ्गत भी मालूम पड़ती है, क्योंकि हम पूछते हैं कि क्या हमारी आँख फूटने से घट-ज्ञान का भी नाश हो गया? हमें यदि उसका ज्ञान नहीं है तो किसी दूसरे चक्षु वाले को उसका ज्ञान है। इस प्रकार सर्वथा ही उस घटज्ञान का उच्छेद नहीं हो सकता, अतः चूँकि यह ज्ञान इन्द्रियजनित है, अतः इन्द्रियों के न रहने पर उस 'ज्ञान' का भी अभाव हो जाएगा यह कहना सर्वथा अयुक्त है। क्योंकि हमारी इन्द्रियों के नष्ट होने से संसार से ज्ञान की ही उच्छित्ति हो जाए–यह सर्वथा नहीं हो सकता, अतः चाहे इन्द्रियाँ रहें या न रहें–तथापि यह ज्ञानस्वरूप प्रत्यय अवश्य ही नित्य मानना पड़ता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"इन्द्रियजनितज्ञानं जगतीदं दृश्यते किन्तु।
इन्द्रियमास्तां मास्तां प्रत्यय एषोऽस्ति नित्योऽर्थः" ।।२।।

बस, इस व्यापक प्रकाशस्वरूप एवं नित्यज्ञान में ब्रह्म एवं कर्म्म प्रतिभासित होते हैं। अर्थात् इसी ज्ञान के पेट में हमें ब्रह्मकर्म्म का स्वरूप दिखलाई पड़ता है एवं इसी ब्रह्मकर्म्मात्मक ज्ञान में नाना प्रकार के विषय भी प्रतिभासित होते रहते हैं। अर्थात् कभी हमारे ज्ञान में घोड़ा आता है, कभी पट आता है, कभी मठ आता है। इस प्रकार से कभी इस ज्ञान में विषय उदय होते हैं एवं कभी उसी में

लीन हो आते हैं बस, प्रतिक्षण ये विषय उत्पन्न एवं विलीन होते रहते हैं, अतएव यह विश्व इन विषयों के प्रतिक्षण बदलते रहने के कारण ही निरन्तर विकुर्वद्रूप ही रहता है। इस प्रकार जिसमें यह विषयादि प्रतिभासित होते रहते हैं–वह प्रत्यय नाम का एक ही सत्य समझना चाहिए जिसका कि स्वरूप ब्रह्म-कर्म्म को मिला करके बनता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"नित्ये ज्ञाने ब्रह्मणि कर्म्माण्येतानि भान्ति विषया ये।
उदयन्ते विलयन्ति च तद्विश्वं शाश्वतं विकुर्वाणम्" ॥३॥

—❀—

२–प्रत्ययस्याहंज्ञानाकारस्यैकसत्यत्वम्।

अहम्-ज्ञानाकारित प्रत्यय का एकसत्यत्वस्थापन—

इस प्रकार से कईयों का मत है कि जगत् में सत्ता, चेतना और आनन्द–ये ही तीन सत्य हैं–इन तीन से अलावा संसार में कोई चौथी वस्तु ही नहीं। परन्तु कई-कई कहते हैं कि नहीं संसार में तीन सत्य नहीं है अपि तु, ब्रह्म एवं कर्म्म ये ही दो सत्य संसार में हैं। बस, इन दो सत्यों के अलावा जगत् में कोई तीसरा सत्य नहीं है। परन्तु मैं (शङ्कराचार्य) तो सम्पूर्ण विश्व में एक ही जीवरूप सत्य को मानता हूँ। अर्थात् मेरे ख़याल से तो जीवरूप प्रत्यय (ज्ञान) से अथवा प्रत्ययरूप जीव से अलावा संसार में कोई दूसरा सत्य है ही नहीं। जैसा कि श्री ओझा जी बतलाते हैं—

"कृष्णत्रिसत्यं प्रवदन्ति केचित् पूर्णद्विसत्यं च वदन्ति केचित्।
एकं तु सत्यं प्रवदामि जीवं जीवादिह प्रत्ययतोस्ति नान्यत्" ॥१॥

विचारधारा के परलीपार पहुँचने वाले एवं विज्ञानस्वरूप समुद्र के तल तक का पता लगाने वाले जो विद्वान् हैं–वे पूरी खोज द्वारा किसी अलौकिक पदार्थ को बतलाते हैं जो प्रत्ययस्वरूप सत्य है। और वह सत्य एक ही है–यह निश्चय समझना चाहिए अर्थात् उन्होंने अपनी खोज द्वारा यही सिद्ध किया है कि सम्पूर्ण विश्व में सारे विश्व का आधारस्वरूप एक ही सत्य है–जिसका कि नाम प्रत्यय है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विचारकक्षापरपारगामिनो विज्ञानपाथोधितलावगाहिनः।
अलौकिकं किञ्चिदवेक्ष्य चक्षते सत्यं तदेकं मतमस्ति निश्चितम्" ॥२॥

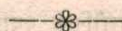
यह जो एक सत्यस्वरूप नित्य पदार्थ बतलाया है–उसको प्रत्ययस्वरूप ही समझना चाहिए एवं यही प्रत्यय सत्य से भरा हुआ है अर्थात् सत्यता को लिए हुए केवल यही प्रत्यय है–बाकी सब मिथ्या हैं। बस, इस प्रकार का सत्यस्वरूप जो एक प्रत्यय है–इसी में प्राचीन समय के महर्षियों की निष्ठा थी। अर्थात् वे लोग केवल प्रत्यय को ही सत्य मानते थे एवं इस प्रत्यय के अलावा सबको मिथ्या मानते

थे । परन्तु इस प्रत्यय में (ज्ञान में) सन्देह होता है कि क्या यह प्रत्ययस्वरूप ईश्वर है ? अथवा जीव है अथवा जगत् है ? किंवा आत्मा है ? किंवा यज्ञपुरुष है ? अर्थात् इनमें से किस का ज्ञान सत्य-स्वरूप है ? यह प्रश्न होता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स प्रत्ययः प्रत्यय एव सत्यता तत्रैव निष्ठा हि पुरा विपश्चिताम् ।
स ईश्वरो वा स च जीव एव वा जगत् स आत्मा स च यज्ञपूरुषः" ।।३।।

इसी का उत्तर देते हैं–मेरे खयाल से (श्री गुरुमतानुसार) यह जो हमने प्रत्यय बतलाया है–वह जीवस्वरूप ही समझना चाहिए–अर्थात्–जीव का ही यह पूर्वोक्त सत्यस्वरूप प्रत्यय समझना चाहिए । क्योंकि जो मैं इस जगत् को देख रहा हूँ–वह केवल मेरी ही भावना से तो भावित है । अर्थात्–यह स्वर्ग है, यह नर्क है, यह पत्थर है, यह राजा है, यह जगत् है, यह वन है, यह ईश्वर है, यह यज्ञपुरुष है, यह आत्मा है–ये सब मेरे ही ज्ञान से तो निष्पन्न हैं । यदि 'मैं' न होता तो कौन-कौन इन पदार्थों का ज्ञान करता, अतः यह जो हमने प्रत्यय बतलाया है–वह एकमात्र जीवस्वरूप ही समझना चाहिए । बस, यह जो जीवस्वरूप प्रत्यय है–उसको अच्छी प्रकार से निरन्तर यदि विवेचना-पूर्वक भावित किया जाए अर्थात्–पहचानने की कौशिश की जाए तो वही हमारा ही प्रत्यय वैज्ञानिक माहात्म्य विशेषों को हमारे में पैदा कर देता है । अर्थात्–हम कौन हैं ? यदि इस पर अमल किया जाए तो धीरे-धीरे हम अपने व्यापक प्रत्ययस्वरूप को पहचानते हुए परमानन्द का अनुभव कर सकते हैं । इसी भाव को लेते हुए शङ्कराचार्य उद्धृत करते हैं कि–**अहं ब्रह्मास्मि ।** बस, सम्पूर्ण कथन का सारांश यही है कि सम्पूर्ण विश्व में जीवप्रत्यय ही एक सत्य है एवं बाकी सब मिथ्या है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स जीव एवेति ममास्ति निश्चयो मत्प्रत्ययो भावयतेऽखिलं जगत् ।
स प्रत्ययः साधु विविच्य भावितो विज्ञानमाहात्म्यविशेषमर्पति" ।।४।।



३–ईश्वरज्ञानस्याहंज्ञानपूर्वकत्वम् ।

अहं ज्ञानपूर्वकत्व–ईश्वर का ज्ञान (अर्थात् पहले अहं का ज्ञान, फिर ईश्वर का ज्ञान)—

इस प्रकार से हमने पूर्व के प्रकरण में केवल प्रत्यय को ही सत्य बतलाया है । परन्तु अब यह प्रश्न होता है कि क्या यह प्रत्यय जीव का है ? किंवा ईश्वर का है ? किंवा परमेश्वर का है ? संसार में जीव, ईश्वर एवं परमेश्वर–ये तीन ही स्वरूप माने जाते हैं, अतः जो हमने प्रत्यय बतलाया है–वह भी इन तीनों में से ही किसी का हो सकता ? तो बस, अब पूछना यही है कि यह प्रत्यय इन तीनों में से किसका है ? इसी प्रश्न का कईयों के मत से यही उत्तर है कि जो व्यापक परमेश्वर है–उसी से ईश्वर उत्पन्न होता है एवं फिर उस ईश्वर से जीव की उत्पत्ति होती है, अतएव चूंकि परमेश्वर सबका जनक

है, अतः जनकत्वेन व्यापकत्वेन अतएव च–अविनाशित्वेन केवल एक यही परमेश्वर सत्य है, अर्थात्–यह जो प्रत्यय हमने बतलाया है–वह इसी व्यापक परमेश्वर का समझना चाहिए। इसी व्यापक परमेश्वर के प्रत्यय में ही ईश्वर एवं जीव का प्रत्यय काम किया करता है। इस प्रकार से कईयों के मतानुसार केवल परमेश्वर ही एकसत्य प्रत्ययस्वरूप है, अतः इस परमेश्वर के सत्य-प्रत्यय के अलावा सर्व मिथ्या है–यह कहते हैं। परन्तु विचार करने से स्पष्ट मालूम हो जाता है कि उनका जो परमेश्वर को सत्य मानना है–वह नितान्त भ्रान्तिमूलक है। क्योंकि सबसे पहले हम उस परमेश्वर को सत्य मानने वाले से यही पूछते हैं कि साहब! परमेश्वर है एवं उसी का एक भानप्रत्यय सत्य है और सब मिथ्या है–यह आपने क्यों कर पहचाना? इसका उत्तर **मैंने ही सूर्य्यादिकार्य द्वारा उसका अनुमान कर उसे पहचाना**–सिवाय इसके और कुछ भी नहीं हो सकता। जब यह उत्तर उसका है तो सुतरां पहले मेरी सत्यता (मैंने पहचाना) सिद्ध हो गई। अर्थात्–यदि मैं (जीव) न होता तो परमेश्वर है–इसका कुछ भी सबूत न होता। मेरी (जीव की) सत्यता जब पूर्व में सिद्ध हो जाती है तभी उसी मेरी सत्यता से उपजीव्य (पैदा होने वाली) उस ईश्वर किंवा परमेश्वर की सत्यता है। अर्थात्–यदि मैं हूँ तो ईश्वर है और मैं नहीं तो ईश्वर भी नहीं। तो कहने का सारांश यही है कि जिसने परमेश्वर की सत्यता का बोध कराया बस, उपजीव्यत्वेन वही (जीव) एकमात्र सत्य हो सकता है, अतः जिस जीव की सत्यता के कारण परमेश्वर के अस्तित्व का ज्ञान होता है–उसे मिथ्या बतला कर तदुपजीव्य केवल परमेश्वर को ही सत्य बतलाना–यह नितान्त भ्रान्ति समझनी चाहिए, अतः हमारे ख़याल से तो केवल जीव का ही प्रत्यय सत्य है और सर्व मिथ्या स्वरूप ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यदाहुरेके परमेश्वरैकसत्यत्वमस्तीति तदस्त्यलीकम्।
सिद्धे तु सत्ये मयि सत्यतां चोपजीव्यतामीश्वरसत्यतास्ति" ॥१॥

यदि ईश्वर की सत्यता जीव के पहले ही (जीव विना) साबित हो जाती तो फिर बिम्ब प्रतिबिम्ब-भाव से (अर्थात्–उस व्यापक परमेश्वर के चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर पर एवं ईश्वर के चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीवों पर पड़ने से) इस परमेश्वर से उक्तरीत्या जीवों में अनन्यत्व (अभेद) बतलाया जा सकता था। अर्थात्–पहले यदि ईश्वर सिद्ध हो जाता तो फिर उसी को हम सत्य प्रत्ययस्वरूप मान सकते थे और ऐसी हालत में जीव और परमेश्वर का अभेद भी उक्त हो सकता था जैसे कि सूर्य्य के और पानी में पड़े हुए सूर्य्य प्रतिबिम्ब के परस्पर अभेद होता है तद्वत्। परन्तु प्रकृत में जो ठीक इसके विपरीत है अर्थात्–पहले (जीव के लिए) ईश्वर की ही सत्यता सिद्ध नहीं है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यदीश्वरः स्यात् प्रथमं प्रपन्नस्तदैषु बिम्बप्रतिबिम्बभावात्।
जीवेष्वनन्यत्वमितो महेशादुदीरितं स्यादिदमुक्तरीत्या" ॥२॥

इसी का स्पष्टीकरण करते हैं-किन्तु जिस ईश्वर को तुम प्रत्यययुक्त बतलाना चाहते हो-वही जीव के पहले साबित नहीं हो सकता। अपि तु, इस ईश्वर की सत्यता तो बहिर्जगत् मूलतया सिद्ध होने से हमारे से तीसरे दर्जे में जा गिरती है। अर्थात् जिस समय हमारे सामने कोई वस्तु (घटपटादि) रखी रहती है-उस समय हमारी ज्ञानज्योति बाहर जाकर उस सामने रखी हुई वस्तु के आकार में परिणत होती हुई अर्थात्-तदाकाराकारित होती हुई हमारे पास प्रतिफलित होकर हमें **घटोऽस्ति-यह** ज्ञान करवाती है। तो बस, इस आनन्दस्वरूप आत्मा से चौतरफ निकलने वाली जो विज्ञान ज्योति है वह सामने स्थित वस्तु से टक्कर खाकर उसी वस्तु के आकार में परिणत होती हुई-उसी वस्तु के रूप को धारण करके सत्तारूप (अस्ति) में परिणत होती हुई यह हमको-**घटोऽस्ति**-यह ज्ञान करवा देती है (हमारी ज्ञानज्योति)। बस, इसी ज्ञान को सच्चिदानन्दात्मक एवं नामरूपात्मक त्रिपुटीयुक्त समझना चाहिए। कहने का सारांश यही है कि वस्तुतः वह जो सामने रखा हुआ पदार्थ है-वह हमारे पास नहीं आता अर्थात्-बहिर्जगत् का हमारे में प्रवेश नहीं होता अपि तु, हमारा ही ज्ञान तदाकाराकार में परिणत होता हुआ अन्र्तजगत् की सृष्टि करता है। इसका सबसे बडा सबूत यही है कि जिस समय पुरोदृश्यमान पर्वत हमारी दृष्टि से गायब हो जाता है-तब भी हमारे अन्तःकरण में हमें पर्वत का स्वरूप दिखलाई पड़ता है, अतः मानना पड़ता है कि हमारा ही ज्ञान सर्वप्रथम पुरोदृश्यमान वस्तु के आकार में परिणत होता हुआ अन्तर्जगत् की सृष्टि करता रहता है, अतः सबका सारांश यही हुआ कि मेरे से सर्वप्रथम अन्तर्जगत् अस्ति-यह प्रतीति होती है अर्थात्-सर्वप्रथम अन्तर्जगत् की सृष्टि होती है। बस, इसी अन्तर्जगत् से बहिर्जगत् की तर्कना की जाती है अर्थात्-जब हम सूर्य्य-चन्द्रादि की अन्र्तजगत् सृष्टि हमारे में देखते हैं तो अनुमान करना पड़ता है कि भाई! बाहर में कोई ऐसी सृष्टि है-जिसके कि द्वारा हमारी अन्तःसृष्टि का निर्म्माण होता है और उसी बाहर की जगत्-सृष्टि स्थित सूर्य्यचन्द्रमादि के द्वारा हमारी अन्तर्जगत् सृष्टि होती है। इसका सबसे बडा सबूत यही है कि यदि बाहर कोई सृष्टि न होती तो फिर हमारा ज्ञान किस के आकार से आकारित होकर अन्तर्जगत् का निर्म्माण करता? अतः सिद्ध हुआ कि इस हमारी अन्र्तजगत् सृष्टि से बहिर्जगत् सृष्टि का अनुमान अवश्य करना पड़ता है। बस, इसी बहिर्जगत सृष्टि से हम ईश्वर का अनुमान करते हैं, क्योंकि संसार में कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं हो सकता-यह ध्रुव नियम है। अतः इस पृथिवी से भी १४००० गुणा बडा सूर्य्यरूप कार्य को एवं पृथिवी अङ्कुरादि कार्यों को देखकर अवश्य ही किसी कारण का अनुमान करना पड़ता है। चूंकि अस्मदादि इन सबके कारण हो नहीं सकते, अतः इन सबका कारण एक स्वतन्त्र ही मानना पड़ता है-जिसे कि हम ईश्वर कहते हैं, अतः सम्पूर्ण कथन का सारांश यही हुआ कि जिस ईश्वर को तुम सत्य बतलाते हो उसकी सत्यता का अनुमान बहिर्जगत् से (सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी अङ्कुरादि कार्यों से) किया जाता है अर्थात्-तन्मूलतया ही हम उसको पहचान सकते हैं एवं इस बहिर्जगत् का अनुमान हमारे अन्तर्जगत् सत्य से किया जाता है, अतः ईश्वर हमारे से तीसरे दर्जे में जाकर के सत्य साबित होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

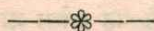
"किन्त्वीश्वरो न प्रथमं प्रपन्नो बहिर्जगन्मूलतया तमीक्षे।
अन्तर्जगत्तस्तु बहिर्जगत्तत् प्रोत्तर्क्यतेऽन्तर्जगदस्ति मत्तः" ॥३॥

अतः यह सिद्धान्त हुआ कि केवल मैं ही सत्य हूँ और सब मिथ्या है। क्योंकि मैं तो साक्षात् अनुभूयमान हूँ अर्थात्–**अहमस्मि** इस मेरी सत्ता के लिए मुझे किसी दूसरे के प्रमाण की आवश्यकता नहीं, अतः मैं मेरे सत्यत्व व्यवहार में सर्वथा स्वतन्त्र हूँ, अतः **अहं सत्यता** (जीव सत्यता) स्वानुभवैकगम्य होने से सर्वथा सिद्ध है। ऐसे इस निजबोधरूप सत्यस्वरूप भाव की सत्यता का खण्डन हम कथमपि नहीं कर सकते। अतः ऐसे सत्यस्वरूप स्वानुभवैकगम्य जीव को सत्य न मान कर केवल परमेश्वर को ही सत्य मानने वालों को नितान्त भ्रान्त समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अहं तु साक्षादनुभूयमानोऽस्म्ययं प्रमाणानुगमानपेक्षः।
सिद्धः स्वतः स्वानुभवैकगम्यो न चापलप्यो निजबोधरूपः" ॥४॥

चूंकि मैं (जीव) स्वानुभवैकगम्य हूँ, अतः मैं सर्वप्रथम विना किसी प्रमाणापेक्षा से मुझे ही पहचानता हूँ अर्थात्–पहले में अपनी ही आत्मा (प्रत्यगात्मा) का प्रत्यक्ष करता हूँ। बस, तत् पश्चात् इसके द्वारा परमेश्वर के सत्यत्व का निश्चय किया जाता है। बस, मैं ही सर्वप्रथम अन्तर्जगत्-निर्म्माण करता हूँ फिर उसी के द्वारा बहिर्जगत् का अनुमान करता हूँ एवं तीसरी कोटि में जाकर फिर में ईश्वर की सत्यता स्थापन करता हूँ, अतः हम निःसन्देह कह सकते हैं कि संसार में जो कि परमेश्वर तक की सत्यता स्थापन करने वाला है-वही एक सत्य है जो कि जीव कहलाता है। बस, इस प्रकार से अहंज्ञान-पूर्वकत्व ईश्वरज्ञान समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"मामेव तस्मात् प्रथमं प्रवेद्मि प्रत्यक्तमं तत् परमीश्वरं च।
अहं हि सोऽन्तर्जगदाकरोमि ततो बहिर्विश्वमथेश्वरं च" ॥५॥



४–जीवेश्वरयोरहंरूपैकत्वम्।
जीव और ईश्वर का एकत्व प्रतिपादन—

पूर्व के तीसरे सूत्र में बतला दिया है कि संसार में केवल प्रत्यय ही सत्य है और सब मिथ्या है एवं वह प्रत्यय भी केवल जीव का ही है, क्योंकि मेरे ही सत्य से तो ईश्वरादि का प्रत्यय होता है, अतः ईश्वर मेरे प्रत्यय से सत्य है परन्तु अब प्रकृत में ईश्वर को जीव से अलग न मान कर तद्रूप ही बतलाते हैं–'अहं' पदवाच्य जो एक स्वानुभवैकगम्य प्रमाणानपेक्ष जो 'मैं'–रूप एकसाक्षात्निजबोधरूप विद्यमान हूँ–वही तो यह विश्व एवं महेश्वर है अर्थात्–मेरा ही तो प्रत्यय विश्वरूप में एवं ईश्वररूप में परिणत हो जाता है, अतः इस निजबोधस्वरूप मेरे से पृथक् कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता है, अतः हम सिद्धान्तरूप से कह सकते हैं कि तुमको केवल एकजीव के प्रत्यय को ही सत्य समझना चाहिए एवं इसी जीव के प्रत्ययस्वरूप से परिणत अतएव, जीवस्वरूप ही इस विश्व एवं परमेश्वर को समझना

चाहिए । बस, इस जीव-सत्य के अलावा सर्व मिथ्या ही है-यह सिद्धान्त समझना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अहं तु साक्षादिव यः प्रपन्नः स एव विश्वं च महेश्वरश्च ।
नातः पृथक् किञ्चन सिद्धयतीति ब्रूमोऽवधेयं ध्रुवमेकसत्यम्" ।।१।।

अब यहाँ पर जीव के प्रत्यय को सत्य मान लेने पर एक बडा भारी प्रश्न उपस्थित होता है और वह प्रश्न यही है कि यदि तुम यह नित्य प्रत्यय जीव का ही मानते हो तो हम तुमसे पूछते हैं कि बतलाओ इन अनन्त जीवों में से किस जीव का प्रत्यय सत्य है ? क्योंकि जीव वास्तव में हमें अनन्त दिखलाई पड़ते हैं । ऐसी स्थिति में तुम जिस जीव के प्रत्यय को सत्य बतलाओगे-दूसरा किसी दूसरे ही जीव के प्रत्यय को सत्य बतलाएगा । इस प्रकार विनिगमनाविरहात् जीव के प्रत्ययत्व की उच्छित्ति होकर उसका केवल ईश्वर पर ही विश्राम होगा । अर्थात्–वह प्रत्यय विनिगमनाभावात् जीव का तो मान नहीं सकते अतः अगत्या यह प्रत्यय तुमको ईश्वर का ही मानना पड़ेगा इसलिए हमारे ख़याल से केवल ईश्वर का ही यह प्रत्यय हो सकता है न कि जीव का । बस, इसी प्रश्न का उत्तर देते हैं—

यदि अनन्त जीव हों तो तुम्हारा पूर्वोक्त कथन सत्य हो सकता है परन्तु जिस मूल को लेकर, तुमने प्रश्न उठाया है–यह मूल ही सर्वथा ढीला है । क्योंकि वस्तुतः अनन्तजीव हैं ही नहीं । यह जो अनन्त जीव तुम्हें दिखलाई पड़ते हैं–यह सर्वथा मिथ्या-भ्रान्ति है–सच्चा तो केवल निजबोधस्वरूप एक मैं (जीव) ही हूँ । हाँ यद्यपि भ्रान्ति के कारण अनन्तजीवस्वरूप की प्रतीति तुम्हें अवश्य होती है, परन्तु यह थोथी भ्रान्ति ही समझनी चाहिए क्योंकि अनन्तजीव की सत्ता में तुम कोई भी उपपत्ति (वास्तविक कारण) नहीं बतला सकते । अपि च–अनन्त जीव हैं–यह जो हम कहते हैं–यह भी तो हमारा ही प्रत्यय है, अतः हमारे प्रत्यय से अलग तुम अनन्त जीवों को नहीं मान सकते । तस्मात्–जीवानन्त्य प्रयुक्त जो तुम्हारा दोष देना है–वह सर्वथा आपातरमरणीय ही है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"न सन्ति तावद्बहवोऽत्र जीवा एकोऽहमेवास्म्यवबोधरूपः ।
अनन्तजीवप्रतिपत्तिहेतोर्भ्रान्त्या प्रतीतावपि नोपपत्तिः" ।।२।।

अब यहाँ पर फिर एक प्रश्न होता है कि–अच्छा माना हमने कि–जीव ही एकमात्र सत्य है, परन्तु अब हम तुमसे पूछते हैं कि यदि जीव ही एकमात्र सत्य है एवं उस जीव के ही प्रत्यय से यह संसार बना हुआ है ? ऐसी हालत में जब यह जीव देहोत्क्रमण कर जाता है अर्थात्–नष्ट हो जाता है तब उसके साथ ही साथ यह संसार भी नष्ट हो जाना चाहिए परन्तु हम देखते हैं कि जीव के मर जाने पर भी इस संसार की स्थिति ऐसी की ऐसी ही रहती है इसलिए यह प्रत्यय जीव का कथमपि नहीं हो सकता अपि तु, यह प्रत्यय केवल ईश्वर का ही हो सकता है । बस, जब ईश्वर का यह प्रत्यय

मान लिया जाता है तो जीव के नष्ट होने पर भी ईश्वर-प्रत्यय के विद्यमान होने से इस विश्व का नाश नहीं होता ।

इस तरह विश्व की स्थिति की उपपत्ति हो जाती है–इसी प्रश्न का उत्तर देते हैं—

मेरे से पूर्व के जीव नष्ट हो गए, परन्तु जगत् का नाश नहीं हुआ–यह जो एक प्रत्यय तुम्हें हो रहा है–वह भी तो एकमात्र मेरा (तुम्हारा) प्रत्यय ही है । अर्थात् जो तुमने जीव का नष्ट होना समझ रखा है–वह भी तो केवल प्रत्ययमात्र ही है । यदि च–प्रत्यय के अलावा जीव का मरना साबित होता तो तुम्हारा पूर्वपक्ष ठीक बन सकता था । परन्तु यहाँ पर ऐसा है ही नहीं । सारांश इसका यही हुआ कि 'यह जीव मर गया, परन्तु जगत् नष्ट नहीं हुआ'–यह जो एक हमें प्रतीति हो रही है–यह भी तो केवल मेरा प्रत्यय ही प्रत्यय है–अर्थात्–केवल मेरा प्रत्यय ही–इस विश्व की शक्ल में परिणत हो रहा है एवं यह जीव का मरना भी केवल मेरे प्रत्यय का ही स्वरूप है–जैसा कि स्वाप्नज्ञान में मेरा प्रत्यय ही सारी क्रिड़ा किया करता है तद्वत् जाग्रत् अवस्था में भी–यह सारा प्रपञ्च केवल मेरे प्रत्यय का स्वरूप ही समझो, अतः जीव मर गया, परन्तु संसार अब भी मौजूद है, अतः इस जीव के प्रत्यय को सत्य नहीं मान सकते–यह कहना नितान्त भ्रममूलक ही समझना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पूर्वे विनष्टा न जगद्विनष्टं त्वितिध्रुवं प्रत्यय एव मेऽस्ति ।
मज्ज्ञानमात्रं जगदेतदस्ति स्वप्नान्तिकज्ञानवदित्यवेहि" ।।३।।

स्वप्न ज्ञान में मेरा ही प्रत्यय किन-किन रूपों को धारण कर लेता है–यह बतलाते हैं–स्वप्न में जिस प्रकार मेरे ही ज्ञान से चैत्र-मैत्र-कुआ-बावड़ी-घाट-शहर इत्यादि नाना प्रकार के पदार्थ निर्म्मित हो जाते हैं एवं साथ ही में इन सबसे अलावा मैं भी रहता हूँ–अर्थात्–वही ज्ञान अहम्-रूप में विद्यमान रहता है एवं वही ज्ञान परकीयस्वरूप धारण कर लेता है । परन्तु उस मेरे जानाकार से निष्पन्न चैत्रादि में से यदि चैत्र का नाश हो जाता है तो भी मेरे उस स्वप्न जगत् का नाश नहीं होता–बस, तद्वत् ही मेरे ही ज्ञान से बना हुआ जो एक जीवान्तर है–उसके नष्ट होने पर स्वप्नजगत् जैसे नष्ट नहीं होता–तद्वत् मेरे ही प्रत्यय से बना हुआ यह विश्व कैसे नष्ट हो सकता है । परन्तु उस स्वप्न से जब में जाग पड़ता हूँ–तो फिर अवश्य ही उस स्वप्न जगत् का नाश हो जाता है । अर्थात्–जब मैं मुक्तावस्था में चला जाता हूँ तो स्वप्न जगत् के नष्ट होने की तरह मेरा प्रत्ययस्वरूप विश्व भी अवश्य ही नष्ट हो जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्वप्ने यथा मत्प्रतिपत्तिसिद्धाश्चैत्रादयः स्युर्बहवोऽस्म्यहं च ।
चैत्रक्षये स्वप्नजगन्न नष्टं मयि प्रबुद्धे तु विलीयते तत्" ।।४।।

जिस प्रकार स्वप्न में यह केवल मेरा ही प्रत्यय सब कुछ बन जाता है–अर्थात् वही प्रत्यय नौका का रूप धारण कर लेता है एवं वही प्रत्यय खेवटिया का रूप धारण कर लेता है एवं वही प्रत्यय तिरने वाले का रूप धारण कर लेता है। तो जिस प्रकार स्वप्नावस्था में मेरा ही प्रत्यय सब कुछ बन जाता है, तद्वत् ही–'यह मैं हूँ और यह मेरे से दूसरे भिन्न जीव हैं'–यह प्रतीति जाग्रत् अवस्था में भी हुआ करती है–बस, जिस तरह स्वप्न में मेरा ही प्रत्यय सब बन जाता है तद्वत् ही जाग्रत् अवस्था में भी यह मैं हूँ–यह दूसरे जीव हैं–यह सब मेरे प्रत्यय का ही स्वरूप समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्वप्ने यथा प्रत्यय एव सर्वः पाथस्तरिस्तारयिता तरीता।
अहं परे चेत्थमिह प्रतीमो जाग्रत्यपि प्रत्यय एष सर्वः" ॥५॥

इस प्रकार सम्पूर्ण कथन का सारांश यही हुआ कि मैं एक ही हूँ–अर्थात् जो मैं स्वप्न में था एवं सुषुप्ति में था एवं अब जाग्रत् अवस्था में हूँ–उन सब में समरूपेण एकभाव से मैं ही हूँ–इस प्रकार से यह जो स्वप्नादि नाना प्रकार की हालतें मुझ में होती हैं–वे सब मेरी अवस्था का भेद समझना चाहिए। तो जिस प्रकार सुषुप्त्यादि मेरी अवस्थाएँ हैं तद्वत् यह जो भिन्न प्रकार के हरवक्त बदलते हुए ज्ञान के प्रकार हैं–वे मेरा ही प्रत्यय समझना चाहिए अर्थात्–मेरा ही प्रत्यय नाना प्रकार के स्वरूप में परिणत होता रहता है। उदाहरण–जैसे दिन में सायंकाल एवं रात्रि को यद्यपि एक ही सूर्य्य रहता है तथापि केवल अवस्था भेद से उसी सूर्य्य द्वारा दिन-सन्ध्या एवं रात्रि यह नाना प्रकार के भाव पैदा हो जाते हैं अर्थात् जब सूर्य्य पृथिवी के नीचे चला जाता है तो एतदवस्था में अब स्थित सूर्य्य रात्रि बना देता है एवं जब क्षितिज पर सूर्य्य चला जाता है तो वही सूर्य्य सन्ध्या के स्वरूप का निर्म्माण कर देता है एवं जब वही सूर्य्य मध्याह्न में आ जाता है तो दिन का स्वरूप बना डालता है बस, तद्वत् ही हमारा प्रत्यय भी कभी अन्य जीव के स्वरूप में परिवर्त्तित हो जाता है–कभी स्वप्नावस्था में चला जाता है–गरज यह है कि हमारा प्रत्यय ही सब कुछ बनाता है, अतः केवल यही सत्य है और सब मिथ्या है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एकोऽहमेवास्मि समं सुषुप्तौ स्वप्नेऽपि जाग्रत्यपि ता अवस्थाः।
ज्ञानप्रकाराः परिवर्त्यमाना दिनेऽधिसन्ध्यं निशि सूर्य्य एकः" ॥६॥

बस, तो जिस प्रकार–दिन-रात एवं सन्ध्या के प्रतिदिन नष्ट होने पर भी जैसे सूर्य्य का नाश कभी नहीं होता है तद्वत् मेरे ज्ञान से जो जो अर्थ बने हुए हैं उनके नष्ट हो जाने पर भी मैं (अहम्–जीव) कभी भी नष्ट नहीं हो सकता हूँ। बस, ससार में मैं ही एक सत्यस्वरूप हूँ और मेरे से भिन्न अन्य कोई भी जीव वगैरह नहीं हैं। यह जो–**यह मैं हूँ और यह दूसरा जीव है**–इस प्रकार की प्रतीति मुझको हुआ करती है–वह केवल मेरे ही ज्ञान की क्रीड़ा समझनी चाहिए अर्थात्–मेरे ही खयाल ने मेरे

से दूसरे जीव की भी सृष्टि बना डाली है, अतः मेरे प्रत्यय से अलग और कुछ भी नहीं है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ज्ञानार्थभेदेषु विनश्यमानेष्वपि ध्रुवं नायमहं विनाशी।
एकोहमेवास्मि परो न कश्चिज्ज्ञानप्रकाराः स्वपरात्मभेदाः" ॥७॥

इस प्रकार से यह सिद्धान्त हो गया कि इस प्रत्यय (ज्ञान) से अलावा कुछ भी नहीं है एवं यह प्रत्यय नाना नहीं हो सकते अर्थात्–प्रत्यय बहुत से नहीं हो सकते। जिस प्रकार स्वप्न में मैं ही नाना स्वरूप (चैत्रादि, मैत्रादि) में परिणत हो जाता हूँ तद्वत् जाग्रत् में भी मैं ही नाना जीव बन जाता हूँ बस, इस प्रकार से सच्चा एक मैं ही हूँ एवं वह मैं एक हूँ एवं निजबोधरूप हूँ। इस मेरे प्रत्यय से अलावा कुछ भी सच्चा नहीं है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"न प्रत्ययादन्यदिहास्ति किञ्चिन्न प्रत्ययास्ते बहवो भवेयुः।
स्वप्ने यथा तद्वदिमेऽन्यजीवास्ततोऽस्मि चैको निजबोधरूपः" ॥८॥

ये मनुष्य जीते हैं–ये दूसरे मनुष्य मर गए एवं मैं जीता हूँ एवं च–थोड़े समय के बाद मैं भी मर जाऊँगा–यह जो नाना प्रकार की बुद्धि मुझको हुआ करती है–इन सबका मूल केवल मैं ही हूँ और वह मैं (जीव) एक ही हूँ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"इमे तु जीवन्ति मृता इमेऽन्ये जीवामि कालेन गतिर्ममापि।
तदित्थमित्थं च धियो भवन्तीत्येतद्धियां मूलमहं स एकः" ॥९॥

हम यह निर्णय कथमपि नहीं कर सकते कि यह संसार है इसलिए हमें इसका ज्ञान होता है अथवा हम हैं इसलिए संसार-ज्ञान होता है–अर्थात्–अस्ति–अतः ज्ञायते अथवा ज्ञायते अतः अस्ति–इसका निर्णय हम सर्वथा नहीं कर सकते। बस, इसी कारण से चूँकि इनकी काँट-छाँट नहीं कर सकते। इसलिए हम इस सत्ता और ज्ञान को एक ही वस्तु कह सकते हैं। अर्थात्–सत्ता और ज्ञान–ये दोनों एक ही वस्तु हैं। तो बस, यह सिद्धान्त हो गया कि वस्तुतः ईश्वर कुछ नहीं है–अपि तु, मैं ही ईश्वर हूँ। क्योंकि केवल मेरा ही (जीव का) प्रत्यय सत्य है एवं बाकी सब मिथ्या है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रवेद्मि तस्मादहमस्म्यथो वाऽहमस्मि तस्मादखिलं प्रवेद्मि।
शक्यं न निर्धारयितुं ततोऽहं ज्ञानं च सत्ता च न भिद्यतेऽर्थः" ॥१०॥

——❀——

५–अहमात्मनः प्रत्ययैकसारत्वम् ।

अहमात्मा का जो प्रत्यय है–वही सबका सार है–यह बतलाना––

पूर्व के चतुर्थ सूत्र में जो प्रश्न किया था–वही प्रश्न करके फिर उसका प्रकारान्तर से समाधान करते हैं। यदि तुम्हारे हिसाब से केवल ज्ञान ही (प्रत्यय) ही सच्चा है तो फिर एक जीव के मरने से तत्–प्रत्ययस्वरूप जगत् का भी नाश हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं है। और हम देखते हैं कि जीव के मरने पर भी संसार यों का यों ही स्थित रहता है, अतः यह प्रत्यय जीव का नहीं माना जा सकता। क्योंकि हमने प्रत्यक्ष में देखा है कि यह जीव इस समय तक था और इतनी दूर था, परन्तु अब वह नष्ट हो गया परन्तु इस जीव के नष्ट होने पर भी संसार यों का यों ही दीख रहा है। तस्मात् जीव का प्रत्यय सत्य नहीं हो सकता उत्तर देते हैं कि भाई! जो तुमने यह समझ रखा है कि इस समय तक एवं इतने देश पर यह जीव स्थिर है–यह भी तो तुम्हारा ख़याल ही ख़याल है, अर्थात्–तुम्हारे प्रत्यय के ही तो कालादि बने हुए हैं, अतः काल को ज्ञान (प्रत्यय)–स्वरूप समझना चाहिए न कि उस ज्ञान में ज्ञान से अलावा और काल उत्पन्न होता है एवमेव जो स्थान बतलाया है–वह भी ज्ञान-स्वरूप ही समझना चाहिए न कि उस ज्ञान का वह ज्ञान से अतिरिक्त स्थान है। एवमेव, यह ऊँचा है, यह नीचा है, इससे उत्तर है, यह इससे दक्षिण है–इत्यादि जो तुमसे दिशा की कल्पना कर दी जाती है–यह सब भी ज्ञान का ही प्रपञ्च समझना चाहिए। अर्थात्–वस्तुतः यह कल्पना केवल हमारे प्रत्यय से ही बनी हुई है। जो पदार्थ दिग्देशकाल से अवच्छिन्न होता है उसी में इससे यह उत्तर है, इससे दक्षिण है–यह दिशा की कल्पना हुआ करती है परन्तु जो व्यापक है–पूर्णस्वरूप है–वह कहाँ चले और कहाँ (किस स्थान में) स्खलित होवे, अतः चूँकि यह प्रत्यय व्यापक एवं पूर्ण है, अतः इसके दिग्देशकालानवच्छिन्न होने की वजह से यह सर्वथा ही ऊँचे-नीचे व्यवहार से रहित है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है––

"ज्ञानं हि कालो न च तत्र कालो ज्ञानं हि देशो न च तस्य देशः।
अधस्तदूर्ध्वं न दिशोऽत्र तु स्युः प्रपूर्णरूपं क्व चलेत् स्खलेद्वा" ॥११॥

यह जो संसार है–वह अनादिकाल से यों का यों ही मौजूद है एवं अनन्तकाल तक यह संसार यों का यों ही ठहरा रहेगा। इस प्रकार से इस संसार में एक यह नित्यप्रवाहगति हर समय जारी रहती है। और वस्तुतः देखा जाए तो जो तुम्हें यह प्रवाहरूप से प्रलयोत्पत्तिस्वरूपयुक्त संसार दीख रहा है–वह भी केवल प्रत्यय का ही स्वरूप है अर्थात्–हमारा ही प्रत्यय इस नित्य प्रवाह के स्वरूप में परिणत हो गया है, अतः यह प्रवाह भी मिथ्या ही है, सच्चा तो केवल एकमात्र प्रत्यय ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अनादिकालाज्जगदस्त्यनन्ते काले पुनः स्थास्यति विश्वमेतत्।
प्रवाहरूपा गतिरित्थमस्मिन्नास्ति प्रवाहः प्रतिपद्यते सः" ॥१२॥

अभी हम देखते हैं कि हमारे घर में वृक्ष नहीं है, परन्तु जब हम बीज लाकर उसका सिञ्जन करते हैं तो उसमें अङ्कुर पैदा हो जाते हैं। फिर उस अङ्कुर से वही बीज वृक्ष के रूप में परिणत होता हुआ पुष्पवाला बन जाता है एवं थोड़े ही दिनों में फलयुक्त बन जाता है–इस प्रकार से जो वृक्ष अब तक हमारे घर में नहीं था–वही आज फूलों और फलों से लदा हुआ हमें दिखाई दे रहा है एवं थोड़े ही काल में वह वृक्ष नष्ट हो जाता है–इस प्रकार के यह जो नाना प्रकार के नए-नए भाव पैदा होते हैं–वे सब हमारे ज्ञान के रूप से ही निर्मित समझने चाहिएँ। अर्थात्–केवल हमारा ही ज्ञान उपरोक्त सब भावों में परिणत होता रहता है, वस्तुतः न वृक्ष पहले था और न अब है, अतः एकमात्र सच्चा हमारा प्रत्यय ही है और सब मिथ्या ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"नासीद् द्रुमः सोऽङ्कुरतः क्रमेण पुष्पी फली नाशमुपैति काले।
तदित्थमित्थं प्रभवन्ति भावा ज्ञानस्य रूपाणि विजृम्भितानि" ॥१३॥

यह वस्त्र काला है, यह वस्त्र हरित वर्ण का है, यह वस्त्र पीला है, यह वस्तु छोटी है, यह मकान बडा ऊँचा है, यह बाग हमारे से बडा नजदीक है, वह शहर हमारे से बडा दूर है, यह आदमी बड़े-छोटे दिल का है, यह आदमी बडा फैय्याजदिल है, इस सरोवर में तो पानी बिल्कुल थोड़ा सा है–ये जो नाना प्रकार के भाव हमें देख रहे हैं वे सब ज्ञान का ही प्रपञ्च समझना चाहिए। अर्थात्–ये सारे स्वरूप हमारे प्रत्यय से ही (खयाली पुलाव) बने हुए हैं, अतः इस ज्ञान से अलावा सच्चा सत्य कुछ भी नहीं है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"शुक्लं च कृष्णं च हरिच्च पीतं ह्रस्वं च दीर्घं निकटं च दूरम्।
क्षुद्रं महच्चाधिकमल्पमेतत् सर्वं ननु ज्ञानमतो न भिन्नम्" ॥१४॥

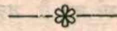
हम एक वस्त्र को काला देख रहे हैं एवं एक को सफेद देख रहे हैं–इस प्रकार से हम पास में रखे हुए दोनों वस्त्रों में परस्पर भेद का प्रत्यक्ष कर रहे हैं एवं च–एककालावच्छेदेन ही हम दोनों को देख रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ के प्रत्यक्ष में त्रिपुटी हुआ करती है अर्थात्–उस प्रत्यक्ष के तीन पार्ट होते हैं–ज्ञाता-ज्ञान एवं ज्ञेय। इस प्रकार से जो कि जाना जाता है (ज्ञेय) एवं जो जनवाता है (ज्ञान) एवं जो जानता है (ज्ञाता) है–इन तीनों भेदों को मिलाकर जो प्रत्यक्ष मैं कर रहा हूँ–इन तीनों भेदों को मैं परस्पर मिले हुए पहचान रहा हूँ। अर्थात्–मैं उसका प्रत्यक्ष करता हूँ एवं उसमें मौजूद ज्ञाता-ज्ञान एवं ज्ञेय–इन तीनों भेदों का भी अवलोकन कर रहा हूँ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कृष्णं प्रतीमो धवलं प्रतीमो भेदं प्रतीमोऽस्त्युभयं प्रतीमः।
यद्वेद्यते वेदयते च वेत्ता तांस्तत्प्रभेदांश्च मिथः प्रतीमः" ॥१५॥

चूंकि मैं ही वस्तु का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ एवं मैं मुझको भी देख रहा हूँ, अतः निश्चय करके जो कुछ हम देख रहे हैं–वे सब इसी प्रत्यय का प्रपञ्च समझना चाहिए। बस, इस जीव के प्रत्यय के

अलावा इस संसार में दूसरा कोई अन्य सत्य है ही नहीं। अब यहाँ पर प्रश्न होता है हम देखते हैं कि पुरोदृश्यमान जो भौतिक पदार्थ हैं–उनको कोई भी प्रत्ययस्वरूप कहने के लिए तय्यार नहीं है, अतः प्रत्यय से भिन्नतया प्रतीयमान जो भूत हैं–वे सर्वथा प्रत्ययस्वरूप नहीं हो सकते, अतः तुम केवल प्रत्यय को ही सत्य नहीं बतला सकते। इसी का उत्तर देते हैं कि यह जो तुम्हारा कहना है कि भूत प्रत्यय से सर्वथा अलग है–नितान्त भ्रमपूर्ण है। क्योंकि यह भूत इस प्रत्यय से अलग है–यह भी तो हमारा ही प्रत्यय है अर्थात्–इन सब भूतों को भी हम प्रत्ययस्वरूप से ही तो पहचानते हैं–इसलिए यह सिद्धान्त समझना चाहिए कि हमारे प्रत्यय के अलावा जगत् में और सब मिथ्या है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तस्माद् ध्रुवं प्रत्यय एष सर्वो न प्रत्ययादन्यदिहास्ति किञ्चित्।
तत्प्रत्ययाद् भिन्नतया प्रतीतान्येतानि भूतान्यपि तं प्रतीमः" ॥१६॥



६–अहमात्मनि प्रात्ययिकभेदोपपादनम्।

अहमात्मा में प्रत्यय से होने वाले भेदों की उपपत्ति बतलाना—

इस प्रकार से अखिल विश्व को ही जब केवल जीवप्रत्ययस्वरूप मान लिया जाता है तो ऐसी हालत में एक बडा भारी प्रश्न होते है। उसी प्रश्न को बतलाते हैं–जब कि इन सारे ही विश्व के पदार्थों में कुछ भी विशेष नहीं है अर्थात्–जब प्रत्यय एकस्वरूप है और संसार सारा प्रत्यय का ही स्वरूप है तो ऐसी हालत में इस पूर्णस्वरूप एवं एकाकार युक्त प्रत्यय में जो भेद की (घटपटादि की) प्रतीति होती है–वह किंमूलक है? अर्थात्–तुम सारे विश्व को अविशेषेण केवल प्रत्यय स्वरूप मानते हो और प्रत्यय है–एकस्वरूपयुक्त। तो ऐसी हालत में संसार भी हमें एकसा प्रतीत होना चाहिए, परन्तु हम देखते हैं कि इस संसार में एक से एक पदार्थ सर्वथा भिन्न हैं तो बस, प्रत्यय के एक होने पर भी यह भेद–प्रतीति क्यों? इसी का उत्तर हम बतलाते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा-जी ने कहा है—

"यत्त्वाहुरेषामविशेषभावादहंतया प्रत्ययमात्रतायाम्।
यस्तत्र भेदः प्रतिभाति तस्मिन् किं मूलमस्तीति हि तत्र वच्मि" ॥१७॥

यह जो प्रत्यय हमने बतलाया है–सदसत्-स्वरूपयुक्त समझना चाहिए अर्थात्–जिस तरह दो दालों को मिला करके एक चणे का स्वरूप बनता है तद्वत्–ज्ञान और अज्ञान् (सत्-असत्) इन दो पार्टों को मिलाकर प्रत्यय का स्वरूप बनता है। चूंकि प्रत्यय में ज्ञानाज्ञान दोनों हैं, अतः ऐसा कोई भी प्रत्यय (ज्ञान) नहीं हो सकता जो कि अज्ञान से अलग है, अतः संसार में जितना हम जान रहे हैं–वह सब अज्ञान से आवृत ही जान

रहे हैं। अर्थात्–ज्ञान को अज्ञान से आवृत ही मैं देख रहा हूँ। बस, तो यह जो प्रत्यय के एक स्वरूप होने पर भी हमें विशेषों की (भेद की) प्रतीति होती है–वह उस ज्ञान में सम्बद्ध जो अज्ञान है–उसके द्वारा होती है।

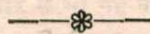
इस प्रकार से इस ज्ञान में मिश्रित जो अज्ञान का पार्ट है–उसी से भेद की प्रतीति हुआ करती है एवं यह जो अज्ञान का पार्ट है–वह सर्वथा दुर्बोध ही है, क्योंकि यदि यह भी सुबोध हो जाए तो इसका जो अज्ञानस्वरूप है वही नष्ट हो जाए परन्तु इस अज्ञान के साथ जो ज्ञान है वह तो यथावत् पहचाना ही जा सकता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्यात् प्रत्ययोऽसौ सदसत्स्वरूपो ज्ञानं तदज्ञानवृतं प्रतीमः।
ज्ञाने स्युरज्ञानकृता विशेषा दुर्बोधमज्ञानमिदं यथावत्" ॥१८॥

इस प्रकार से संसार में प्रत्यय के एक रहने पर भी भेदबुद्धि कराने वाला जो यह अज्ञान है उसमें ४ प्रकार की प्रतिपत्ति (ज्ञान) हो सकती है अर्थात्–हम उसको ४ भागों में देख सकते हैं–उन चारों को ही यहाँ पर पृथक्-पृथक् करके समझ लेने चाहिएँ–उन चारों के नाम बतला देते हैं–यह जो अज्ञान है–वह (१) मृत्युस्वरूप से भासित होता है एवं (२) शून्यस्वरूप से भी भासित होता है एवं यही (३) माया एवं (४) ऐकात्म्यस्वरूप से भी प्रतिभासित होता है, परन्तु वस्तुतः इन चारों भेदों में परस्पर कुछ भी विशेषता नहीं है अर्थात्–कहने के ये चार भेद हैं वस्तुतः ये–एक ही प्रकार का है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"चतुःप्रकारा प्रतिपत्तिरस्मिन् संभाव्यते तां पृथगत्र विद्धि।
मृत्युः स शून्यं तदियं च मायाथैकात्म्यमेतास्वपि नो विशेषः" ॥१९॥

अब यहाँ से–(१) मृत्युवाद, (२) शून्यवाद, (३) मायावाद एवं (४) ऐकात्म्यवाद–इनका प्रपञ्च बतलाते करते हैं—



७–मृत्युवादः। (१)

मृत्युवाद—

प्रत्यय के एकस्वरूपयुक्त होने पर भी क्यों भेद की प्रतीति हुआ करती है? इसका कारण बतलाते हैं–यह जो हमने प्रत्यय (ज्ञान) बतलाया है–उसके विद्वान्मनुष्य दो परस्पर विरुद्ध पदार्थों का तादात्म्य बतलाते हैं। अर्थात्–दो विरुद्ध स्वभाव का जब तादात्म्य हो जाता है–बस, तभी प्रत्यय का स्वरूप बनता है। पूर्वोक्त छठे सूत्र में चने की दाल का दृष्टान्त बतलाया था, परन्तु प्रकृत में ऐसा न

समझ कर तादात्म्य समझना चाहिए। बस, परस्पर विरुद्ध दो के तादात्म्य से निष्पन्न जो यह ज्ञान है-उसमें मेरा मत यह है कि इस ज्ञान में जो एक भासक है-वह अमृतस्वरूप है एवं वह एक ही है। पदार्थों के भिन्न-भिन्न होने पर भी जो 'भासना' यह एक व्यापक वस्तु है-बस, यही अमृत का हिस्सा समझना चाहिए, परन्तु ठीक इसके विपरीत उस एक भासक में यह मृत्यु अनेकवद् भासित होता रहता है। अर्थात् जो भासक है-वह अमृत है एवं जो भास्य है-वह मृत्यु है-तो बस, चूंकि प्रत्यय का स्वरूप दोनों को मिला करके बनता है, अतः इस एक स्वरूप में जो भेद प्रतीत हुआ करता है-वह इसी मृत्यु का कारण समझना चाहिए। अर्थात् यही मृत्युभेद का कारण है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है-

"वदन्ति हि ज्ञानमिदं विरुद्धद्विरूपतादात्म्यमिति ब्रवीमि।
तत्रामृतं भासकमेकवत् स्यादनेकवद्भास्य इहैष मृत्युः" ॥२०॥

यहाँ पर यह जो मृत्यु है-वह अमृत के अन्दर बैठा हुआ है एवं साथ ही में यह अमृत इस मृत्यु के चौतरफ से गालिब रहता है। अर्थात्-यह अमृत मृत्यु के पेट में भी है एवं इसके चारों तरफ भी है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि ऐसा कोई भी मृत्यु का स्थान नहीं जहाँ पर की अमृत न भरा हो। बस, इस प्रकार से प्रतिक्षण नाना-स्वरूप में बदलने वाले ये मृत्यु इस अमृत में प्रतिभासित होते रहते हैं। अर्थात् अमृत के एकस्वरूप होने पर भी क्षणिक मृत्यु के कारण भेदप्रतीति हुआ करती है एवं च इसी अमृत की बदौलत हरवख्त नष्ट होने वाली मृत्यु भी स्थितिरूपेण भान में आया करती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

अत्रामृतं त्वन्तरमस्ति मृत्योः सत्राऽमृतं चाहितमस्ति मृत्यौ।
प्रतिक्षणान्यान्यविधस्वरूपास्ते मृत्यवोऽस्मिन्नमृते विभान्ति" ॥२१॥

जिस प्रकार से समुद्र में से प्रतिक्षण नष्ट होने वाली लहरें उत्पन्न होती हैं एवं फिर उसी में लीन हो जाती हैं। अर्थात् वे लहरें समुद्र को छोडकर बाहर कदापि नहीं रह सकती-बस, तद्वत् ही यह मृत्युसमुदाय अमृत में स्थित रहता है। अर्थात् इसी में यह मृत्युस्वरूप लहर पैदा होती एवं उसी में विलीन हो जाती हैं।

इस प्रकार से अमृत एवं मृत्यु के तादात्म्य से निष्पन्न जो यह प्रत्यय है-उसमें इसी मृत्यु के कारण भेद की प्रतीति हुआ करती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथोर्म्मयः स्युः क्षणिकाः समुद्रादुद्भूय तत्र प्रलयं व्रजन्तः[1]।
न ते[2] समुद्रात् पृथगुत्प्लवन्ते तथाऽमृते मृत्यव आस्थितास्ते" ॥२२॥

१ 'व्रजन्तः' इस पाठ के स्थान पर 'व्रजन्ति' पाठ शुद्ध प्रतीत होता है। (सं०)।
२ 'ते' पाठ के स्थान पर 'ताः' पाठ शुद्ध प्रतीत होता है। (सं०)।

८-शून्यवादः । (२)
शून्यवाद—

इस प्रत्यय में भेद का जैसे मृत्यु कारण हो सकता है तद्वत् एक दूसरा भी कारण हो सकता है-बस, उसी को बतलाते हैं । जिस समय एक मनुष्य अपने सिर पर पगड़ी लगाए जा रहा है-उस समय हम कह सकते हैं कि इसके माथे पर कपड़ा है एवं कपड़ा न कह कर हम उसे सूत भी कह सकते हैं एवं सूत भी न कह हम उसे रुई कह सकते हैं एवं रुई भी न कह कर हम उसे मिट्टी भी कह सकते हैं । मिट्टी भी न कह कर उसे जल कह सकते हैं एवं जल न कह कर तेज कह सकते हैं एवं तेज भी न कह कर वायु कह सकते हैं एवं वायु न कह कर वाक् कह सकते हैं एवं वाक् भी न कहकर प्राण कह सकते हैं एवं प्राण भी न कह कर हम उसे सत्य (मन) कह सकते हैं । बस, इस प्रकार से एक सत्य पर जाकर विश्राम ही प्रत्येक पदार्थ का हो सकता है । तो इससे स्पष्ट ही प्रतीत हो जाता है कि सत्त्व तो केवल ज्ञान ही है और पगड़ी, रूई-इत्यादि जो भेद हैं-वे सर्वथा मिथ्या ही हैं । इसी का विशकलन करते हैं—

सर्वप्रथम हम पगड़ी को सत् समझते हैं, परन्तु जब कपड़ा व्यवहार भी उसमें होने लगता है तो फिर वह पट सत्रूप में परिणत हो जाता है-इस प्रकार जब पट-सत् है तो सुतरां पगड़ी असत् है एवं जब सूत्र सत् है तो पट असत् है एवं जब रूई का सत्रूपेण भान होता है तो सूत्र भी असत् है एवं मृत्तिका में सत् बुद्धि कर लेने पर तूल का असत्-रूपेण भान होने लगता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यद्वेदमुष्णीषमसत् पटे सत्येवं पटोऽसन् सति भाति सूत्रे ।
असच्च सूत्रं सति भाति तूलेऽसत्तूलमाभाति मृदीव सत्याम्" ॥२३॥

एवमेव पानी में सत्-व्यवहार से मृत्तिका असत् एवं तेज में सत्-व्यवहार से पानी असत् एवं वायु में सत् व्यवहार से तेज भी असत् एवं वाक् में सत्व्यवहार से वायु भी असत् एवं प्राण में सत् व्यवहार से वाक् भी असत् प्रतीत होने लगती है । एवमेव जब मन को सत्य मान लिया जाता है तो प्राण भी असत् हो जाते हैं । बस, इस प्रकार से जो यह पगड़ी-इत्यादि सम्पूर्ण विकार प्रतीत होते हैं । वे सर्वथा असत् होते हुए भी एक मेरे ही सत्य से सत् बन जाते हैं-अर्थात्-मेरे ही प्रत्यय के ये सारे रूप बन जाते हैं, अतः सत्य केवल प्रत्यय ही है और बाकी की कुछ नहीं है अर्थात् शून्य ही शून्य है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"मृदप्सु तास्तेजसि तच्च वायौ स वाच्यधिप्राणमियं च सत्ये ।
इत्थं क्रमात्ते निखिला विकारा असन्त एवेह मयैव क्लृप्ताः" ॥२४॥

जो कि वस्तु असत् है एवं जो सर्वथा कल्पित है-ऐसी असत् एवं कल्पित वस्तु का जो एक नाम धर देना है-वही इसकी उत्पत्ति समझनी चाहिए अर्थात् कल्पित वस्तु का नाम ही उसकी उत्पत्ति होना

है। जैसे कि आज तक 'घट' यह नाम मृत्तिका में सर्वथा नहीं था, परन्तु कुम्हार ने जब उसको हाथों से नीचा-ऊँचा करके नाम (घट) रख दिया तो बस, वही घट की उत्पत्ति हो गई, परन्तु केवल यह नाम की महिमा है, वस्तुतः घट आज भी मिथ्या ही है–बस, इसी आशय को लेती हुई भगवती श्रुति कहती है—

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"–इति।[1]

इस प्रकार से जो यह घटपटादि विकार प्रतीत होते हैं–वे निश्चय करके मेरे ही प्रत्यय के विकार से भेदरूपेण प्रतिभासित होते हैं। अर्थात् मेरा ही 'सत्य' नाम को पेट में लेकर भेद की प्रतीति करवाया करता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"नामासतो यद्धृतमेतदेव त्वारम्भणं कल्पितवस्तुनोऽस्य।
न ते विकारा अपि तु ध्रुवं मे विकारकामाः प्रतिभान्ति भेदात्" ॥२५॥

यहाँ यह प्रश्न होता है कि "भाई वाह! तुमने खूब हमें धोके में डाला। क्या यह घटपटादि सब हमारा ही प्रत्यय है–यदि यह केवल हमारा ही प्रत्यय होता तो फिर हमें उसकी अपेक्षा क्यों करनी पड़ती। हम देखते हैं कि हमारे पास जब घड़ा नहीं रहता है तो हम पानी भरने का काम नहीं कर सकते। यदि तुम्हारे हिसाब से यह हमारा ही प्रत्यय होता तो हमारे प्रत्यय से हम चाहें जब ही घट का स्वरूप बन जाना चाहिए था, परन्तु ऐसा सर्वथा नहीं होता–इसलिए "घटपटादि केवल हमारा ही प्रत्यय है"–यह तुम्हारा कहना सर्वथा भ्रान्त है। बस, इसी प्रश्न का उत्तर देते हैं—

जिस प्रकार कोई आदमी निबिड अन्धकार में जाकर अपने मन से ही एक पिशाच की कल्पना कर लेता है एवं उसी कल्पित पिशाच से वह बहुत बुरी तरह से डरने लगता है। और उसको खयाल होता है कि हाँ यहाँ अवश्य ही सचमुच पिशाच बैठा हुआ है। इस प्रकार से वह मनुष्य उसको सच्चा पिशाच समझ कर–यह मेरे ही खयाल से बना है–यह सर्वथा भूल जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यथाऽन्धकारे मनसा पिशाचं प्रकल्प्य तस्माद्भयमेति भूयः।
सत्यं पिशाचं प्रतिपद्यतेऽसौ न वेत्ति मज्ज्ञानविजृम्भितं तत्" ॥२६॥

बस, ठीक इसी प्रकार से हमारे ही खयाल से बने हुए घटपटादि पर बच्चेपने से ही बालकों का भिन्न-भिन्न स्वरूपयुक्त दृढज्ञान करा दिया जाता है। अर्थात् दृढ संस्कार की वजह से घटपटादि

---

१ छान्दोग्योप० ६।४।

में भेद का प्रत्यय करने लगता है । इस प्रकार से सत्ता के आश्रय से अनाश्रित भातिसिद्ध यह शून्य वस्तु भी सच्ची प्रतीत होने लगती है (रज्जूसर्पवत्) । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तथैव बाल्यात्प्रतिपद्य भिन्नं-भिन्नं दृढं प्रत्ययमेति भेदे ।
तद्वस्तुवद्भाति तु वस्तुशून्यं सत्ताश्रयानाश्रितभातिसिद्धम्" ।।२७।।

इस प्रकार से यह सिद्धान्त समझना चाहिए कि कहीं पर कुछ भी नाना वस्तु सर्वथा नहीं है–यह जो तुम घटपटादि नानारूप देख रहे हो–उसको सर्वथा एक रूप समझो, अतः ये सब प्रत्यय (ज्ञान) के ही रूप समझने चाहिएँ । परन्तु प्रत्यय के एक रहने पर भी वस्तुभेद की जो प्रतीति होती है–उसमें केवल ज्ञानस्वभाव ही कारण है । अर्थात् ज्ञान का भिन्न-भिन्न स्वरूप दिखलाने का ही स्वभाव है । इस प्रकार एकत्वस्वरूपयुक्त होने पर भी क्यों ज्ञान भेद की प्रतीति करवाता है–इस प्रश्न का उत्तर नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

नाना न किञ्चित् क्वचिदस्ति रूपाण्येतानि नानापि तदेकरूपम् ।
ज्ञानस्य रूपं हि तथावभासः स्वाभाविकत्वादिदमप्रणोद्यम्" ।।२८।।



६–मायावादः । (३)

मायावाद–

इसी प्रकार से प्रत्यय के एकत्वयुक्त रहने पर भी जो भेद की प्रतीति होती है–उसका कारण एक माया भी समझना चाहिए । बस, यह माया कैसे भेद का कारण बनती है–यह बतलाते हैं—

यह जो आत्मा है–वह आनन्दमय है एवं अनुच्छित्ति धर्म्मा है अर्थात्–इसका कभी भी नाश नहीं होता है, अतएव श्रुति कहती है—

"अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्म्मा" ।।[1]

एवं च यह आत्मा सर्वथा निर्विकार है । जब कि इसका प्रातिस्विकस्वरूप सर्वथा ही निर्विकृत है तो ऐसी अवस्था में इसमें जो रागद्वेषादि नाना विकार प्रतिभासित होते रहते हैं–वे वस्तुतः मिथ्या ही हैं । अर्थात्–जब यह आत्मा व्यापकरूप है तो फिर इसमें विकार हो ही नहीं सकते । परन्तु विकारों का भान अवश्य होता है तो बस, इसी भान को हम माया कहते हैं । अर्थात्–नहीं रहने पर भी जिसका भान होता है–उसे माया कहते हैं ।

---

१ बृहदा० उप० ४।५।१४ ।

सारांश यही हुआ कि इसी अनिर्वचनीया माया के कारण ही प्रत्यय के एकस्वरूपयुक्त होने पर भी नानात्व की प्रतीति हुआ करती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यद्वाहमानन्दमयोऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मास्मि स निर्विकारः।
येऽस्मिन् विकाराः प्रतिभान्ति नाना मिथ्यैव ते भानमिदं तु माया" ॥२९॥

भगवान् ने सत्य के और असत्य के विषय में निर्णय किया है कि—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**'[1]—अर्थात्—जो नहीं है—उसका कभी अस्तित्व हो ही नहीं सकता एवं जिसका अस्तित्व है उसका कभी अभाव हो ही नहीं सकता। संसार में हम देखते हैं कि घटपटादि जितने भी नाना पदार्थ हैं—वे हर समय बदलते रहते हैं। कभी घट का भान होता है और कभी नहीं। जिस घट का अस्तित्व अभी नहीं था—वही अब है और थोड़ी ही देर में फिर वह नास्तिरूप में परिणत हो जाता है। बस चूंकि यह सदा ही प्रतिभासित नहीं होते अर्थात्—इन घटपटादि का सदा ही अस्तित्व नहीं रहता है, अतः भगवद्वाक्यानुसार हम इनको सत्यस्वरूपयुक्त कहने के लिए हर्गिज तय्यार नहीं। बस, इसी कारण से हम इस नानाभाव को मिथ्या कहते हैं। इस प्रकार से यद्यपि हैं—ये मिथ्या, परन्तु तथापि इनका मिथ्याकार्य्यकारणत्वेन (विवृत्या) भान अवश्य ही होता है—बस, इसी कारण से उन नाना भावयुक्त पदार्थों को हम मायायुक्त बतलाते हैं अर्थात्—जो नाना नहीं है, परन्तु नानारूपेण प्रतिभासित होते हैं—बस, यह माया की ही महिमा समझनी चाहिए। कार्यकारणभाव दो प्रकार का हुआ करता है—१—मिथ्या, २—सत्य। जहाँ पर सत्ता से ज्ञान हो—वह सत्य कार्य्यकारणभाव कहलाता है—(अस्ति अतः ज्ञायते) एवं जहाँ ज्ञान से सत्ता का भान होता हो—उसे मिथ्याकार्य्यकारणभाव (विवृति) कहते हैं (ज्ञायते अतः भाति)—इन दोनों में से प्रकृत में मिथ्याकार्य्यकारणभाव ही समझना चाहिए। अर्थात् जैसे दिक्-देश-काल-संख्यादि भातिसिद्ध हैं—तद्वत् ही यह नानात्व भी भातिसिद्ध ही समझना चाहिए जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यदित्थमित्थं परिवर्त्यमाना आभान्ति नाभान्ति च तेन मिथ्या।
यत्तेऽथ भान्त्येव सदा विवृत्या तन्मायिकत्वं प्रवदामि तेषाम्" ॥३०॥

हम देखते हैं कि घटपटादि का प्रत्यक्ष में भान हो रहा है, अतः हम इस भान को झूंठा नहीं कह सकते, परन्तु हम देखते हैं कि भान होने पर भी सर्वदा ही इनकी सत्ता नहीं रहती है, अतः इनको सत् भी नहीं कह सकते। चूंकि भावाभाव का है—परस्पर विरोध, अतः इनको सदसदात्मक भी नहीं कह सकते। इस प्रकार से न सत् है—न असत् है एवं विरोधात् न सदसदात्मक ही है—यह जहाँ पर बिल्कुल ही निश्चय न हो—बस, उसी को हम माया कहते हैं—जो कि सर्वथा अनिर्वचनीया है। इसीलिए कहा जाता है—'**न सती सा नासती सा**'—इति। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

१ गीता २।१६।

भातीति नासत् सततं न भातीत्यतो न सन्नो सदसद्विरोधात् ।
न सन्न चासत् सदसन्न वा यन्निर्धार्यते तां प्रवदामि मायाम्" ॥३१॥

जो पदार्थ है एवं जिसका भान होता है–ऐसे भान एवं अस्तियुक्त पदार्थ का न कभी भावाभाव ही होता है एवं न कभी अस्तित्वाभाव ही होता है अर्थात्–जो अस्ति कभी नास्ति के रूप में परिणत ही नहीं होती है एवं जो भान कभी भानयुक्त नहीं होता है–बस, एतद्धर्म्मावच्छिन्न जो एक वस्तु है–उसे ही हम सत्य कहते हैं और वह सत्य केवल मैं (प्रत्यय) ही हूँ। परन्तु ठीक इसके विरुद्ध जिसका भान होता है, परन्तु वस्तुतः वह पदार्थ है–नहीं। अथवा पहले वह पदार्थ अस्ति के रूप में विद्यमान है (घटोऽस्ति) परन्तु थोड़ी ही देर में उसका भान नष्ट हो जाता है–बस, एतद्धर्म्मावच्छिन्न जो कोई है–उसे ही हम माया कहते हैं–जो कि नास्ति-अस्ति-नास्ति-रूप से जगत् में व्याप्त है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यदस्ति यद्भाति च नो न भाति नो नास्ति तत्सत्यमहं हि सत्यम् ।
यद्भाति न त्वस्ति यदस्ति वा प्राक् पश्चाच्च नो भाति तदस्ति माया"॥३२॥

जिसका मिथ्याकार्य्यकारणभाव द्वारा भान अवश्य होता है (दिग्देशादिवत्) परन्तु जिसकी अस्ति नहीं है अर्थात् भातिसिद्ध है–न कि सत्तासिद्ध। अन्यथा यदि इनको सत्तायुक्त (सत्तासिद्ध) मान लिया जाएगा तो फिर यह असत्यस्वरूप जो सर्ववस्तुजात है–वह भी असत्यबाधात् सत्य ही माने जाने लगेंगे, अतः इसको सत्तासिद्ध कथमपि नहीं मान सकते।

इस प्रकार से सर्वथा इनके अस्तित्वाभावयुक्त रहने पर भी जो इनका भान होता है–यह जो भान है–वह सत्ताश्रयात् समझना चाहिए। अर्थात् हमारे ही प्रत्यय की सत्ता के पेट में वह असत् पदार्थ आ जाता है तो उसका भान होने लगता है। चूंकि भान अवश्य होता है, अतः 'माया भी कोई है'–यह अवश्य मानना पड़ता है–जो कि अनिर्वचनीया है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विवर्तितं भाति न चास्ति सत्वे त्वसत्त्वबाधादिदमस्त्यसत्यम् ।
अनस्तिमद्भाति तु भानसत्ताश्रयात् ततोऽस्तीति वदामि मायाम्" ॥३३॥

चूंकि नास्ति का भी भान होता है–अस्तित्व का भी भान होता है–गरज यह है कि 'भान' सभी का होता है तो बस, इसमें जो भान है–वह सर्वथा सत्य समझना चाहिए। इस हमारे नित्य भान में पहले यह घटपटादि पदार्थ नहीं हैं, परन्तु फिर वे ही हमारे भान में आ जाते हैं, परन्तु थोड़े समय के बाद फिर नष्ट हो जाते हैं, परन्तु फिर थोड़े समय के बाद इसी नित्यभान के अस्तित्व को लेकर फिर ये पदार्थ प्रतिभासित होने लगते हैं। इस प्रकार से नास्ति, अस्ति, नास्ति, अस्ति–इत्यादि नानारूप से यह पदार्थ परिवर्त्तित होते रहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

भानं हि सत्यं विषयास्तु पूर्वं न सन्ति ते सन्ति हि भानकाले ।
पुनर्न सन्तीत्यत एव भानास्तित्वं गृहीत्वा पुनरुत्सृजन्ति" ॥३४॥

इस प्रकार से भान की सत्ता को ग्रहण करना एवं फिर उस सत्ता को छोड करके असत्-रूप में परिणत हो जाना–यह जो एक प्रत्यक्ष में काम होता है–उसका सर्वथा अपलाप नहीं कर सकते। अर्थातः हम प्रत्यक्ष में ही जो सत्ताग्रहण एवं सत्तात्यागस्वरूप एककार्य देखते हैं–उसे 'नहीं'–यह रूप नहीं दिया जा सकता । तो बस, यह जो एक अनिर्वचनीय कार्य्य है–उसे ही हम 'माया' नाम से कहते हैं। जो कि विश्व का स्वरूप बनती है । इस प्रकार से चूँकि यह सारा ही विश्व मायास्वरूप है, अतएव हम इस सारे विश्व को असत्यस्वरूपयुक्त कह सकते हैं। यदि सच्चा कोई है तो यह हमारा प्रत्यय ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एतद्धि सत्ताग्रहणं च सत्तोत्सर्गश्च साक्षादिव नापलप्यम् ।
तामेव मायां प्रवदामि विश्वं, सर्वं हि मायैव, ततोऽस्त्यसत्यम्" ॥३५॥

इस प्रकार से संसार में नानात्व करने वाली जो एक माया है–वह कहाँ से उत्पन्न हुई एवं कैसे उत्पन्न हुई एवं यह माया आत्मा से युक्त है अथवा आत्मा (रस) से अलग है?–इस प्रकार से इसका निर्वचन सर्वथा असम्भव ही है। इस तरह से इसके सर्वथा अनिर्वचनीय होने पर भी चूँकि हम इसको देखते हैं, अतः इसको मानना अवश्य पड़ता है। इस प्रकार से यद्यपि प्रत्यय एक ही है तथापि माया के द्वारा इसमें नानात्व की प्रतीति हुआ करती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कुतोस्ति माया, कथमस्ति माया, सात्मैव मायाऽथ, पृथङ् नु माया ।
इत्थं क्वचिन्निर्वचनं न शक्यं, तथापि पश्यामि ततोऽभ्युपैमि" ॥३६॥

———

१०–ऐकात्म्यवादः। (४)

ऐकात्म्यवाद—

इस प्रत्यय में भेदप्रतीति का कारण जैसे माया को बतलाया है, तथैव अब यहाँ से भेदप्रतीति ही नहीं होती है–यह बतलाते हैं—

इस प्रकार से नानात्व प्रतीति के पूर्वोक्त तीन कारण समझने चाहिएँ। वस्तुतस्तुः हमारे ख़याल से यहाँ पर जो तुम्हें नानात्व की प्रतीति हो रही है–वही सर्वथा असंगत है। जबकि नानात्व की प्रतीति हो तभी–उसके उत्तर देने की आवश्यकता है। परन्तु जबकि इसमें (प्रत्यय में) नाना कुछ भी हैं तो ऐसी हालत में–'मृत्यु से भेद होता है–इत्यादि जवाब की भी कोई आवश्यकता नहीं है। घट का भान

होता है–पट का भान है–गरज यह है कि सबका भान होता है। बस, इस प्रकार से इस भान में ये सारे पदार्थ संलग्न हैं। चूंकि इस भान का स्वरूप एक ही है, अतः हम 'संसार में एक ही वस्तु है'– यह सर्वथा कह सकते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यद्वाऽत्र नाना प्रतिभान्ति भावा न तत्र नाना किमपीदमस्ति।
एकत्र भाने त इमे निगूढा भानस्वरूपं हि तदेकमस्ति" ॥३७॥

यहाँ घट है–यहाँ घट नहीं है–घट पट से भिन्न है–पट घट से भिन्न है एवं (अन्योन्याभाव से) घट में पट का अभाव है एवं पट में घट का अभाव है–इस अभेद से (अन्योन्याभाव से) भी परस्पर भावभेद की प्रतीति होती है। अर्थात् घट-भाव से पट-भाव भिन्न किया जाता है एवं पट-भाव से घट-भाव भिन्न किया जाता है, अतः इस प्रकार से यह जो पूर्वोक्त नाना प्रकार की भिन्नता हमें प्रतीत होती है–वह सब वस्तुतः ज्ञान ही तो है–जैसा यहाँ घट है अर्थात्–घट ज्ञान है–यहाँ घट नहीं है–अर्थात्–अभाव ज्ञान है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि विना ज्ञान के केवल घटपटादि का ही निर्वचन नहीं हो सकता, अतः इन सबको हम ज्ञान कह सकते हैं–यह जो ज्ञान है–एक है एवं वह कूटस्थरूपेण प्रतिभासित होता है एवं यह ज्ञान ध्रुव है एवं अचल है। जबकि यह ज्ञान अचल है तो फिर नानात्वबुद्धि सर्वथा झूँठी है–यही समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"भावोऽप्यभावोऽपि तयोश्च भेदोऽप्यभावभेदादपि भावभेदः।
सर्वं हि विज्ञानमिदं तदेकं कूटस्थमाभात्यचलं ध्रुवं च" ॥३८॥

यद्यपि यह घट है–यह पट है–इत्यादि नाना प्रकार से भेद की प्रतीति अवश्य हो रही है तथापि जो भेदक हैं–वे भी ज्ञानस्वरूप ही हैं अर्थात् घटपटादि के भेदक जो विशेषण हैं–वे भी ज्ञानस्वरूप ही हैं एवं जो घटपटादि भेद्य हैं–वे भी ज्ञानस्वरूप ही हैं। इस प्रकार से इन पदार्थों में सिवाय ज्ञान के और अन्य कुछ भी भिन्न नहीं होता है अर्थात् भेद्य-भेदक सभी केवल ज्ञानस्वरूप ही हैं, अतः यह ज्ञान एक है एवं अभिन्न रूप ही है। सारांश यही हुआ कि हम जिस वस्तु का परिचय करेंगे–वह ज्ञान की सीमा से बाहर निकल नहीं सकता अर्थात् उसका निर्वचन ज्ञान के द्वारा ही हो सकता है। यह ज्ञान चूँकि ज्ञानत्वेन एक ही है, अतः हम कह सकते हैं कि वस्तुतः एक ही पदार्थ (ज्ञान) है–नाना है ही नहीं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"भेदप्रतीतावपि भेदकानि ज्ञानानि भेद्यानि च तानि तेषु।
न ज्ञानतोऽन्यद्विभिनत्ति किञ्चित् तस्मादिदं ज्ञानमभिन्नमेकम्" ॥३९॥

इसी का विशकलन करते हैं–यहाँ पर यह घट है और यहाँ पर घट नहीं है–यह नाना प्रकार के जो खण्ड होते हैं–वे यह नास्ति और अस्ति भी तो केवल ज्ञान ही का स्वरूप है अर्थात् यहाँ पर घट

है और यहां नहीं है–यह भी तो हमारे ज्ञान का ही स्वरूप है। इस प्रकार से अस्ति और नास्ति को हम ज्ञान से पृथक् नहीं कर सकते। जबकि ज्ञान से हम इनको पृथक् नहीं कर सकते तो सुतरां यह मानना पड़ेगा कि वस्तुतः ज्ञान ही सब कुछ है–और वह एक ही है। नास्ति अस्ति की स्थापना करता है। जिस प्रकार से पानी में जो लहरें उठती हैं–उनमें ऊँचा चढना और नीचे गिरना (अस्ति-नास्ति) ये दो क्रियाएँ सर्वथा परस्पर विभिन्न होती हैं। इस प्रकार से उन वीचियों के परस्पर भिन्न रहने पर भी क्या तालाब (जल) भी बदल जाता है?–उत्तर होगा कि सर्वथा नहीं, तो बस, जिस प्रकार से एक ही पानी में उन्नति एवं अवनति–ये दो बाते होती रहती हैं–तद्वत् ही प्रकृत में भी वही ज्ञान नास्ति और अस्तित्व के स्वरूप में परिणत होता रहता है, अतः ज्ञान एक ही मानना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"नास्तीत्यतोऽस्तीति भवन्ति खण्डा यदस्ति यन्नास्ति च ते हि रूपे।
ज्ञानस्य न ज्ञानमिहास्ति बृवणं नतोन्नतोर्म्यो मतमेकमम्भः" ॥४०॥

जो है–उसे मैं जानता हूँ एवं जो मैं नहीं जानता हूँ–वह नहीं है अर्थात् सत्ता से ज्ञान अस्ति अतो ज्ञायते एवं ज्ञानाभावात् सत्ता का अभाव (न ज्ञायते अतो नास्ति)–यह जो उपरोक्त स्थितियां हैं–वे स्वतन्त्र एक एवं अखण्ड (व्यापक) स्वरूप एक ज्ञान ही में ही प्रतिभासित होती हैं। अर्थात् यह जो घटादि ज्ञेय पदार्थ हैं–वे ज्ञान से पृथक् नहीं हो सकते। अर्थात् जिसको–घट को तुम ज्ञेय समझकर उसको ज्ञान से पृथक् समझ रहे हो वह तुम्हारी भूल है–वस्तुतः 'अयं घटः अस्ति'–यह ज्ञेय भी हमारे ही ज्ञानकार से आकारित होने के कारण ज्ञान ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यदस्ति तद्वेद्मि, न वेद्मि यत्तन्नास्तीति, विज्ञानमिदं स्वतन्त्रम्।
अखण्डमेकं प्रतिभाति शुद्धं ज्ञानात् पृथग् ज्ञेयमिहास्ति नैतत्" ॥४१॥

अतः सिद्धान्त हुआ कि केवल प्रत्यय (ज्ञान) ही सत्य है एवं वह प्रत्यय मेरा ही स्वरूप है–अर्थात् जीवप्रत्यय ही सत्य है। इस मेरे ज्ञान के भान में स्थित जो घटपटादि हैं–वे सर्वथा असत्य हैं। चूंकि मैं सत्यस्वरूप हूँ–ऐसे सत्य में चूंकि वह असत्य स्थित है, अतः मेरी सत्यता के कारण ही सर्वथा असत्यरूप भी विषय सत्यवत् ही मालूम होते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"भानं हि सत्यं, तदहं स्वरूपं, भाने स्थितास्ते विषया न सत्याः।
अहं हि सत्यं, तदसत्यमस्मिन् स्थितं, ततः सत्यवदेव भाति" ॥४२॥

यदि यह विषय (घटपटादि) वस्तुतः सत्य ही यदि हों तो फिर होते हुए भी क्यों ये नहीं रहते एवं भानयुक्त होते हुए भी इनका क्यों नहीं भान होता–अर्थात् जब ये सर्वदा अस्ति और भाति की कोटि में सत्यता के कारण निविष्ट हैं तो फिर इनका अस्तित्वाभाव एवं भानाभाव क्यों होता है?

परन्तु हम देखते हैं कि जो घड़ा आज अस्ति एवं भान के स्वरूप में विद्यमान था–वही कालान्तर में में नास्ति और अभान के रूप में परिणत हो जाता है। चूंकि सत् कभी असत् नहीं हो सकता एवं असत् की कभी सत्ता नहीं हो सकती, क्योंकि यह कुदरत के सर्वथा खिलाफ है, अतः इन विषयों को (घटपटादि को) हम सत्य कथमपि नहीं मान सकते। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सत्या इमे स्युर्यदि तर्हि सन्तो न सन्ति भान्तोऽपि न भान्ति कस्मात्।
सतस्त्वसत्ताप्यसतश्च सत्ता नैवोपपद्येत विरुद्धमेतत्" ॥४३॥

एक पदार्थ अब तक सर्वथा असत् (नास्ति) था, परन्तु थोड़ी देर में वह सत् (अस्ति) हो गया–परन्तु थोड़ी देर में फिर वह नहीं है–यह हम प्रत्यक्ष में जानते हैं चूंकि नास्ति-अस्ति-नास्ति–ये तीन भाव हमने देखे हैं, अतः हमें मजबूरन वह घट असत् है–यह मानना पड़ता है। इस सत् की–असत् की एवं एककालावच्छेदेन दोनों की प्रतीति का कारण केवल एक ज्ञान ही है। अर्थात् अस्ति, नास्ति इत्यादि नाना-भावों की प्रतीति हमें चूंकि ज्ञान से ही होती है, अतः सच्चा केवल ज्ञान ही है और यह ज्ञान कभी भी असत् नहीं है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यन्नास्त्यसत् तद् यदिहास्ति सत्तत् नास्तीति वेद्मीत्यसदस्ति तस्मात्।
सच्चास्त्यसच्चास्त्युभयप्रतीतिर्ज्ञानं ततः सद्ध्रुवमस्ति नासत्" ॥४४॥

बस, इस प्रकार से दर्पणवत् स्थिर इस ज्ञान के ही उपबृंहण (विकार-प्रपञ्च) से यह सारा विश्व प्रतिभासित हो रहा है। अर्थात् मेरे ज्ञान के अतिरिक्त विश्व का और कुछ भी स्वरूप नहीं है। बस, इसी कारण से इस विज्ञान को ही हम ब्रह्म कहते हैं–बस, इसी विज्ञानस्वरूप ब्रह्म में सब कुछ (प्रपञ्च) ठहरा हुआ है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ज्ञानस्य तस्यैव सतः स्थिरस्योपबृंहणं विश्वमिदं विभाति।
तस्माच्च विज्ञानमिदं वदामि ब्रह्मेह सर्वं प्रतितिष्ठतीदम्" ॥४५॥

जबकि ऐतदात्म्य (ज्ञान) ही यह सारा कुछ है–और इससे अलावा और कुछ भी नहीं है–बस, इसीलिए हम इस ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को सत्य कहते हैं। सोते हुए भी–जागते हुए भी एक मेरा ही ज्ञान चूंकि प्रतिभासित हो रहा है, अतः यह सब कुछ मैं ही हूँ–यह मानना पड़ता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यदैतदात्म्यं सकलं न तस्मात् पृथक् ततो ब्रह्म वदामि सत्यम्।
स्वप्नेऽपि जाग्रत्यपि चाहमेव ज्ञानं यतो भाति समस्तमेतत्" ॥४६॥

और इसी लिहाज से शङ्कराचार्य्य ने द्वादशमहावाक्यों का उपदेश किया है—

वे महावाक्य ये हैं–अहं[1] ब्रह्म[2] अस्मि[3] (यजुर्वेद)। तत्[4] त्वम्[5] असि[6] (सामवेद)। सत्यं[7] ज्ञानमनन्तं[8] ब्रह्म[9] (अथर्वण)। अयम्[10] आत्मा[11] ब्रह्म[12] (ऋग्वेद)।

बस, यही अद्वितीय विज्ञानस्वरूप ब्रह्म सब कुछ है और बाकी सब मिथ्या है अर्थात् केवल प्रत्यय ही सत्य है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ब्रह्मायमात्मेति वदन्ति तस्माद् ब्रह्मास्म्यहं तत्त्वमसीति चाहुः।
सत्यं तथा ज्ञानमनन्तमेकं ब्रह्माद्वितीयं तदिदं तु सर्वम्" ॥४७॥

इस प्रकार से विषययुक्त विषयी में व्यासज्यवृत्त्या प्रत्ययत्व उपपन्न होता है–यह समझना चाहिए। अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय–इन तीनों को मिलाकर प्रत्यय का स्वरूप बनता है। बस, यही प्रत्यय चूँकि सत्य है, अतः एक ही सत्य है–यह सिद्धान्त हुआ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विषयिणि विषयसमेते व्यासज्य प्रत्ययत्वमुपपन्नम्।
प्रत्यय एव च सत्यं तस्मात् सत्यं तदेकमिह सिद्धम्" ॥४८॥

॥ इति प्रत्ययैकसत्योपनिषन्नाम चतुर्थं पर्व ॥

अथ

पुरुषैकसत्योपनिषत् (पञ्चमं पर्व)

(प्राणैकसत्योपनिषत्)

५

संशयतदुच्छेदवादमूलसंस्कृतपाठः—

* अथ पुरुषैकसत्योपनिषत् ।

(प्राणैकसत्योपनिषत्)

१—ब्रह्मकर्मान्वितैकरूपे पुरुषप्राणात्मशब्दाः ।

यद् ब्रह्म कर्म्मान्वितरूपमेष प्राणः स एकः पुरुषः स एव ।
द्विधा चतुर्धा भवति त्रिधा वा तद् ब्रह्म कर्मान्वयतारतम्यात् ॥१॥
यदक्रियं तद्ध्यमृतं परं स्यादथावरं मर्त्यमिदं यदज्ञम् ।
स्वतः क्रिया नास्त्यमृतेऽथ मर्त्ये क्रियाविकारा अनिशं निसर्गात् ॥२॥
चैतन्यमुल्बणं वा गूढं वेति द्विधाऽमृतं भवति ।
चेष्टोल्बणा च गूढा तदिदं मर्त्यं द्विधा तत् स्यात् ॥३॥
स्याच्चेतनाऽथ सोमोऽथाग्निरथापश्च रूपाणि ।
सा चेतना मनः स्यादापो वाक् चेतरौ प्राणौ ॥४॥
तथा च वाक् प्राणमनोमयोऽसावात्मा स उक्तः प्रभवोऽखिलानाम् ।
प्राणः स एकः पुरुषोस्ति विश्वं मन्यामहे तेन तदेकसत्यम् ॥५॥

२—चतुर्भेदभिन्नस्य प्राणपुरुषस्य त्रिधातुकत्वम् ।

प्राणोऽयमग्रे विभवन् समन्ताद् यथा सरस्वान् स तथास्ति पूर्णः ।
स्वभावभेदेन चतुर्विधोऽसौ चत्वार एकत्र समाहिताः स्युः ॥१॥
अणोरणीयानपि सर्वतोऽस्माज्ज्यायानसावस्ति बहुप्रभेदः ।
स्थूलोपि सूक्ष्मोपि चतुर्विधैस्तैश्चतुष्कलः सन् परितः प्रवृत्तः ॥२॥
परोरजा अग्निरथैष सोमश्चापश्च चत्वार इमे स्वभावात् ।
भेदाः स्युराद्यं मन आहुरन्त्यं वाचं तथा प्राण इतीतरौ द्वौ ॥३॥
सोमात् स्थितिः स्याद्, गतिरग्नितः स्यादित्थं क्रिया प्राणवशेन सर्वा ।
ज्ञानं मनस्तोऽर्थकला तु वाचो ज्ञानक्रियार्था इदमस्ति विश्वम् ॥४॥

---

* [शत०ब्रा० १४ कां ३ प्र० २ ब्रा०] [शत०ब्रा० १४।४।२] [बृहदा० १ अ० ४ ब्रा०]

तत्रापि नैकेन विनान्यदस्ति त्रीण्येक आत्मा पृथगात्मता च ।
वाक् प्राणतः प्राणततिर्मनस्तो नियुज्यमानैव करोति सृष्टिम् ।।५।।
उत्पद्यतेऽस्मादिह यच्च किञ्चित् तदस्य देहं तत आवृतोऽयम् ।
देहस्य चात्माऽऽत्मन एष देहस्ताभ्यां विना क्वापि न किञ्चिदस्ति ।।६।।
देहस्य सर्गे मनसः प्रसङ्गाज्ज्ञानेन्द्रियाण्येव, क्रियेन्द्रियाणि ।
प्राणप्रसङ्गादथ, वाक्प्रसङ्गादर्थाः स्युरित्थं त्रयमेकदेहम् ।।७।।

३—एकात्मनः स्त्रीपुरुषात्मद्वयसृष्टिः ।

जीवोऽयमात्माऽग्निमयोऽस्ति मर्त्यः स चेतनः स प्रमितः स्वतन्त्रः ।
यः स्वानुरूपान् जनयत्यनन्तान् स एक आत्मा जगतोऽग्र आसीत् ।।१।।
न चात्मनोऽन्यत् किमपीदमासीत् स सर्वतोऽस्मात् खलु पूर्व औषत् ।
सर्वानिमान् पाप्मन इत्यमुष्माद्धेतोः स आत्मा पुरुषः प्रसिद्धः ।।२।।
पुमान् परिष्वक्त इव स्त्रियाऽसावभिन्न आसीत् सहितः स आत्मा ।
स एक आसीदिति नैव रेमे द्वितीयमैच्छन्न तदान्य आसीत् ।।३।।
एकोऽयमात्मा द्विविधस्ततोऽभूत् पतिश्च पत्नी च बभूवतुस्तत् ।
योगादजायन्त तयोर्मनुष्याः स्त्री गौरभूत् साथ वृषोऽपरोऽभूत् ।।४।।
सर्वाणि हीत्थं मिथुनान्यभूवन् पिपीलिकान्तान्यथ संबभूवुः ।
अहं य आत्मा तत एव सर्वा सृष्टि र्बभूवेत्यहमेव सर्वम् ।।५।।

४—अग्निसोमात्मकादात्मनः सर्वदेवसृष्टिः ।

अग्निः स आत्मा स मुखाच्च योनेः पादाच्च पाणेरसृजत् स्वरूपम् ।
तस्मादिमान्यन्तरतो हि लोम्ना शून्यानि तीव्राग्निमुखोद्भूतत्वात् ।।६।।
स रेतसः स्वादसृजद् यदार्द्रं सोमः स सोऽन्नं स्वयमग्निरन्नात् ।
एतावदस्ति द्वयमेव सर्वं यदन्नमन्नादमितोस्ति नान्यत् ।।७।।
सर्वेऽपि देवा अयमग्निरेवासृजत् स मर्त्योऽप्यमृतांस्तु देवान् ।
यच्छ्रेयसस्तानसृजत् स देवान् सा ब्रह्मणोऽभूदतिसृष्टिरादौ ।।८।।

५—अव्याकृतात्मसृष्टानां नामरूपव्याकरणम् ।

प्रागेक आसीन्न जगत् तदासीदव्याकृतं सर्वमिदं तदासीत् ।
जातेषु भूतेषु बभूव नाम्ना रूपेण च व्याकरणं पृथग्वत् ।।९।।

सत्यं त्रिधा व्याकरणं यतः स्यात् ते नाम रूपे अथ कर्म्म चान्यत् ।
वागुक्थमेषामियमस्ति नाम्नां सामापि च ब्रह्म च सैव तेषाम् ॥१०॥

नामानि वाचो ध्रुवमुत्थितानि समं च वाङ्नामभिरस्ति सर्वैः ।
नामानि सर्वाणि बिभर्ति सा वाक् वाग्ब्रह्मसामोक्थमतोस्ति नाम्नाम् ॥११॥

रूपाण्यथो चक्षुष उत्थितानि चक्षुः समं सर्वविधैश्च रूपैः ।
रूपाणि सर्वाणि बिभर्त्ति चक्षुस्तेषामिदं ब्रह्म च साम चोक्थम् ॥१२॥

कर्म्माणि कायादत उत्थितानि कायः समं कर्म्मभिरस्ति सर्वैः ।
कर्म्माणि सर्वाणि बिभर्ति कायस्तेषामयं ब्रह्म च साम चोक्थम् ॥१३॥

त्रयं सदप्येकमतः स आत्मा सन्नेक आत्मैव पुनस्त्रयं तत् ।
छन्नं हि सत्येन सताऽमृतं तत् त्रयं तदेकः स न भिद्यतेऽर्थः ॥१४॥

प्राणोऽयमात्माऽस्त्यमृतं तदाहुः सत्यं विदुस्ते खलु नामरूपे ।
प्राणो हि स च्छन्न इवास्ति ताभ्यां प्राणस्तु वागक्षिमयस्तनुप्रः ॥१५॥

६–पञ्चप्राणात्मकस्यात्मनः पञ्चप्राणा अन्तरङ्गाणि ।

प्राणोऽयमात्माऽग्निमयोऽत्र देहे प्रविष्ट आलोमनखाग्रमस्ति ।
अनेककर्मा स पृथक् स्वकर्म्मस्वकृत्स्न एवेति न दृश्यतेऽद्धा ॥१६॥

प्राणन्नयं प्राण, उतो वदन् वाक्, श्रोत्रं स शृण्वन्नथ, सोऽक्षि पश्यन् ।
मनः स मन्वान, इमानि कर्म्माख्यानान्यकृत्स्नोऽत्र स एक एकः ॥१७॥

सर्वेऽप्यमी यत्र भवन्ति चैकं स एक आत्मास्ति विशिष्टरूपः ।
स वक्ति, स प्राणिति, पश्यतीदं, शृणोति, तद्वन्मनुते, स देही ॥१८॥

७–शरीरप्रजास्त्रीपशुवित्तान्यात्मनः पञ्च बहिरङ्गाणि ।

वित्तं ममात्मा, पशुभृत्यमात्मा, स्त्रीपुत्रमात्माऽथ शरीरमात्मा ।
ततोऽपि योऽन्योऽन्तरतः स आत्मा, वित्तान्तमस्यैव स रश्मिरस्ति ॥१९॥

वित्तं प्रियं मे, पशवः प्रिया मे, पुत्रः प्रियो मे, प्रिय एष देहः ।
प्रियोऽखिलेभ्योऽन्तरमस्ति यत् तत् प्रियाणि सर्वाणि तदंशुतोऽस्मै ॥२०॥

८–ऋषिपितृदेवानामात्मविकारत्वम् ।

ब्रह्मैव सर्वं, तत एव सर्वं तद्विद्यया सिद्धयति सर्वमित्थम् ।
ब्रह्मायमात्मैव तदस्ति सोऽहं ब्रह्मास्मि, मत्तोऽभवदत्र सर्वम् ॥२१॥

द्विषत्तया यं च सुहृत्तया यं यथा चिरं भावयते स नूनम् ।
तथा भवेदात्मनि सर्वमस्य स्थितं, स बन्धुः स रिपुः स सर्वः ॥२२॥
यं कं च देवं पितरं परं वा यजत्ययं तस्य स सोस्ति देवः ।
आत्मैव नूनं मनसाऽनुवलृप्तोऽस्यात्मा यथा भावयते तथा स्यात् ॥२३॥
देवा विभिन्नाकृतयो विभिन्नस्वभावशीलाश्च विभिन्नवर्णाः ।
सर्वे स आत्माऽस्त्यविशेष एकस्तस्यैव सर्वापि विसृष्टिरेषा ॥२४॥
यानेष देवानथ यान्मनुष्यानृषींश्च यानात्मनि भावयेद्वै ।
आत्मा स सोऽर्थो भवतीह सर्वः पश्यंस्तथा वक्ति च वामदेवः ॥२५॥

"अहं मनुरभवं सूर्यश्च अहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः ।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जे अहं कविरुशना पश्यता मा" ॥२६॥ [ऋ० मं० ४।२६।१]

देवेन्द्रमस्तौदयमत्र मर्त्यं तल्लोकवृत्तं नु तथापि तेन ।
अध्यात्ममिन्द्रः स्तुत एव देहो विनात्मना नैष करोति किञ्चित् ॥२७॥

अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूंरजनयं सप्त साकम् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदामि अहं दैवीं परि वाचं विशश्च ॥२८॥

अहं जजान पृथिवीमुत द्यामिहमृतूंरजनयं सप्त सिन्धून् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया ॥२९॥ [अथर्ववेद ६।६।६१।२,३]

वाचः प्रतिज्ञेयमथर्ववेदे सा वाग् न चात्मानमृते विवक्ति ।
अग्निं स सोमं जुषतेऽयमात्मा द्यावापृथिव्यौ मनसा विविङ्क्ते ॥३०॥

९–ब्रह्मवीर्य्यादात्मनः क्षत्रविट्शूद्रवीर्य्योत्पत्तिः ।

ब्रह्मैकमेव त्विदमग्र आसीत् क्षत्रं ततः श्रेय उदैत्तु रूपम् ।
क्षत्रात् परं नास्त्यत एव सोऽधः सन् ब्राह्मणः क्षत्रियमध्युपास्ते ॥३१॥
क्षत्रस्य तु ब्रह्म तदस्ति योनी राजा प्रकर्षं परमं च गच्छन् ।
ब्रह्मैव चोपश्रयते स्वयोनिं संवर्द्धयत्येतदयं स्ववृद्ध्यै ॥३२॥
विशं ससर्जाथ च शौद्रवर्णं धर्म्मं तु सत्यं स ततः ससर्ज ।
क्षत्रस्य तत् क्षत्रमिहाबलीयानाशंसते धर्म्मपरो बलिष्ठम् ॥३३॥
ब्रह्माथ च क्षत्रमथो विडेवं शूद्रश्च धर्म्मोस्ति तदस्ति सत्यम् ।
सत्यं न जातु च्यवते, नियत्या तथैष लोकः परिरक्षितोऽस्ति ॥३४॥
देवेषु तु ब्रह्म तदग्निनाप्यं तद् ब्राह्मणेनात्र मनुष्यजाते ।
क्षत्रं तु देवेष्वधिलोकपालं यः क्षत्रियस्तत्र मनुष्यजाते ॥३५॥

ये विश्वदेवा मरुतश्च रुद्रा अथादितेया वसवश्च देवाः ।
विट् तेषु वैश्येषु मनुष्यजाते शूद्रस्तु पूषेयमथो मनुष्यः ।।३६।।

तत्तन्मनुष्यस्य सधर्म्मिदेवो लोकः स्व एतं यदि चेददृष्ट्वा ।
प्रेयात् स एनं न भुनक्त्यलब्धः पुण्यं महत्कर्म्म च हीयतेऽस्य ।।३७।।

तस्मादुपासीत नियम्य लोकं ह्यात्मानमेवैष न हीयतेऽतः ।
यथा यथा कामयते स सर्वं तस्यात्मनः सिध्यति सृज्यमानम् ।।३८।।

१०–आत्मनः सर्वभूतलोकत्वम् ।

सर्वेषां भूतानामप्ययमात्मैव लोक उपनेयः ।
होमं यजनं कुर्वन् देवानामेष लोकोऽस्ति ।।३९।।

अनुवचनात् स ऋषीणां स पितृणां पिण्डदानतः प्रजया ।
वासयते स मनुष्यानशनं तेभ्यो ददाति तन्नृणाम् ।।४०।।

यत्तु पशुभ्यस्तृणजलमुपदत्ते तत् पशूनां स्यात् ।
उपजीवन्ति विहङ्गा माक्षिकमशकाः पिपीलिकाद्याश्च ।।४१।।

आत्मा यः खल्वेवं सर्वेषां लोक आश्रयोस्त्यस्मै ।
भूतान्यरिष्टिमिच्छन्त्पेतन्मीमांसितं विदितम् ।।४२।।

११–पाङ्क्तस्यात्मनः कार्त्स्न्यम् ।

आत्मैष आसीदिदमग्र एकश्चत्वार एतस्य भवन्ति कामाः ।
स्त्री[1] स्यात्, प्रजायेय[2], च, वित्तमास्तां[3], कर्म्म[4] प्रकुर्वीय शिवाय, चेति ।।४३।।

इयान्नु कामोऽस्य हि साधनीयो नातः परं विन्दति वाञ्छयापि ।
एकैकमेषां तु न यावदाप्नोत्यकृत्स्नतां मन्यत एष तावत् ।।४४।।

तैः सार्द्धमात्मा भवतीह कामैः पञ्चाङ्ग आत्मा वनिता प्रजा च ।
वित्तं च कर्म्मापि च पाङ्क्त एभि र्भूत्वा स आत्मा भवतीह कृत्स्नः ।।४५।।

द्विधास्य पाङ्क्तत्वमदोऽन्तरन्यद् बहिस्तदन्यद् तदमुष्य कार्त्स्न्यम् ।
प्राणैस्तदस्यान्तरतो बहिर्धा त्वन्यात्मभिः स्वप्रभवैः प्रसिद्धम् ।।४६।।

आत्मा मनो, वाग् वनिता, प्रजा तु प्राणोऽस्य, चक्षुः श्रवणे तु वित्ते, ।
दृष्टं त्विहामुत्र च तच्छ्रुतं स्यात्, कायोऽस्य कर्म्म क्रियते ततस्तत् ।।४७।।

यज्ञः स पाङ्क्तः, पुरुषश्च पाङ्क्तः, पशुश्च पाङ्क्तोऽखिलमेव पाङ्क्तम् ।
पाङ्क्तः स आत्मैव तु सर्वमेतन्न चात्मनोऽस्ति व्यतिरिच्य किञ्चित् ।।४८।।

वाजिश्रुतौ पश्चिमकाण्डपाठे तार्तीयके ब्राह्मणकं द्वितीयम् । (शत० ब्रा० १४।३।२)
जीवात्मनोऽस्यैव समस्तविश्वप्रपञ्चबीजत्वमवोचदित्थम् ॥४६॥

१२–एकात्मनः सृष्टिविधौ त्रिमूर्तित्वम् ।

सृष्टिस्त्रिधा क्षुद्रतमाऽथ खण्डात्मिका महासृष्टिरिति प्रभेदात् ।
एकैकभूतस्य शरीरसृष्टिः क्षुद्राण्डजन्म त्विह खण्डसृष्टिः ॥५०॥
सर्वाण्डसाधारण विश्वभावोदयो महासृष्टिरिति प्रतीयात् ।
तिस्रस्तु ताः सृष्टिविधा इयं हि श्रुतिः समानं विषयीकरोति ॥५१॥
तत्रादिसृष्टिः परमेश्वरात् स्यात् तथेश्वरान्मध्यगताण्डसृष्टिः ।
क्षुद्रा तु जीवात् पुरुषाद्विसृष्टिः समानमेतान् श्रुतिराह सैषा ॥५२॥
हिरण्यगर्भः स विराड् य ईश्वरः स एव जज्ञे प्रथमः शरीरवान् ।
स एक आसीत् पुरुषाकृतिः पुरा स्त्रीपुंसभेदास्तत एव जज्ञिरे ॥५३॥
जीवास्त एते बहवो न तेषां स्त्रीपुंसभेदौ तनुखण्डजातौ ।
तस्माच्छ्रुतिर्नेयमितस्तु जीवादिमां विसृष्टिं विषयीकरोति ॥५४॥
महेश्वरस्त्वप्रमितोऽस्त्यकायो न स्त्रीत्वपुंस्त्वे न च तस्य कामाः ।
स निर्विशेषोऽस्त्यभयोस्ति तस्मान्नैषा श्रुतिस्तद्विषयेति केचित् ॥५५॥
न यस्य देहो न च यस्य कामः परात्परः कोऽपि स वै पृथक् स्यात् ।
यांस्त्वब्रुवंस्त्रीन् पुरुषानियं तान् श्रुतिः समानं विषयीकरोति ॥५६॥
क्षरस्तु जीवोऽक्षर ईश्वरोऽयं यस्त्वव्ययोऽन्यः परमेश्वरः सः ।
त्रयोऽपि देहं दधते च कामानियं श्रुतिस्तद्विषया समं स्यात् ॥५७॥
साम्येऽपि तच्छ्रुत्युदितं न यावत् संभाव्यतेऽस्मिन् पुरुषे क्व चापि ।
तदन्यगं नेयमियं श्रुतिर्यत् त्रीनेकवत् तान् विषयीकरोति ॥५८॥
क्षुद्रैव सृष्टिर्विषयो न चान्ये इत्येवमन्ये प्रतियन्ति तन्न ।
एकात्मनः स्त्रीपुरुषौ विभागौ न क्षुद्रसृष्टौ भवतः प्रतीतौ ॥५९॥
यत् पाणिपादाननयोनितोऽग्रे निर्लोमतायै प्रथनं तदेतत् ।
तत् क्षुद्रसृष्ट्यामुपपद्यतेऽद्धा वाक्प्राणचक्षुःश्रुतिकर्म चापि ॥६०॥
क्षुद्रां च सृष्टिं महतीं च सृष्टिं संगृह्णतीयं श्रुतिरञ्जसैव ।
मध्येऽण्डसृष्टिं विषयीकरोति त्रिधापि सोक्ताऽऽत्मन एव सृष्टिः ॥६१॥

यत्वादिसृष्टौ परमेश्वरोऽयं मध्येण्डसृष्टौ त्वयमीश्वरोऽस्ति ।
स्यात् क्षुद्रसृष्टौ तु स जीव आत्मेत्येवं विदुः केचन तन्न सम्यक् ।।६२।।
आत्मैक एवास्ति न तु त्रयस्ते तिस्रोऽपि सृष्टीः कुरुते स एकः ।
मर्त्यः स देहीति स जीव इष्टो न त्वीश्वरो वा परमेश्वरो वा ।।६३।।
पक्षी पशुः कीटपिपीलिकाद्या नराद् विरूपा अपि जीवसंज्ञाः ।
तथेश्वरो वा परमेश्वरो वा नराद् विरूपोऽपि स जीव एव ।।६४।।
मनुष्यदेहे रुधिरास्थिशुक्रव्रणादिजीवा हि यथा वसन्ति ।
तथेश्वराख्यस्य तनौ मृदम्भोवाय्वग्निजीवा विविधा वयं स्मः ।।६५।।
त ईश्वराख्या अपि नूनमन्यान्याकारजीवा बहवः क्वचित् स्युः ।
महेश्वराख्यस्य तनौ प्रविष्टा जीवो हि जीवान् जनयत्यनन्तान् ।।६६।।
महेश्वरस्येश्वर एकमङ्गं जीवोऽहमस्मीशितुरेकमङ्गम् ।
अङ्गानि जीवस्य भवन्ति जीवाः सोऽहं तथाऽहं स न चेह नाना ।।६७।।
यद्वा यथा वा मयि भावयामि ध्रुवं तथा तत् परमेश्वरेऽपि ।
आत्मानमेवैतमतः स्वमेकं प्रतीक्षयेदाह कठस्तथर्षिः ।।६८।।

१३–त्रिमूर्तेरेकत्वे जीवत्वे च प्रमाणभूता कठश्रुतिः ।

अणोरणीयान् महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहतो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ।।६९।।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।।७०।।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ।।७१।।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ।।७२।।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रचया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।।७३।।

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।।७४।।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।।७५।।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥७६॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषी मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥७७॥

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥७८॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥७९॥

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥८०॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥८१॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥८२॥

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥८३॥

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥८४॥

मनसि प्राणे वाचि व्यासज्यैकं यतोस्ति पुरुषत्वम् ।
पुरुषो यतोऽस्ति सत्यं तस्मात् सत्यं तदेकमिह सिद्धम् ॥८५॥

॥ इति पुरुषैकसत्योपनिषत् (पञ्चमं पर्व) ॥

अथ पुरुषैकसत्योपनिषत् ।

(प्राणैकसत्योपनिषत्)

१–ब्रह्मकर्मान्वितैकरूपे पुरुषप्राणात्मशब्दाः ।

ब्रह्म और कर्म्म के परस्पर समन्वित होने पर जो एक रूप बनता है–उसमें पुरुषप्राण किंवा आत्मशब्दों का व्यवहार—

[हिन्दीविज्ञानभाष्य] हमने पूर्वप्रकरण में प्रत्ययैकसत्योपनिषत् बतलाया–अब पुरुषैकसत्योपनिषत् का प्रारम्भ करते हैं। अखिल विश्व में ब्रह्म और कर्म्म–ये दो पदार्थ माने हैं–इनमें से जो ब्रह्म है–वह सर्वथा शान्त-निर्विकार एवं व्यापक है, परन्तु ठीक इसके खिलाफ कर्म्म प्रतिक्षण बदलने वाला सविकार एवं शान्त है। इस प्रकार से यह ब्रह्म (रस) विना कर्म्म के (बल के) एक क्षण भी नहीं रहता है और न कर्म्म ही विना ब्रह्म के रह सकता है। इस प्रकार से जब यह ब्रह्म और कर्म्म परस्पर अन्वित होते हैं–बस, उस ब्रह्म और कर्म्म के अन्वितस्वरूप को ही 'प्राण' कहते हैं। यह प्राण एक ही है एवं इसी एक प्राण को हम पुरुष भी कहेंगे। इस प्रकार से यह जो प्राण किंवा पुरुष है–वह, ब्रह्म और कर्म्म की–कमी-ज्यादा के कारण दो प्रकार, तीन प्रकार का एवं चार प्रकार तक का होता है। अर्थात् वही प्राण चार जाति का हो जाता है। सारांश यही हुआ कि ब्रह्म और कर्म्म के समन्वित होने पर जो एक रूप बनता है–वह प्राण कहलाता है एवं इसे ही 'पुरुष' कहते हैं। चूंकि यह पुरुष एक है एवं सत्य है–इसलिए जगत् में केवल 'पुरुष' ही सत्य है और 'सर्व' मिथ्या है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यद् ब्रह्म कर्म्मान्वितरूपमेष प्राणः स एकः पुरुषः स एव ।
द्विधा चतुर्धा भवति त्रिधा वा तद् ब्रह्म कर्मान्वयतारतम्यात्" ॥१॥

जिस ब्रह्म और कर्म्म के समन्वितरूप को हमने प्राण बतलाया है–उस प्राण के पहले यह ब्रह्म किंस्वरूप है एवं कर्म्म किंस्वरूप है? यह बतलाना आवश्यक है–वही बतलाते हैं–इस प्राण में जो कि ब्रह्म और कर्म्मात्मक है–जितना सा अक्रियभाग है–उसे ही अमृत कहते हैं एवं इसे ही 'पर' (अव्यय) समझना चाहिए। बस, इसी 'पर' एवं 'अमृत' को ब्रह्म कहते हैं। परन्तु ठीक इसके खिलाफ जो हरवक्त बदलता रहता है–वही 'अवर' नाम से पुकारा जाता है एवं इसे ही मृत्यु एवं अज्ञान भी कहा करते हैं–

इस पूर्वोक्त ब्रह्म में स्वतः कुछ भी क्रिया नहीं है–अर्थात् ब्रह्म अपने प्रतिस्विकस्वरूप से सर्वथा निष्क्रिय है। बस, इसी ब्रह्मरूप अमृत में अहर्निश मृत्यु के विकार स्वभाव से ही उत्पन्न होते रहते हैं। अर्थात् क्षणिक स्वभावयुक्त इसी मृत्यु के विकार चूंकि अमृत में स्वभाव से ही हर समय होते रहते हैं,

अतः वह शान्त एवं निष्क्रिय ब्रह्म भी हमें क्रियावत् प्रतिभासित होने लगता है–वस्तुतः ब्रह्म ग्राज भी शान्त एवं निर्विकृत ही समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ग्रोझा जी ने कहा है—

"यदक्रियं तद्धचमृतं परं स्यादथावरं मर्त्यमिदं यदज्ञम्।
स्वतः क्रिया नास्त्यमृतेऽथ मर्त्ये क्रियाविकारा ग्रनिशं निसर्गात्" ॥२॥

हमने प्रारम्भ में ही बतला दिया है कि ब्रह्म और कर्म्म के तारतम्य से एक ही प्राण कई जाति में परिणत हो जाता है तो बस, उन्हीं भेदों में से सर्वप्रथम हम उसके दो भेद बतलाते हैं–वह जो ग्रमृत है–वह उल्बणचैतन्य एवं गूढचैतन्य–इन दो भेदों युक्त होता है। अर्थात् चैतन्यस्वरूप ग्रमृत उल्बण ग्रौर गूढ दो प्रकार का होता है। मनुष्य, पक्षि ग्रादि की ग्राकृति में जो भेद पड़ता है–वह इसी गूढचैतन्य के कारण पड़ता है। उदाहरणार्थ–यह गूढचैतन्य दाँतों का निर्म्माण करता है, परन्तु मनुष्य के यह दोनों तरफ दांत बनाता है, परन्तु हिरण, गाय, बैल–इत्यादि जो पशु ग्रादि हैं–उनके वही गूढचैतन्य ऊपर के दाँतों को ऊपरिभाग में निकाल कर उन्हीं दाँतों को 'सींग' रूप में परिणत कर देता है। एवमेव हाथी के ये ही ऊपर के दाँत माथे के बाहर न निकल कर मुँह के ग्रग्रभाग में ही निकाल देता है एवं जब चिड़िया उस गूढचैतन्य से प्रेरित होकर होठ से ही खाने लगती है तो उसका वह होठ ही सख्त होता हुग्रा चौंच के रूप में परिणत हो जाता है। एवमेव इसी गूढचैतन्य के कारण चिड़िया ग्रपने धड़ को कुछ आगे से ऊँचा करके बैठने लगता है–बस, इसी कारण से उसका ग्रागे का भाग पैरों के बजाय सदा उन्नत ही रहने लगता है। इसी प्रकार इसी गूढचैतन्य के कारण मनुष्य क्रमशः ग्रागे के पैरों को (हाथों को) ऊँचा उठाते-उठाते बिल्कुल ऊँचा उठा लेता है–ग्राखिर में जाकर–वह केवल दो पैर से ही काम करने लगता है। परन्तु ठीक इसके विरुद्ध बैल आदि पशुग्रों के चारों ही पैर उस गूढचैतन्य के कारण चलने के काम में ग्राते हैं। एवमेव इसी चैतन्य के कारण बैल केवल पैर के आगे के भाग से ही खड़ा होता है–बस, होते-होते उसका वही भाग सख्त हो जाता है और वह खड़े पैर से ही चलने का अभ्यास कर लेता है। इसी पूरे पैर का निशान ग्राज भी बैल के चलने के स्थान से ऊपर के भाग में दो चिरे हुए ठुड्डल से दिखलाई पड़ते हैं। कहने का तात्पर्य्य यही है कि इसी चैतन्य के कारण मनुष्यादि प्राणियों में परस्पर परिवर्त्तन होता रहता है। बस, यही गूढचैतन्य समझाना चाहिए। इस प्रकार से जो उल्बणचैतन्य है–उससे हमें सारे पदार्थों का भान होता है। अर्थात् जो हमें प्रकाश के माफिक सब पदार्थों का ज्ञान करवाता है–बस, यही प्रकाशस्वरूप 'उल्बणचैतन्य' कहलाता है।

एवमेव चेष्टा (मृत्यु) भी दो ही प्रकार की समझनी चाहिए। एक उल्बण एवं एक गूढ। हमारे शरीर में जो रस, ग्रोज, शुक्र, रुधिर ग्रादि की गतियाँ होती रहती हैं–वह जिसके द्वारा होती हैं–जिनका कि हम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते–बस, उसे ही गूढचेष्टा कहते हैं। हमारे शरीर में किस समय कौन सा धातु क्या क्रिया कर रहा है ? यह हम जानने में ग्रसमर्थ हैं। बस, यह जो अज्ञान चेष्टा है–वह यही गूढचेष्टा है ग्रौर जो हम शरीर से पैरों को हिलाना, चलना, फिरना–इत्यादि बाहर की क्रिया करते हैं–वह उल्बणचेष्टा द्वारा होती है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि यह ग्रमृत ग्रौर मृत्यु उल्बण ग्रौर गूढ भेद से दो-दो प्रकार का होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ग्रोझा जी ने कहा है—

"चैतन्यमुल्बणं वा गूढं वेति द्विधाऽमृतं भवति ।
चेष्टोल्बणा च गूढा तदिदं मर्त्यं द्विधा तत् स्यात्" ॥३॥

बस, गूढ एवं उल्बणात्मक जो चेतना है–उस चेतना के सोम, अग्नि और आपः–ये तीन रूप होते हैं और जिस चेतना के ये तीन रूप होते हैं–वह चेतना खुद मन है एवं जिसको 'आपः' कहा है–वही वाक् नाम से प्रसिद्ध है एवं जो सोम और अग्नि है–वह प्राण नाम से ही प्रसिद्ध है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि प्राण चार जाति के होते हैं। १–चित्प्राण, २–सौम्यप्राण (गन्धर्व), ३–आप्यप्राण (असुर), ४–आग्नेयप्राण (देवता)। जीव तीन ही प्रकार के होते हैं, क्योंकि चेतना तीन ही प्रकार की होती है। इनमें से जिसको हमने 'चित्-प्राण' कहा है–उसे ही 'मन' कहते हैं एवं आप्यप्राण को वाक् कहते हैं एवं सौम्य और आग्नेय प्राण को प्राण ही कहते हैं। इस प्रकार से यह एक ही चेतना मन, प्राण एवं वाक्–इन तीन स्वभावों में परिणत हो जाती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स्याच्चेतनाऽथ सोमोऽथाग्निरथापश्च रूपाणि ।
सा चेतना मनः स्यादापो वाक् चेतरौ प्राणौ" ॥४॥

चूंकि यह प्राण किंवा आत्मा वाक्-प्राण एवं मनोमय है। इस प्रकार से वाक्-प्राण-मनोमय–यही आत्मा अखिल पदार्थों का उत्पत्ति कारण समझना चाहिए। यह जो आत्मा है–उसे ही हम प्राण कहते हैं एवं यह प्राण प्राणत्वेन एक ही है और इसी आत्मा को हम पुरुष भी कहते हैं–बस, यह सारा विश्व चूंकि इसी पुरुष का प्रपञ्च है, अतः जगत् में केवल एक पुरुष ही सत्य है–यह हम निःसन्देह कह सकते हैं, अतएव बृहदारण्यकोपनिषत् श्रुति कहती है—

"स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः"–इति ।

जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तथा च वाक् प्राणमनोमयोऽसावात्मा स उक्तः प्रभवोऽखिलानाम् ।
प्राणः स एकः पुरुषोस्ति विश्वं मन्यामहे तेन तदेकसत्यम्" ॥५॥

यह जो मन हमने बतलाया है–वह तीन प्रकार का होता है—

१–चित्-मन (अव्ययमन) (न देहो न च जीवात्मा वाला) (अनमैटीरियल)।

२–प्रज्ञामन (अनिन्द्रियमन)–(सर्वेन्द्रियमन) शब्दादि का अनुभव कराने वाला।

३–इन्द्रियमन (मैटीरियलमन) सुख-दुःख का अनुभव कराने वाला।

इस प्रकार से जो मन के इन तीन विभागों को न समझकर सामान्यतया मन को अनमैटीरियल कहते हैं–वे नितान्त भ्रान्त हैं–यही समझना चाहिए। क्योंकि हमारे हिसाब से जो चिन्मन है–वही अनमैटीरियल हो सकता है–दूसरा नहीं।



२–चतुर्भेदभिन्नस्य प्राणपुरुषस्य त्रिधातुकत्वम्।

चार भेद युक्त प्राणपुरुष का त्रैधातव्य प्रतिपादन—

जिस प्रकार से सारे आकाश में पूर्ण समुद्र (सरस्वान्) भरा है–जिस सरस्वान् से कोई भी स्थान खाली नहीं है–बस, तद्वत् ही सृष्टि के पहले यही एक प्राण आसमन्तात् विभव करता हुआ पूर्णतया व्याप्त रहता है। बस, यह एक ही प्राण ब्रह्म और कर्मात्मक होने से, अतएव इनके तारतम्य से ४ प्रकार का हो जाता है–अर्थात् इस एक ही प्राण के चार डिजाइन हो जाते हैं। परन्तु ये चारों ही प्राण सदा एक साथ ही में रहते हैं। अर्थात् जाति भेद होने पर भी विना एक प्राण के दूसरा कथमपि नहीं रह सकता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्राणोऽयमग्रे विभवन् समन्ताद् यथा सरस्वान् स तथास्ति पूर्णः।
स्वभावभेदेन चतुर्विधोऽसौ चत्वार एकत्र समाहिताः स्युः" ॥१॥

संसार में हमें चारों तरफ नाना भेद दिखलाई पड़ते हैं–कोई पदार्थ छोटे से भी छोटा दिखलाई पड़ता है एवं कई पदार्थ बडे से भी बडे दिखलाई पड़ते हैं–बस, इस प्रकार से यह एक ही प्राण सर्वतः हमें नाना भेदों से प्रतीत हुआ करता है। बस, इन नाना भेदों में चार प्रकार के भेदों से युक्त अतएव ४ कलायुक्त जो प्राण है–उससे चौतरफ से घिरे रहते है। अर्थात् अणु से अणु में भी ४ प्राण मौजूद हैं एवं महान् से महान् में भी ४ ही प्राण मौजूद हैं। जिस प्रकार से एक लोटे में १०० रङ्ग घोल देने पर लोटे की–उस रङ्ग मिश्रित पानी की प्रत्येक छोटी से छोटी बिन्दु में भी सब रङ्ग होते हैं–तद्वत् ही प्रकृत में भी समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अणोरणीयानपि सर्वतोऽस्माज्ज्यायानसावस्ति बहुप्रभेदः।
स्थूलोपि सूक्ष्मोपि चतुर्विधैस्तैश्चतुष्कलः सन् परितः प्रवृत्तः"॥२॥

उन्हीं चारों के नाम बतलाते हैं। इस प्राण के स्वभाव से ही १-परोरजा (चिदात्मा), २-अग्नि, ३-सोम, ४-आपः–ये चार भेद हो जाते हैं। इन चारों में से जो परोरजा प्राण है–उसे यहाँ 'मन' इस नाम से कहा जाता है एवं जो अन्त्य का 'आपः' है–उसे ही वाक् कहते हैं चूँकि 'आपः' से ही पाँच भूत बनते हैं और भूत कहते हैं–वाक् को, अतः सुतरां 'आपः' को वाक् कहना चरितार्थ हो गया एवं

अवशिष्ट जो अग्नि और सोम हैं–उनको प्राण ही कहते हैं–इस प्रकार से वही एक प्राण पहले ४ भागों में विभक्त हुआ एवं इन्हीं चारों को–मन (परोरजा), प्राण (अग्नि और सोम), वाक् (आपः) कहने लग गए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"परोरजा अग्निरथैष सोमश्चापश्च चत्वार इमे स्वभावात्।
भेदाः स्युराद्यं मन आहुरन्त्यं वाचं तथा प्राण इतीतरौ द्वौ" ॥३॥

अब इन चारों में से कौन क्या-क्या काम करता है ? यह बतलाते हैं–

जिसको हमने सोमप्राण बतलाया है–वह स्वभाव ही से स्थिति धर्म्मा है–अर्थात् ठहराव (पिण्ड) करना–यह सोम का धर्म्म है–बस, संसार में जितने पदार्थ हम देख रहे हैं–उनमें जो स्थिति है–वह इसी सोम के द्वारा ही होती है, परन्तु अग्नि प्राण ठीक इसके विपरीत है–अर्थात्–अग्नि से ही गतिक्रिया होती है। बस, इस प्रकार से प्राण के वश से संसार में स्थित्यात्मक एवं गत्यात्मक जितने भी पदार्थ हैं–वे सभी क्रिया रूप समझने चाहिएँ। क्योंकि स्थिति भी क्रिया ही है एवं गति भी क्रिया ही है। परन्तु इस क्रिया के भीतर जो एक ज्ञान शक्ति बैठी हुई है–जो कि इस क्रिया का आलम्बन है–बस, वह ज्ञान शक्ति इसी मन का काम है एवं जो हम क्रिया के क्षणिक होने पर भी उसको अर्थ (घट-पटादि स्थिररूप में) रूप में देख लेते हैं–वह इस वाक् की ही महिमा समझनी चाहिए। अर्थात्–रस-रूपधाराबलाधारत्वेन क्षणिक भी क्रिया जब समष्टिरूप में आ जाती है तो उसे ही अर्थ कहते हैं–यह अर्थ वाक् समझना चाहिए। बस, इस प्रकार से ज्ञान (मन), क्रिया (प्राण), एवं अर्थ (वाक्)–इन्हीं से सारा विश्व व्याप्त है–अर्थात्–इन्हीं को विश्व कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सोमात् स्थितिः स्याद्, गतिरग्नितः स्यादित्थं क्रिया प्राणवशेन सर्वा।
ज्ञानं मनस्तोऽर्थकला तु वाचो ज्ञानक्रियार्था इदमस्ति विश्वम्" ॥४॥

परन्तु इतना अवश्य समझना चाहिए कि ये तीनों शक्तियाँ एक के बिना दूसरी सर्वथा अलग नहीं रह सकती हैं–बस, इन तीनों को मिलाकर व्यासज्यवृत्या आत्मा का स्वरूप बनता है–अर्थात्–मन, प्राण, वाक्–इन तीनों से आत्मा के स्वरूप का निम्मर्णि होता है। जिस प्रकार यहाँ पर तीनों को मिलाकर आत्मत्व है–तद्वत्–जड़ादि में प्रत्येक में भी (पर्य्याप्तिवृत्त्या) आत्मा-व्यवहार कर सकते हैं। परन्तु वस्तुतः यह व्यवहार लाक्षणिक ही समझना चाहिए। इन तीनों में से जो वाक् है (भूत है)–वह प्राण से प्रेरित होता है–अर्थात्–प्राण के अधीन वाक् है–जब तक प्राण नहीं चाहेगा–तब तक भूत हर्गिज काम नहीं कर सकता एवं जो प्राण का विस्तार है–वह मन से होता है–अर्थात्–प्राण मन के अधीन है। इस प्रकार से मन से (इच्छा से) प्रेरित होकर प्राण वाक् को जब चलाता है–तभी नई सृष्टि पैदा होती है। अर्थात्–मन से प्रेरित होता हुआ प्राण ही वाक् द्वारा सृष्टि निर्माण करता है–अर्थात्–वाक् एवं

प्राण मन के विना स्वतन्त्रसृष्टि पैदा करने में सर्वथा परतन्त्र एवं असमर्थ हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तत्रापि नैकेन विनान्यदस्ति त्रीण्येक आत्मा पृथगात्मता च।
वाक् प्राणतः प्राणततिर्मनस्तो नियुज्यमानैव करोति सृष्टिम्" ॥५॥

बस, इसी मनःप्राणवाङ्मयात्मा से जो कुछ उत्पन्न होता है—वही इस आत्मा का शरीर कहलाता है—अर्थात् आत्मस्थित विकारक्षर से जो नई वस्तु पैदा होती है—बस, वही इसका देह कहलाता है—बस, इसी देह से यह आत्मा आवृत रहता है—अर्थात्—उसी आत्मा से पैदा होकर—वही वस्तु—शरीर नाम से कहलाती हुई आत्मा को आवृत्त कर लेती है—बस, इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"—इति।

इस प्रकार से देह का यह आत्मा बन जाता है एवं आत्मा का ही देह बन जाता है। बस, इस आत्मा और शरीर को छोडकर संसार में और कुछ भी नहीं है। यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि न आत्मा विना कभी शरीर रह सकता है एवं न शरीर विना कभी आत्मा ही रह सकता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"उत्पद्यतेऽस्मादिह यच्च किञ्चित् तदस्य देहं तत आवृतोऽयम्।
देहस्य चात्माऽऽत्मन एष देहस्ताभ्यां विना क्वापि न किञ्चिदस्ति" ॥६॥

इस देहसृष्टि में जो आत्मस्थित मन भाग है—उससे ज्ञानेन्द्रिय पैदा होती हैं, एवं प्राण से कर्म्मेन्द्रियाँ पैदा होती हैं एवं वाक् से अस्थि, मांस, मेदा, मज्जा—इत्यादि अर्थ (पदार्थ) पैदा होते हैं। बस, इस प्रकार से ज्ञान-क्रिया-अर्थ—इन तीनों को मिलाकर के शरीर का निर्म्माण होता है। चूंकि यह सारा प्रपञ्च केवल प्राण का ही है एवं प्राण-प्राणत्वेन एक ही है एवं इसी प्राण को हम पुरुष कहते हैं, अतः संसार में केवल यही एक प्राणात्मक पुरुष ही सत्य है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"देहस्य सर्गे मनसः प्रसङ्गाज्ज्ञानेन्द्रियाण्येव, क्रियेन्द्रियाणि।
प्राणप्रसङ्गादथ, वाक्प्रसङ्गादर्थाः स्युरित्थं त्रयमेकदेहम्" ॥७॥



३—एकात्मनः स्त्रीपुरुषात्मद्वयसृष्टिः।

एक आत्मा से स्त्री और पुरुषात्म द्वयसृष्टि—

जिस प्राण को हमने व्यापक बतलाया है–वह आत्मा स्वरूप ही है–इस प्रकार का यह आत्मा जो कि व्यापक एवं अमृतस्वरूप था–उसी से एक और अग्निमय जीवात्मा पैदा हुआ जो कि मर्त्य है एवं साथ ही में प्रमित भी है, परन्तु जो यह जीवात्मा पैदा हुआ–यह यद्यपि है–प्रमित, तथापि परतन्त्र न होकर के यह स्वतन्त्र ही है। बस, इसी प्रकार के अनन्त आत्माओं को वह व्यापक आत्मा पैदा किया करता है–इस प्रकार से इन सबको पैदा करने वाला अमृतधर्म्मा व्यापक वह आत्मा इस सृष्टि के पहले एक ही था–जैसा कि श्रुति कहती है—

"एक एवेदमग्र आसीत्"।

जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"जीवोऽयमात्माऽग्निमयोऽस्ति मर्त्यः स चेतनः स प्रमितः स्वतन्त्रः।
यः स्वानुरूपान् जनयत्यनन्तान् स एक आत्मा जगतोऽग्र आसीत्" ॥१॥

इस प्रकार से इस आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी न था–बस, इसी आत्मा ने चूंकि जितने भी पाप्मा थे–उन सबको पहले अपने वश में कर लिए, अतः यही आत्मा पुरुष नाम से प्रसिद्ध हो गया। **पूः (पूर्वम्) औषत्-इति पुरुषः** जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"न चात्मनोऽन्यत् किमपीदमासीत् स सर्वतोऽस्मात् खलु पूर्वं औषत्।
सर्वानिमान् पाप्मन इत्यमुष्माद्धेतोः स आत्मा पुरुषः प्रसिद्धः" ॥२॥

इस प्रकार से जो आत्मा अब तक स्वतन्त्र था–अब वही पाप्मा के संग से एक प्रकार से परतन्त्र हो गया। इस प्रकार का पाप्मा से युक्त यह आत्मा पुरुष और स्त्री के मिले हुए रूप से अभिन्नरूप से ही रहा। अर्थात्–स्त्री और पुरुष–ये दोनों उस समय एक ही आत्मा बने हुए थे। चूंकि उस समय आत्मा एक ही था, अतः वह अकेला रमण नहीं कर सका–अर्थात् उस अकेले आत्मा की तबियत नहीं लगी। बस, जब उसने दूसरे के पैदा होने की इच्छा की तो बस, इच्छा के साथ ही एक दूसरी चीज पैदा और हो गई। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पुमान् परिष्वक्त इव स्त्रियाऽसावभिन्न आसीत् सहितः स आत्मा।
स एक आसीदिति नैव रेमे द्वितीयमैच्छन्न तदान्य आसीत्" ॥३॥

बस, इस प्रकार से इच्छा करते ही वह एक ही आत्मा दो टुकड़ों में परिणत हो गया–और उनमें से एक से पति और एक से पत्नी पैदा हुई अर्थात्–पति का और पत्नी का भ्रूण उसी प्रजापतिस्वरूप आत्मा का बना। इस प्रकार से जब वह भ्रूण (पुरुष-स्त्री का) परस्पर मिले तो जब पुरुष के भ्रूण ने

स्त्री के भ्रूण को खा लिया तो पुरुष पैदा हुआ और स्त्री के भ्रूण ने जब मनुष्य के भ्रूण को खा लिया तो स्त्री पैदा हुई एवं उसी प्रजापति प्राण से गौ पैदा हुई एवं उसी से वृष पैदा हुआ। गरज यह है कि इसी प्रजापति के भिन्न-भिन्न नाना-जातीय प्राणों से सब कुछ बन गया। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एकोऽयमात्मा द्विविधस्ततोऽभूत् पतिश्च पत्नी च बभूवतुस्तत्" ।
योगादजायन्त तयोर्मनुष्याः स्त्री गौरभूत् साथ वृषोऽपरोऽभूत्" ॥४॥

इस प्रकार से स्त्री और पुरुष, गाय और बैल-इत्यादि आपिपीलिकान्त सारे मिथुन (जोड़े) उसी प्रजापति प्राण से पैदा हुए। चूँकि जिस आत्मा का यह सारा प्रपञ्च बतलाया है-वह 'अहम्', मैं ही हूँ, अतः यह सब कुछ (सृष्टिजात) मैं ही तो सब हूँ, अतः सिद्ध हुआ कि मैं (आत्मा) ही केवल सत्य हूँ-जिसका कि नाम पुरुष है और सब मिथ्या है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सर्वाणि हीत्थं मिथुनान्यभूवन् पिपीलिकान्तान्यथ संबभूवुः ।
अहं य आत्मा तत एव सर्वा सृष्टि र्बभूवेत्यहमेव सर्वम्" ॥५॥



४—अग्निसोमात्मकादात्मनः सर्वदेवसृष्टिः ।

अग्नि और सोमात्मक आत्मा से-सम्पूर्ण देवताओं की सृष्टि—

हमारे शरीर में जो वैश्वानराग्नि है-वही प्रजापतिस्वरूप हमारा आत्मा है-जिस समय यह अग्नि (प्रजापति) हमारे शरीर में से निकल जाता है-उसी समय हमारे शरीर का पतन हो जाता, अतः यही आत्मा (अग्नि) इस शरीर का आलम्बन है। यह जो शरीरस्थ अग्नि है-यह मुख से, गुदा से, दोनों पैरों से एवं दोनों हाथों से अपने स्वरूप को पैदा करता है अर्थात् इतने स्थानों में होकर यह भभकता हुआ अपने प्रातिस्विकस्वरूप में निकलता है। जिस जगह अग्नि का वेग कम होता है वहीं खराब खून इकट्ठा हो जाता है-बस, इसी काले वर्ण के खराब खून से हमारे लोम बनते रहते हैं। परन्तु चूंकि उपरोक्त हाथ, पैर आदि में होकर अग्नि तीव्रवेग से बाहर निकलता रहता है, अतः इनके बीच में खराब खून चूंकि इकट्ठा नहीं होता, अतः उपरोक्त अग्नि के निकलने के स्थानों में लोम पैदा नहीं होते। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अग्निः स आत्मा स मुखाच्च योनेः पादाच्च पाणेरसृजत् स्वरूपम् ।
तस्मादिमान्यन्तरतो हि लोम्ना शून्यानि तीव्राग्निमुखोद्धृतत्वात्" ॥६॥

यही अग्नि अपने रेत से जिसको आर्द्ररूप में परिणत करके पैदा करता है-उसी को सोम कहते हैं-अर्थात् जब सोम अग्नि में आहुत होता है तो वह अग्निस्वरूप ही बन जाता है एवं वही बाहर जाकर फिर सोम बन जाता है-यही तात्पर्य्यार्थ है। बस, इसी सोम को अन्न भी कहते हैं। इस प्रकार से यह सोम अन्न है और अग्निस्वयं अन्नाद है। बस, अखिल विश्व में ये ही दो पदार्थ हैं-जिनका कि नाम अग्नि और सोम है-इनसे अलावा और तीसरी चीज कुछ भी नहीं है, अतएव श्रुति कहती है-**अग्नीषोमात्मकं जगत्-इति**। इसी अभिप्राय से गुरुवर श्री ओझा जी कहते है—

"स रेतसः स्वादसृजद् यदार्द्रं सोमः स सोऽन्नं स्वयमग्निरन्नात्।
एतावदस्ति द्वयमेव सर्वं यदन्नमन्नादमितोस्ति नान्यत्" ॥७॥

बस, संसार में जितने भी देवता हैं—उन सबको यह मर्त्य अग्नि ही पैदा करता है अर्थात् जब सोम की अग्नि में आहुति लगती है तभी देवताओं की स्वरूप स्थिति रहती है। इस प्रकार से अग्नि मर्त्यस्वरूप होता हुआ भी अमृत स्वरूप देवताओं को पैदा करता है। इस प्रकार से अपने से बहुत बडे (श्रेष्ठ) जो देवताओं को छोटा एवं मर्त्यस्वरूप पैदा करता है-यह ब्रह्म की अद्भुत आदिसृष्टि समझनी चाहिए। अर्थात्-जो स्वयं मर्त्य है, परन्तु देवताओं को जो अमृतस्वरूप बनाता है-यह बडा ही आश्चर्य है। बस, इस प्रकार से इसी अग्नि और सोम से देवता पैदा होते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सर्वेऽपि देवा अयमग्निरेवासृजत् स मर्त्योऽप्यमृतांस्तु देवान्।
यच्छ्रेयसस्तानसृजत् स देवान् सा ब्रह्मणोऽभूदतिसृष्टिरादौ" ॥८॥

—❀—

५-अव्याकृतात्मसृष्टानां नामरूपव्याकरणम्।

अव्याकृतात्मा से उत्पन्नों का नामरूप द्वारा व्याकरण—

सर्वप्रथम पहले-पहल एक ही आत्मा विद्यमान था एवं च उस समय जगत् का (नानात्व) नामोनिशान भी न था। कहने का तात्पर्य्य यही है कि उस समय जो कुछ था वह भी अव्याकृत (शब्द से नहीं कहने योग्य) ही था। इस प्रकार से जब वही अव्याकृत एक आत्मा भूतरूप में (सृष्टिरूप में) परिणत हो गया तब इन सब भूतों के उत्पन्न हो जाने पर (अर्थात् नाना-भाव हो जाने पर) इन प्रत्येक भूतों का नाम से एवं रूप से पृथक्-पृथक् व्याकरण किया गया। **'एकस्य विविधरूपे आकरणम्'** (**आकारप्रदानं व्याकरणम्**) एक ही वस्तु को नाना आकार से जब देखें तो उसे ही 'व्याकरण' कहते

हैं–जैसे एक ही राम को रामौ, रामाः–इत्यादि नाना आकारयुक्त करके बोलना। बस, तद्वत् ही जो एक आत्मा था–वही जब भूतों में परिणत हो गया तो उसका नाम और रूप से व्याकरण हुआ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्रागेक आसीन्न जगत् तदासीदव्याकृतं सर्वमिदं तदासीत्।
जातेषु भूतेषु बभूव नाम्ना रूपेण च व्याकरणं पृथग्वत्" ॥९॥

यह जो नाम-रूप हैं–उसे ही सत्य कहते हैं–**'तदिदं नामरूपे सत्यम्'–सत्येनामृतंच्छन्नम्'**। परन्तु एक तीसरा सत्य कर्म भी समझना चाहिए। अर्थात्–यह जो सत्य है–वह नाम-रूप-कर्म को मिलाकर अपना स्वरूपसंपादन करता है–चूँकि सत्य तीन हैं, अतः प्रत्येक पदार्थ का तीन तरह से व्याकरण किया जाता है। नाम से, रूप से एवं जो तीसरा–इन दोनों से अलग जो कर्म है–उससे। तो बस, प्रत्येक वस्तु का नाम, रूप, कर्म्म-इन तीन सत्यों से ही व्याकरण किया जाता है। यह जो आत्मा है–उसमें तीन चीजें प्रधानतया रहती हैं–१-उक्थ (ऋक्), २-ब्रह्म (यजुः) और साम (साम)। जिसमें से जो पदार्थ बाहर निकलते हैं–उसे उक्थ कहते हैं–**(यस्मादुत्तिष्ठति तदुक्थम्)** एवं जिसमें से उठकर जहाँ यह पदार्थ प्रतिष्ठित होते हैं–उसे ब्रह्म कहते हैं **(यत्र प्रतितिष्ठन्ति तद् ब्रह्म)**। एवं च जिसके आखिर में जाकर के पदार्थ लीन हो जाते हैं–उसे साम कहते हैं **(यत्र प्रलीयन्ते तत्साम)**।

इस प्रकार से प्रत्येक आत्मा में उत्पत्ति (ऋक्), स्थिति (ब्रह्म) और लय (साम)–ये तीन भाव रहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सत्यं त्रिधा व्याकरणं यतः स्यात् ते नाम रूपे अथ कर्म्म चान्यत्।
वागुक्थमेषामियमस्ति नाम्नां सामापि च ब्रह्म च सैव तेषाम्" ॥१०॥

इस तरह से प्रकृत में जो यह वाक् से है–वह इन नामों के उक्थस्थानापन्न है अर्थात्–इसी वाक् से नामों की पैदाइश होती है, अतः इसे नामों का उक्थ समझना चाहिए। अपि च यही वाक् इन नामों का साम है एवं यही वाक् इन नामों का ब्रह्म (प्रतिष्ठा) है, चूँकि ये जितने भी नाम हैं वे सब वाक् से ही उत्थित हैं अतः इन सबका उक्थ हम वाक् को कह सकते हैं। एवमेव जितने भी संसार में नाम हैं–उन सबमें वाक् (वाक्त्वेन) चूँकि समानरूपेण विद्यमान है, अतः हम इस वाक् को नामों का साम भी कह सकते हैं–'बृहदारण्यक' में साम का यही अर्थ किया गया है। एवमेव सारे नामों को यही एक वाक् ही अपने ऊपर धारण करती है, अतः हम इस वाक् को नामों का ब्रह्म भी कह सकते हैं। बस, इस प्रकार से यही वाक् नामों का उक्थ, ब्रह्म एवं साम समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"नामानि वाचो ध्रुवमुत्थितानि समं च वाङ्नामभिरस्ति सर्वैः ।
नामानि सर्वाणि बिभर्ति सा वाक् वाग्ब्रह्मसामोक्थमतोस्ति नाम्नाम्" ॥११॥

एवमेव संसार में जितने रूप हैं–उन सबका उक्थ एवं ब्रह्म एवं साम–इस चक्षु को ही समझना चाहिए । क्योंकि जितने भी रूप हैं–वे इस चक्षु से ही उत्पन्न होते हैं एवं संसार के यावन्मात्र रूपों में समान-भाव से यह प्रत्यक्ष का कारण बनती है एवं जितने भी रूप हैं–उन सबको यह चक्षु ही धारण करती है । इसलिए यही चक्षु रूपों का उक्थ, ब्रह्म और साम समझना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"रूपाण्यथो चक्षुष उत्थितानि चक्षुः समं सर्वविधैश्च रूपैः ।
रूपाणि सर्वाणि बिभर्त्ति चक्षुस्तेषामिदं ब्रह्म च साम चोक्थम्" ॥१२॥

एवमेव जितने कर्म्म हैं–वे चूँकि काया से ही उठते हैं (अर्थात् कर्म्म शरीर से ही होते हैं) अतः यह शरीर कर्म्मों का उक्थ है एवं च सारे कर्म्मों से यह शरीर समत्वेन व्याप्त है अर्थात्–कायत्वेन काय सभी कर्म्मों में समानरूप से विद्यमान है । एवमेव जितने भी कर्म्म हैं–उन सबको यही शरीर धारण करता है, अतः इन कर्म्मों का यही शरीर उक्थ है एवं यही ब्रह्म है एवं यही साम है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कर्म्माणि कायादत उत्थितानि कायः समं कर्म्मभिरस्ति सर्वैः ।
कर्म्माणि सर्वाणि बिभर्ति कायस्तेषामयं ब्रह्म च साम चोक्थम्" ॥१३॥

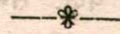
इस प्रकार से यद्यपि उक्थ, ब्रह्म और साम–ये कहने को तीन हैं, परन्तु वस्तुतः ये तीनों मिलकर के एक ही हैं, अतएव इसको आत्मा कहते हैं । अर्थात् तीनों के मिलितरूप को ही आत्मा कहते हैं । इस प्रकार से यद्यपि यह आत्मा एक ही है, परन्तु एक भी यह आत्मा नाम, रूप और कर्म्म से त्रिक् युक्त हो जाता है । इस प्रकार से यह अमृत–आत्मा विद्यमान–इस नाम, रूप, कर्म्मस्वरूप सत्य से ढका हुआ है । इस प्रकार से इन तीनों (उक्थादि) से यह आत्मा युक्त है–अथवा आत्मा इन तीनों से युक्त है–इस तरह से हम उस आत्मा को दोनों तरह से ही कह सकते हैं, क्योंकि तातपर्य्य दोनों का एक है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"त्रयं सदप्येकमतः स आत्मा सन्नेक आत्मैव पुनस्त्रयं तत् ।
छन्नं हि सत्येन सताऽमृतं तत् त्रयं तदेकः स न भिद्यतेऽर्थः" ॥१४॥

यह जो प्राण है–वही आत्मा है एवं यह आत्मा अमृत कहलाता है–एवं जो नाम, रूप हैं–वे सत्य कहलाते हैं । इस प्रकार से यह प्राण उन नाम और रूप से ढका हुआ ही रहता है–इस प्रकार से प्राण

को वाक् समझना चाहिए जो कि आत्मा है (यहाँ पर इस प्राण को अमृतप्राण समझना चाहिए) एवं जो चक्षु हैं–उसको मनस्थानापन्न समझना चाहिए अर्थात् रूप का प्रत्यक्ष इस मन के (माणस्या के) द्वारा हुआ करता है एवं जो कर्म्म है–उसे शरीरस्थानापन्न समझना चाहिए–कहने का तात्पर्य्य यही है कि इसी अव्याकृत आत्मा का नाम, रूप और कर्म्म- इन तीनों से व्याकरण होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्राणोऽयमात्माऽस्त्यमृतं तदाहुः सत्यं विदुस्ते खलु नामरूपे।
प्राणो हि स च्छन्न इवास्ति ताभ्यां प्राणस्तु वागक्षिमयस्तनुप्रः" ॥१५॥



६–पञ्चप्राणात्मकस्यात्मनः पञ्चप्राणा अन्तरङ्गाणि।

पञ्चप्राणात्मक आत्मा के पाँचों ही अन्तरङ्ग—

इस प्रकार का पूर्वोक्त अमृतप्राणस्वरूप वैश्वानराग्निमय आत्मा हमारे शरीर में लोम और नखाग्र भाग को छोडकर सर्वत्र विद्यमान है। यह आत्मा शरीर में भिन्न-भिन्न कार्य करता है। जिस समय हम बोलते है–उस समय और प्राणों की क्रिया बन्द हो जाती है एवं जब हम चलते हैं तो और प्राण स्थगित हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य्य यही है कि जो प्राण (आत्मा) सर्वत्र व्याप्त हो रहा है–वही जब अपने किसी एक द्वार में होकर निकलता है तो उस समय शरीरस्थ सारे प्राण का रुख एक तरफ होकर निकलने लगता है। परन्तु जिस एक स्थान में होकर वह निकलता है–उसमें जितना प्राण है–उसे पूरा आत्मा नहीं समझ लेना चाहिए। अर्थात् तत्-भागों में वह आत्मा अधूरा ही रहता है। जब सारे शरीरावयवो को मिला लिया जाता है तभी उसका पूरा स्वरूप सम्पन्न होता है। चूंकि जिस इन्द्रिय में होकर प्राण निकलता है–उस स्थान में वह अधूरा रहता है, अतः उसका स्फुटरूपेण प्रत्यक्ष नहीं होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्राणोऽयमात्माऽग्निमयोऽत्र देहे प्रविष्ट आलोमनखाग्रमस्ति।
अनेककर्मा स पृथक् स्वकर्म्मस्वकृत्स्न एवेति न दृश्यतेऽद्धा" ॥१६॥

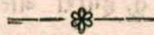
जिस समय वह आत्मा प्राणन किया करता है तो वही प्राण कहलाने लगता है एवं वह जब बोलता है (मुखेन्द्रिय में होकर निकलता है) तो वही वाक् कहलाने लगता है एवं जब वह सुनने लगता है (श्रोत्रेन्द्रिय में होकर निकलता है) तो वही श्रोत्र कहलाने लगता है एवं जब वह देखने लगता है (चक्षुरिन्द्रिय में होकर निकलता है) तो वही चक्षु कहलाने लगता है एवं जब वह किसी का मनन करता है तो मन कहलाने लगता है। गरज यह है कि यह जो प्राण, वाक्, श्रोत्र चक्षु, मन नाम की जो इन्द्रियाँ

हैं-वे अपने अपने प्रातिस्विकस्वरूप से सर्वथा अपूर्ण हैं अर्थात् प्रत्येक में आत्मा का हिस्सा बैठा हुआ है। परन्तु जो कुछ हो-इन सबमें जो रहने वाला है-वह एक ही है और वह आत्मा नाम से व्यवहृत होता है। इस प्रकार से एक ही आत्मा स्थानभेद से अपने पाँच स्वरूप कायम कर लेता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्राणन्नयं प्राण, उतो वदन् वाक्, श्रोत्रं स शृण्वन्नथ, सोऽक्षि पश्यन्" ।
मनः स मन्वान, इमानि कर्म्माख्यानान्यकृत्स्नोऽत्र स एक एकः" ॥१७॥

इस प्रकार से वाक् प्राणदि ये सारे मिलकर जहाँ एकत्रित होते हैं अर्थात्-जिसमें ये पाँच भाव पैदा होते हैं-वह एक है एवं इन सबको मिलाकर के विशिष्टरूपेण यह एक ही है। बस, यही एक ही आत्मा बोलता है एवं यही प्राणन करता है-यही देखता है-यही सुनता है एवं यही मनोव्यापार करता है। तो बस, शरीर में रहता हुआ जो एक आत्मा पूर्वोक्त सारे काम करता है-उसे ही देही किंवा शरीरी कहते हैं-जिसमें कि पूर्वोक्त पाँचों प्राण अन्तरङ्ग भाव से रहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सर्वेऽप्यमी यत्र भवन्ति चैकं स एक आत्मास्ति विशिष्टरूपः ।
स वक्ति, स प्राणिति, पश्यतीदं, शृणोति, तद्वन्मनुते, स देही" ॥१८॥



७-शरीरप्रजास्त्रीपशुवित्तान्यात्मनः पञ्च बहिरङ्गाणि ।

शरीर-प्रजा-स्त्री-पशु-वित्त आत्मा के पाँच बहिरङ्ग सम्बन्धी—

पूर्वोक्त जो प्राणवागादि पाँच बतलाए गए हैं-वे आत्मा के अन्तरङ्ग भाव कहलाते हैं अर्थात्-ये पाँचों आत्मा के नजदीक के सम्बन्धी हैं। इसी तरह से जो आत्मा के बहिरङ्ग-सम्बन्धी है-उनको बतलाते हैं—

वेद का सिद्धान्त है कि जहाँ तक वित्त रहता है-वहाँ तक मेरा आत्मा रहता है-जैसा कि श्रुति कहती है-**'यावद् वित्तं तावदात्मा'-इति**। इसीलिए कहते हैं-जो धन-दौलत है-वह भी मेरी आत्मा है एवं पशु और नौकर भी मेरी ही आत्मा हैं एवं स्त्री और पुत्र मेरी आत्मा हैं एवं शरीर मेरी आत्मा है एवं शरीर से भी जो एक अन्य सबके अन्दर रहने वाला है-वह भी मेरी आत्मा है। इस प्रकार से वित्त तक इसी अन्तर्निगूढ आत्मा की रश्मियाँ जाती है-तात्पर्य्य यही है कि ज्यों-ज्यों मेरा परिकर बढता जाता है-त्यों-त्यों मेरी आत्मा की किरणें उनको अपने पेट में लेने लगती हैं-बस, इसी से उन-उन वस्तुओं

पर मेरा ममत्व होने से उनमें आत्मबुद्धि होने लगती है। बस, इसी अभिप्राय को लेकर–**'यावद् वित्तं तावदात्मा'**–यह श्रुति ने कहा है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"वित्तं ममात्मा, पशुभृत्यमात्मा, स्त्रीपुत्रमात्माऽथ शरीरमात्मा।
ततोऽपि योऽन्योऽन्तरतः स आत्मा, वित्तान्तमस्यैव स रश्मिरस्ति" ॥१९॥

धनादि आत्मा कैसे हैं? इसको दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं–मैं देखता हूँ कि जो धन है वह मुझे बडा ही प्यारा लगता है एवं जो मेरे पशु हैं–वे बडे प्रिय लगते हैं एवं स्त्री और पुत्र भी मुझे प्यारे लगते हैं एवं यह जो शरीर है–वह भी मुझे बडा प्यारा लगता है। परन्तु इन सबसे ज्यादा जो मेरे अन्तर्निगूढ आत्मा है–वही प्यारा लगता है–बस, इसी आत्मा की किरणों में आ करके इस आत्मा के लिए ही–सारे पदार्थ वित्ततया प्यारे लगने लगते हैं। तात्पर्य्य यही है कि वस्तुतः धन-स्त्री-पशु आदि मुझ को प्यारे नहीं लगते हैं–अपि तु, उनमें जो मेरी आत्मा की किरणें जाती हैं–वे ही मुझे प्यारी लगती हैं–चूंकि आत्मा में से किरणें निकलती हैं, अतः उत्तरोत्तर इनके कमी के कारण क्रमशः उत्तर की वस्तुओं में पूर्वापेक्षया आत्मभाव कम होता जाता है–इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि यदि कोई हमारी स्त्री पर और पुत्र पर एवं धन पर हमला करे तो हम उस समय धन की परवाह न कर स्त्री को बचाने की कोशिश करते हैं एवं यदि स्त्री और हमारे शरीर पर हमला होता है तो स्त्री की परवाह न कर हम अपने शरीर की रक्षा पर सन्नद्ध होते हैं, परन्तु शरीर में भी जब एक फोड़ा हो जाता है तो हम उस आपत्ति से बचने के लिए आत्मरक्षार्थं उस हाथ को कटवा डालते हैं। कहने का तात्पर्य्य यही है कि वित्तादि हमें प्रिय नहीं है–अपि तु, हमारा आत्मा ही प्रिय है–बस, इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"न वाऽअरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति–आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वाऽअरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति-आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति–आत्मा वाऽअरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वाऽअरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्"।[1]

अतः यह सिद्धान्त समझना चाहिए कि संसार में मैं ही प्रिय हूँ–और कोई भी प्यारा नहीं है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"वित्तं प्रियं मे, पशवः प्रिया मे, पुत्रः प्रियो मे, प्रिय एष देहः।
प्रियोऽखिलेभ्योऽन्तरमस्ति यत् तत् प्रियाणि सर्वाणि तदंशुतोऽस्मै" ॥२०॥

१ शत० ब्रा० १४।५।४।५।

८—ऋषिपितृदेवानामात्मविकारत्वम् ।

ऋषि-पितर-देवताओं को आत्मा का ही विकार बतलाना—

संसार में जो कुछ हम देखते हैं—वह सब ब्रह्म ही ब्रह्म है । **ब्रह्मं वेदं सर्वम्**—एवं च इसी ब्रह्म से सारा संसार बना हुआ है । **'यतो हीमानी जायन्ते येन जीवन्ति चानिशम्'**-इति ।। अपि च—इस ब्रह्मविद्या से संसार के सारे काम सिद्ध हो जाते हैं— जैसा कि श्रुति कहती है—**'ब्रह्म विद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते'** । इस प्रकार से—

१—यह सब कुछ ब्रह्म ही है (**ब्रह्म एव सर्वम्**)	ये तीनों ही भाव इस ब्रह्म में लागू हो सकते हैं ।
२—यह सारा संसार ब्रह्म से ही बना है (**ब्रह्मण एव सर्वम्**)	
३—इस ब्रह्मविद्या से सब हो सका (**ब्रह्मविद्यया ह वै-सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते**)	

अपि च—जिस ब्रह्म की उपरोक्त महिमा बतलाई है—वह ब्रह्म आत्मा ही है—अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ (**अयमात्मा ब्रह्म**) । चूंकि संसार में जो कुछ देवता-पितर-ऋषि आदि हैं—वे सब ब्रह्म ही है-और ब्रह्म हूँ—मैं, तो इससे स्पष्ट साबित हो गया कि सारा यह प्रपञ्च मेरे से ही उत्पन्न होता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ब्रह्मैव सर्वं, तत एव सर्वं तद्विद्यया सिद्धयति सर्वमित्थम् ।
ब्रह्मायमात्मैव तदस्ति सोऽहं ब्रह्मास्मि, मत्तोऽभवदत्र सर्वम्" ।।२१।।

संसार में किसी को शत्रु की दृष्टि से एवं किसी को मित्र की दृष्टि से—यदि किसी एक की चिरकाल तक यदि भावना की जाएगी तो निश्चय करके—वह वैसा ही बन जाएगा । अर्थात् यदि हम किसी पर चिरकाल तक शत्रुपने की भावना करेंगे तो वह हमारा शत्रु अवश्य बन जाएगा एवं यदि हम मित्रता की भावना करेंगे तो वह हमारा मित्र बन जाएगा । इससे स्पष्ट साबित होता है कि वस्तुतः शत्रु और मित्र मेरे से बाहर की चीज नहीं हैं अपि तु, ये सारे भाव मेरी ही आत्मा में मौजूद हैं । बस, वही आत्मा मेरा शत्रु बन जाता है एवं यही आत्मा मेरा मित्र बन जाता है—इसी अभिप्राय को लेकर के भगवान् ने कहा है—

"उद्धरेदात्मना—(विज्ञानात्मना) त्मानम् (प्रज्ञानात्मानम्) नात्मानमवसादयेत् । आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः" ।।[1]

१ गीता ६।५।

जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"द्विषत्तया यं च सुहृत्तया यं यथा चिरं भावयते स नूनम् ।
तथा भवेदात्मनि सर्वमस्य स्थितं, स बन्धुः स रिपुः स सर्वः" ।।२२।।

नृसिंह-चतुर्भुजनाथ-हनुमान जी-भैरव जी-देवी जी इत्यादि-इत्यादि जिस देवता एवं पितर को यह उपासक पूजता है (उपासना करता है) उस-उस उपासक का वही-वही देवता रहता है । अर्थात् तत्तदुपासकों के तत्तद्देवता ही सिद्ध रहते हैं–अन्य नहीं । यह जो देवतास्वरूप है–वह निश्चयेन आत्मा से ही बने हुए हैं । अर्थात् हमारा आत्मा जिस प्रकार ही भावना करने लगता है–ठीक वही स्वरूप जो कि हमारे आत्मा में विद्यमान है–मूर्ति रूप से बाहर निकल आता है–अतः यह सिद्धान्त समझना चाहिए कि आत्मा जैसी भावना करने लगता है- ठीक वैसी ही मूर्ति उसके सामने आकर खड़ी हो जाती है अतः शिव, विष्णु, इन्द्र–इत्यादि-इत्यादि जितने भी देवता हैं–वे सब मेरी ही आत्मा से बने हुए हैं । सामने जो पाषाण की मूर्ति रखी हुई है–उसमें कुछ भी तत्त्व नहीं है–अपि तु, जो मेरी भावना है–वही सच्ची है । इसी अभिप्राय से **'माने तो देव नहीं भाठा का लेव**–यह लोकोक्ति प्रचलित है । कहने का तात्पर्य्य यही है कि देव-पितरादि जो कुछ हैं–वे सब मेरी ही आत्मा के विकार हैं–इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

**"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्" ।।**[1]

जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यं कं च देवं पितरं परं वा यजत्ययं तस्य स सोस्ति देवः ।
आत्मैव नूनं मनसाऽनुक्लृप्तोऽस्यात्मा यथा भावयते तथा स्यात्" ।।२३।।

प्रत्येक देवता भिन्न-भिन्न आकृति के होते हैं एवं प्रत्येक का स्वभाव–शील भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है एवं कोई काले वर्ण का होता है, कोई गौरा होता है, कोई लाल होता है । कोई सात्विक होता है, कोई राजस होता है, कोई तामस होता है । इत्यादि-इत्यादि जो ये नाना प्रकार की विभिन्नता दिखलाई पड़ती है वे सब मेरी ही आत्मा की महिमा समझनी चाहिए । इस प्रकार से अविशेषरूपेण वह आत्मा एक ही स्वरूप वाला है–इस एक ही स्वरूप वाले आत्मा से विशेष प्रकार की यह भिन्न-भिन्न सृष्टि हुआ करती है । तात्पर्य्य यही है कि सब कुछ हमारे आत्मा के ही विकार हैं । काली के ८४

१ गीता ७।२१।

स्वरूप माने गए हैं एव हनुमान जी के, रुद्र के, शिव के, विष्णु के–गरज यह है कि सम्पूर्ण देवताओं के प्रत्येक के नाना स्वरूप की कल्पना की गई है–इसका अर्थ यही है कि संसार में जितने भी मनुष्य हैं–वे सब भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति वाले हैं। कोई सात्त्विक है, कोई राजस है, कोई तामस है–इस प्रकार से भिन्न-भिन्न प्रकृतिवाले मनुष्यों के लिए भिन्न-भिन्न स्वरूप की कल्पनाएँ की गई हैं। बस, यही उपासना का रहस्य समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"देवा विभिन्नाकृतयो विभिन्नस्वभावशीलाश्च विभिन्नवर्णाः।
सर्वे स आत्माऽस्त्यविशेष एकस्तस्यैव सर्वापि विसृष्टिरेषा" ॥२४॥

यह उपासक जिन देवताओं की, जिन मनुष्यों की एवं जिन-जिन ऋषियों की उपासना (भावना) करता है–उस उपासक की आत्मा उसी-उसी स्वरूप में परिणत हो कर उपासक जैसा चाहता है–उसी रूप में उपस्थित हो जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यानेष देवानथ यान्मनुष्यानृषींश्च यानात्मनि भावयेद्वै।
आत्मा स सोऽर्थो भवतीह सर्वः पश्यंस्तथा वक्ति च वामदेवः" ॥२५॥

इसी तत्त्व को समझते हुए महर्षि वामदेव कहते हैं—

"अहं मनुरभवं सूर्यश्चचाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा" ॥२६॥[1]

अर्थात्–'मैं इक्ष्वाकु मनु हो गया। मैं सूर्य्य हो गया'। मैं कक्षीवान् ऋषि हो गया–जो कि संसार के सबसे बडे भारी विद्वान् हैं (विप्रः)–यह कक्षीवान् भरद्वाज के पुत्र एवं बृहस्पति के पोते हैं। मैं अर्जन्दार (चित्रा) हरा नदी के पास के इन्द्र के पास मित्र जो कि आर्जुनेय कुत्स महाराज हैं–वो हो गया हूँ (जिनके कि कहने से इन्द्र ने ५२००००० (बावन लाख) अफरीदियों को परास्त किया था एवं मैं उशना कवि हो सकता हूँ। मैं किसी की परवाह नहीं रखता हूँ।' (न्यृञ्जे) मुझे देखे अर्थात् जो कुछ हूँ–वह मैं ही हूँ।'

इस प्रकार से उपरोक्त उपासना-रहस्य को ही भगवान् वामदेव बतलाते हैं ॥२६॥

यद्यपि इस सारी स्तुति से कुत्स ने भुवनेन्द्र की स्तुति की है, क्योंकि लोक का व्यवहार ऐसी ही है, तथापि इससे अध्यात्म इन्द्र ही स्तुत समझना चाहिए–जिस आत्मा के विना यह जड़

१ ऋग्वेद मं० ४।२६।१।

शरीर कुछ भी नहीं कर सकता है । तात्पर्य्य यही है कि जो स्तुति की जाती है–वह भी इसी आत्मेन्द्र के ही अधीन है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"देवेन्द्रमस्तौदयमत्र मर्त्यं तल्लोकवृत्तं नु तथापि तेन ।
अध्यात्ममिन्द्रः स्तुत एव देहो विनात्मना नैष करोति किञ्चित्" ।।२७।।

अपि च–इसी अभिप्राय से अथर्ववेद में लिखा है—

**"अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूंरजनयं सप्त साकम् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च" ।।२८।।**[1]

मैं पृथिवी और द्यौ का विभाग करता हूँ (सूर्य्यइन्द्र) एवं मैंने ही एक साथ ७ ऋतुएँ पैदा की हैं एवं संसार में झूँठ एवं सच जो कुछ बोली जाती है–यह मैं बोलता हूँ एवं जो दैवीवाक् (वेदवाक्) है उसको भी मैं ही बोलता हूँ एवं जितनी प्रजा है–वह सब भी मैं ही हूँ ।।२८।।

अपि च—

**"अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूंरजनयं सप्त सिन्धून् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया" ।।२९।।**[2]

पृथिवी और द्यौ को मैंने पैदा किया है एवं मैंने ही ७ ऋतुओं को एवं सातसमुद्रों को पैदा किया है एवं सच-झूँठ सब मैं ही बोलता हूँ एवं संसार के निम्मर्ण करने वाले जो अग्नि-सोम हैं–वे भी मुझ में ही आहुति देते हैं ।।२९।।

उपरोक्त जो प्रतिज्ञा है–वह वाक् की प्रतिज्ञा है । वह वाक् आत्मा को छोडकर और किसी अन्य का विवेचन नहीं कर रही है अर्थात् आत्मा का ही विवेचन कर रही है । यह जो आत्मा है–वह अग्नि और सोम का सेवन करता है एवं इसी आत्मा द्वारा पृथिवी और द्यौ का विभाग किया जाता है–अर्थात्-यह पृथिवी है–यह द्यौ है–इत्यादि सारे भाव इसी आत्मा के हैं, अतः ऋषि-पितर-देव आदि जो कुछ संसार में हैं–वे सब आत्मा का ही विकार समझना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है–

"वाचः प्रतिज्ञेयमथर्ववेदे सा वाग् न चात्मानमृते विवक्ति ।
अग्नि स सोमं जुषतेऽयमात्मा द्यावापृथिव्यौ मनसा विविङ्क्ते" ।।३०।।

---

१ अथर्ववेद ६।६।६१।२ । २ अथर्ववेद ६।६।६१।३ ।

९-ब्रह्मवीर्य्यादात्मनः क्षत्रविट्शूद्रवीर्य्योत्पत्तिः ।

ब्रह्मवीर्य्ययुक्त आत्मा से क्षत्र-विट् एवं शूद्रवीर्य्योत्पत्ति—

इस सृष्टि के पहले केवल ब्रह्म ही ब्रह्म था-जो कि व्यापक था एवं एक था। उस ब्रह्मस्वरूप आत्मा से सर्वप्रथम उससे भी श्रेष्ठ क्षत्ररूप का उदय हुआ। अर्थात् उसी ब्रह्मवीर्य्य से वीर्य्यों में श्रेष्ठ क्षत्रवीर्य्य उत्पन्न हुआ। यह जो क्षत्रवीर्य्य पैदा हुआ वह उस ब्रह्मवीर्य्य से भी बढ-चढ कर हुआ। चूंकि वीर्य्यों में सिवाय क्षत्रिय के और कोई श्रेष्ठवीर्य्य नहीं है, अतः राजसूययज्ञ में राजा सिंहासन पर विराजमान हो जाता है एवं ब्राह्मण उस सिंहासन के नीचे खड़े होकर इसे आशीष देते हैं तो सुतरां इस वीर्य्य का श्रेष्ठत्व सिद्ध हो जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ब्रह्मैकमेव त्विदमग्र आसीत् क्षत्रं ततः श्रेय उदैत्तु रूपम् ।
क्षत्रात् परं नास्त्यत एव सोऽधः सन् ब्राह्मणः क्षत्रियमध्युपास्ते" ॥३१॥

परन्तु जिस क्षत्रवीर्य्य की हमने प्रशंसा की है-उसकी योनि (प्रभव-प्रतिष्ठा) यही ब्रह्मवीर्य्य है। जैसा कि श्रुति कहती है—**ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा**—इति। अतएव यह राजा उन्नति के परम उच्च शिखर पर पहुँच करके भी स्वप्रतिष्ठाभूत ब्रह्मवीर्य्य के ही आश्रित रहता है। अर्थात् इस राजा की सत्ता इसी के आधार पर चूंकि स्थित है, अतः अपनी अभिवृद्धि के लिए राजा को चाहिए कि वह हरवक्त इस ब्रह्मवीर्य्य को बढाने का प्रयत्न करता रहे। अर्थात् सदा ब्राह्मणों की रक्षा में तत्पर रहे। अन्यथा जिस दिन ब्राह्मणवीर्य्य नष्ट हो जाएगा-उसी दिन क्षत्रवीर्य्य का पतन हो जाएगा, अतः सदा सर्वदा ब्रह्मवीर्य्य को सुरक्षित रखना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है —

"क्षत्रस्य तु ब्रह्म तदस्ति योनी राजा प्रकर्षं परमं च गच्छन् ।
ब्रह्मैव चोपश्रयते स्वयोनिं संवर्द्धयत्येतदयं स्ववृद्ध्यै" ॥३२॥

जिस प्रकार से इस ब्रह्मवीर्य्य से क्षत्रवीर्य्योत्पन्न होता है-तद्वत् ही विट्वीर्य्य एवं वर्णान्तिर्गन्त पूषा देवता वाला शूद्रवर्ण भी इसी से उत्पन्न होता है-अर्थात्-क्षत्रवीर्य्यवत् इसी ब्रह्मात्मवीर्य्य ने विट्वीर्य्य को पैदा किया एवं इसी ने शूद्र वर्ण को पैदा किया। इस तरह तीनों वर्णों को पैदा करके इसी ने सत्यस्वरूप धर्म्म को पैदा किया। इसी सत्यस्वरूप धर्म्म के कारण क्षत्रिय का यह अत्यन्त बलिष्ठ क्षात्रतेज भी जो एक निर्बल किन्तु धर्म्मपरक व्यक्ति है-तद्द्वारा अनुशासित हो जाता है। अर्थात् बडे से बडे ताकतवर सम्राट् को भी एक धर्म्म के पालन में एक निर्बल मनुष्य भी उस राजा पर धर्म्मबल से हुकूमत कर सकता है। बस, इस तरह के तीन वर्णों को एवं सर्व शिरोमणि सत्यस्वरूप इस धर्म्म को इसी ने पैदा किया। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विशं ससर्जाथ च शौद्रवर्णं धर्म्मं तु सत्यं स ततः ससर्ज ।
क्षत्रस्य तत् क्षत्रमिहावलीयानाशंसते धर्म्मपरो बलिष्ठम्" ॥३३॥

जिस प्रकार से ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य एवं शुद्र–यह चारों वर्ण जिस तरह से व्यवस्थित हैं–तद्वत्-इनका जो धर्म्म है–वह भी व्यवस्थित होने से सत्य स्वरूप ही है । इस वर्णाश्रमस्वरूप सत्यधर्म्म से कोई भी वर्ण कभी भी नहीं च्युत होता है । बस, इसी नियति से चातुर्वर्ण्यव्यवस्था से सारा संसार सुरक्षितरूपेण व्यवस्थित है । अर्थात्–चातुर्वर्ण्यस्वरूप स्वस्वधर्म्म के पालन से ही सारे संसार की व्यवस्था व्यवस्थितरूप से चल रही है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ब्रह्माथ च क्षत्रमथो विडेवं शूद्रश्च धर्म्मोस्ति तदस्ति सत्यम् ।
सत्यं न जातु च्यवते, नियत्या तथैष लोकः परिरक्षितोऽस्ति" ॥३४॥

देवताओं में जो ब्रह्मवीर्य्य वर्ण है–वह अग्नि समझना चाहिए । अर्थात् जो अग्निदेव हैं–वे ब्रह्मवीर्य्ययुक्त हैं एवं इस मनुष्यलोक में जो ब्राह्मणवर्ण है–उससे यह वीर्य्यगृहीत है । अर्थात् देवताओं में अग्नि ब्रह्मवीर्य्ययुक्त है एवं मनुष्यों में ब्राह्मण ब्रह्मवीर्य्यवान् है । एवं जो क्षत्रवीर्य्य है–वह देवताओं में १० लोकपालों में विभक्त है–एवं मनुष्यों में जो क्षत्रिय हैं–उनमें क्षात्रवीर्य्य है । अर्थात्–देवताओं में जो इन्द्र, वरुण, कुबेर, चन्द्रमा–इत्यादि जो १० लोकपाल हैं–उनमें क्षत्रवीर्य्य है एवं मनुष्यों में क्षत्रियवर्ण में यह वीर्य्य है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"देवेषु तु ब्रह्म तदग्निनाप्यं तद् ब्राह्मणेनात्र मनुष्यजाते ।
"क्षत्रं तु देवेष्वधिलोकपालं यः क्षत्रियस्तत्र मनुष्यजाते" ॥३५॥

अपि च–देवताओं में विश्वेदेव एवं मरुद्गण एवं रुद्र एवं जो द्वादश आदित्य हैं एवं जो आठ वसु हैं–उनमें विड्वीर्य्य विद्यमान है एवं मनुष्य में जो वैश्यवर्ण है–उसमें भी विड्वीर्य्य विद्यमान है एवं देवताओं में जो पूषादेवता है–उसमें शूद्रवर्णत्व मौजूद है एवं मनुष्यों में जो-जो साधारण (वीर्य्यरहित) मनुष्य हैं–उनमें शूद्रवर्ण विद्यमान है । कहने का तात्पर्य्य यही है कि आधिदैविकमण्डल में एवं आधिभौतिक जगत् में यह वीर्य्य व्यवस्थितरूपेण व्यवस्थित हो रहे हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ये विश्वदेवा मरुतश्च रुद्रा अथादितेया वसवश्च देवाः ।
विट् तेषु वैश्येषु मनुष्यजाते शूद्रस्तु पूषेयमथो मनुष्यः" ॥३६॥

इस प्रकार से जिस वर्ण का जो धर्म्म है एवं जो-जो उस धर्म्म का धर्म्मी (अग्नि, लोकपाल, मरुद्गण-पूषा) देवता हैं एवं जो इन देवताओं के अग्नि आदि लोक हैं–उनको विना पहचाने ही यदि

कोई मनुष्य यहाँ से प्रयाण (देहत्याग) करता है-वह उस अपने लोक को किंवा देवताओं को कथमपि प्राप्त नहीं कर सकता है। अपि तु, उसका जो बचा-खुचा पुण्य एवं महत्कर्म्म है-वह और नष्ट हो जाता है। अर्थात् जो मनुष्य अपनेपने को नहीं पहचानता है-वह उभयतो भ्रष्ट होकर लक्ष्यच्युत होता हुआ संसार-जाल में फँसा रहता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तत्तन्मनुष्यस्य सधर्म्मिदेवो लोकः स्व एतं यदि चेददृष्ट्वा ।
प्रेयात् स एनं न भुनक्त्यलब्धः पुण्यं महत्कर्म्म च हीयतेऽस्य" ॥३७॥

इसलिए इस दुर्गति से बचने के लिए नियमपूर्वक अपने-अपने देवता की उपासना अवश्य करनी चाहिए। ऐसा करने से इस आत्मा का जो प्राप्तव्यलोक है-वह कथमपि नष्ट नहीं हो सकता है। अर्थात् जो मनुष्य अपने-अपने अधिकारसिद्ध कर्म्मों का पालन करता हुआ तत्तद्देवता की उपासना करता है-वह जैसी-जैसी कामना करता है-उसकी वह सारी कामनाएँ प्रयाण करने पर सिद्ध हो जाती हैं। अर्थात् प्रयाण होने पर यह यथेच्छफल का भोग करता है, अतः प्रत्येक को अपनी मर्य्यादा से कभी भी च्युत नहीं होना चाहिए-इसी अभिप्राय से भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है—

"सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्" ॥[1]

इस प्रकार से इसी आत्मा से चूंकि सारे वर्णों की उत्पत्ति होती है, अतः हम कह सकते हैं कि सत्य केवल यही एक आत्मा किंवा पुरुष ही है-बाकी सब मिथ्या ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तस्मादुपासीत नियम्य लोकं ह्यात्मानमेवैष न हीयतेऽतः ।
यथा यथा कामयते स सर्वं तस्यात्मनः सिध्यति सृज्यमानम्" ॥३८॥

——※——

१०—आत्मनः सर्वभूतलोकत्वम् ।

आत्मा को ही सम्पूर्ण भूतादि का आश्रय बतलाना—

संसार के जितने भी भूत हैं-उन सबका आश्रय इसी आत्मा को समझना चाहिए। अर्थात्-यही आत्मा यावन्मात्र भूतों का आश्रय है। यदि यह आत्मा न रहे तो सारे भूतों की सर्वथा उच्छित्ति हो जाए। आधिदैविकमण्डल के पदार्थ हर समय हमारे पास आया करते हैं। इस प्रकार क्रमशः आकर के अपनत्व को छोडते हुए वे पृथिवी के प्रवर्ग्य बन जाते हैं। इस प्रकार से जब अधिक

१ गीता १८।४८।

मात्रा में वे देवता (पदार्थ) हमारे पास आ जाते हैं–तो वहाँ पर वे बल शून्य हो जाते हैं। बस, उस बल की कमी पूरी करने के लिए हम (आत्मा) यज्ञादि करते हुए अग्नि से उन-उन तिलादि पदार्थों में स्थित इन्द्रादि देवताओं का विशकलन कर उनको अपने स्थान में पहुँचाते रहते हैं। बस, जब हम याग द्वारा वह कमी पूरी कर देते हैं तो देवता फिर अपनी पूरी हालत में आ जाते हैं। तात्पर्य्य यह है कि यही आत्मा (पुरुष) जब यज्ञ करता है तभी उन देवताओं की स्थिति रहती है, अतः यज्ञादि करता हुआ यह आत्मा इन देवताओं का आश्रय (आधार) है–लोक है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सर्वेषां भूतानामप्ययमात्मैव लोक उपनेयः।
होमं यजनं कुर्वन् देवानामेष लोकोऽस्ति" ॥३९॥

जिस तरह से आधिदैविक पदार्थों को देवता कहते हैं–तद्वत् ही ज्ञान को वेद में 'ऋषि' कहते हैं, जिसको कि 'चित्सत्य' भी कहते हैं। जब यह आत्मा पठन-पाठन का काम करता है तो इससे ज्ञान की किंवा चित्सत्य की मात्रा बढती है। इस प्रकार से जब अनुवचन किया जाता है–तभी ज्ञान की सत्ता रहती है। यदि यह आत्मा (पुरुष) नहीं रहता तो क्या ज्ञान की स्थिति रह सकती थी? हर्गिज नहीं। इसलिए अनुवचन द्वारा यह आत्मा ज्ञान का भी (ऋषियों का) आश्रय बनता है। एवमेव, जब यह आत्मा पिण्डदान करता है एवं जब यही सन्तानोत्पत्ति करता है तो उसी से पितरों की स्थिति किंवा मोक्ष होती है अतः उपरोक्त दोनों कार्य्यों से यह पितरों का आश्रय बनता है। अपि च–जब कोई मनुष्य कहीं से भटकता आ जाता है तो यही आत्मा (पुरुष) इनको आश्रय देता है, एवं जब कोई भूखा मनुष्य आता है तो उसी को यह आत्मा भोजन देता है, अतः उभयथापि यह आत्मा मनुष्यों का भी आश्रय है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अनुवचनात् स ऋषीणां स पितॄणां पिण्डदानतः प्रजया।
वासयते स मनुष्यानशनं तेभ्यो ददाति तन्नॄणाम्" ॥४०॥

अपि च–यह आत्मा तृणजलादि इन पशुओं के लिए देता है–वह तृणादि उन पशुओं का होता हुआ उनकी स्थिति कायम करता है। यदि यह आत्मा (पुरुष) खेती न करता तो क्या घोड़ा-गाय इत्यादि पशु खेती करने जाते? हर्गिज नहीं, अतः यही आत्मा उन पशुओं का भी आश्रय है। अपि च–इसी आत्मा की कृपा से पैदा होने वाले तृण-जलादि से ही पक्षी-मक्खी-मच्छर कहाँ तक कहें चींटी आदि भी अपना निर्वाह करती है, अतः इन सबका यही आत्मा आश्रय है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा ने कहा है—

"यत्तु पशुभ्यस्तृणजलमुपदत्ते तत् पशूनां स्यात्।
उपजीवन्ति विहङ्गा माक्षिकमशकाः पिपीलिकाद्याश्च" ॥४१॥

जो कि हमने आत्मा बतलाया है वह चूँकि सम्पूर्ण लोको का आश्रय है, अतः इस आत्मा के लिए वे सारे ही आश्रितभूत अभिवृद्धि की आकांक्षा करते रहते हैं। अर्थात्–यह आत्मा यदि रहेगा तो हमारी भी स्थिति कायम रहेगी इसलिए सारे भूत हर समय इसका कल्याण चाहते रहते हैं। यह बात खोज करने से साफ मालूम हो जाती है, अतः आत्मा को पञ्चमहायज्ञ अवश्य ही करना चाहिए। इस प्रकार से देवता-ऋषि-पितर-मनुष्य-पशु-पक्षि सब का आश्रय यही आत्मा है–यह सिद्धान्त समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आत्मा यः खल्वेवं सर्वेषां लोक आश्रयोस्त्यस्मै।
भूतान्यरिष्टमिच्छन्त्यपेतम्मीमांसितं विदितम्" ॥४२॥

———

११–पाङ्क्तस्यात्मनः कात्स्र्न्यम्।

जो आत्मा है–उसकी पाङ्क्तत्वेन पूर्ति—

जिस आत्मा का हमने अब तक जिक्र किया है–सृष्टि के पहले यह आत्मा एक ही था, परन्तु जब यह सृष्टि के रूप में आ जाता है–बस, तभी इसमें ४ इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस आत्मा में मन, प्राण, वाक्–ये तीन पार्ट रहते हैं, अतएव इसको त्रैधातव्य कहा है और इसी अभिप्राय से–**स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः**–यह श्रुति भी कहती है। इसमें से जो मन है उससे इच्छा उत्पन्न होती है एवं प्राण से तप (क्रिया) होता है एवं वाक् से कर्म्म पैदा होता है वेद में आत्मा के उक्थ–अर्क और अशिति–ये तीन धर्म्म माने जाते हैं। इनमें से जो मन-प्राण एवं वाक् है–उनको उक्थ समझना चाहिए क्योंकि इच्छादि यहीं से उठती हैं (**यस्मादुत्तिष्ठति तदुक्थम्**) एवं जो इनमें इच्छादि उत्पन्न होती हैं–वे इनके अर्क कहलाते हैं एवं जब वह अर्क बाहर से पदार्थ लाकर आत्मा में डालते हैं तो उसे ही अशिति कहते हैं परन्तु यहाँ पर इतना अवश्य समझना चाहिए कि बिना ज्ञान के इच्छा नहीं होती एवं विना इच्छा के तप नहीं होता एवं विना तप के काम नहीं होता इसीलिए स्मृति कहती है—

**"ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या कृति (तप) र्भवेत्।
कृतिजन्यं भवेत् कर्म तदेतत् कृतमुच्यते" ॥**

प्रकृत में हमें बतलाना यह है कि यह जो आत्मा के इच्छा का पार्ट है–वह कुल ४ ही प्रकार का होता है अर्थात्–इस आत्मा में ४ ही प्रकार की इच्छाएँ हो सकती हैं। सबसे पहले उसकी इच्छा यही होती है कि मैं पूर्ण बनूं। अर्थात्–मेरा विवाह हो जाए। यह आत्मा चूंकि अर्द्धेन है, अतः यह अकेला रमण नहीं कर सकता। इसलिए अपनी तबियत बहलाने के लिए यह किसी दूसरे की इच्छा करता है इसीलिए श्रुति कहती है—

"एकाकी न रमते । स द्वितीयमैच्छत् पतिश्च पत्नी च" ।[1]

इस प्रकार इसकी यह पहली कामना है । दूसरी इसकी कामना है कि मेरे सन्तान हो अर्थात्–मैं बढ़ूं–जैसा कि श्रुति कहती है—

"एकोऽहं बहु स्याम्–इति"

तीसरी इसकी कामना है कि मेरे धन-दौलत खूब हो । जो भी इसकी यह इच्छा रहती है कि मैं जो कुछ करूँ–वह सुख प्राप्ति के लिए ही करूँ । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आत्मैष आसीदिदमग्र एकश्चत्वार एतस्य भवन्ति कामाः ।
स्त्री स्यात्, प्रजायेय, च वित्तमास्तां, कर्म्म प्रकुर्वीय शिवाय, चेति" ।।४३।।

बस, इस आत्मा की जो ये ४ इच्छाएँ हैं–वे ही साध्य होती हैं । इनसे अलावा यदि कोई ५वीं इच्छा करता है–वह कथापि सिद्ध नहीं हो सकती है । अर्थात् इन चारों को छोडकर अन्य ही जो इच्छा करता है–उसे मूर्ख समझना चाहिए । परन्तु जो पूर्वोक्त ४ इच्छाएँ हैं–उनमें से यदि एक की भी कमी हो तो–यह अपने को सर्वथा अधूरा ही समझा करता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा कहा है—

"इयान्नु कामोऽस्य हि साधनीयो नातः परं विन्दति वाञ्छयापि ।
एकैकमेषां तु न यावदाप्नोत्यकृत्स्नतां मन्यत एष तावत्" ।।४४।।

इन चारों कामनाओं को साथ में मिलाकर यह आत्मा पञ्चाङ्ग कहलाता है । वे पाँचों–ये हैं–'आत्मा, स्त्री, पुत्र, वित्त एवं कर्म्म'–बस, इन पाँचों से पाङ्क्तत्वस्वरूपयुक्त हो करके ही यह आत्मा अपने को पूर्णस्वरूपयुक्त माना करता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा ने कहा है—

"तैः सार्द्धमात्मा भवतीह कामैः पञ्चाङ्ग आत्मा वनिता प्रजा च ।
वित्तं च कर्म्मापि च पाङ्क्त एभि र्भूत्वा स आत्मा भवतीह कृत्स्नः" ।।४५।।

इस आत्मा का जो पाङ्क्तपना है–वह दो प्रकार का होता है । एक तो इस शरीर के अन्दर पाङ्क्तत्व होता है एवं एक शरीर के बाहर से पाङ्क्तत्व होता है । बस, आन्तर पाङ्क्तत्व एवं बाह्य-पाङ्क्तत्व को मिला करके ही इसका पूर्णस्वरूप बनता है । जो आन्तर पाङ्क्तत्व है–वह तो इस आत्मा के प्राणों से सम्बन्ध रखता है एवं जो बाह्य पाङ्क्तत्व है–वह अपनी आत्मा से अन्य किन्तु अपने से ही पैदा होने वाले जो वित्तादि हैं–उनसे सम्बन्ध रखता है । अर्थात्–दूसरा पाङ्क्तपना स्वप्रभव से प्रसिद्ध है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

१ बृहदा० उप० १।४।३ ।

"द्विधास्य पाङ्क्तत्वमदोऽन्तरन्यद् बहिस्तदन्यद् तदमुष्य कात्स्न्र्यम् ।
प्राणैस्तदस्यान्तरतो बहिर्धा त्वन्यात्मभिः स्वप्रभवैः प्रसिद्धम्" ॥४६॥

हमारे शरीर के भीतर मन, प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र एवं कर्म्म–ये ६ बाते रहती हैं–इनमें से जो मन है–उसे आत्मा समझना चाहिए एवं प्राण को प्रजा-पुत्र एवं वाक् को वनिता समझना चाहिए एवं जो प्रत्यक्ष में देखा है एवं परोक्ष बात को सुना है–उससे जो एक हमारे को सम्पत्ति प्राप्त होती है–उसे वित्त समझना चाहिए–जो कि चक्षु-श्रोत्र स्थानापन्न है एवं जो कुछ काम किया जाता है–वही इस आत्मा का कर्म्म समझना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

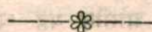
"आत्मा मनो, वाग् वनिता, प्रजा तु प्राणोऽस्य, चक्षुःश्रवणे तु वित्ते ।
दृष्टं त्विहामुत्र च तच्छ्रुतं स्यात्, कायोऽस्य कर्म्म क्रियते ततस्तत्" ॥४७॥

इस प्रकार से इन पाँचों को मिलाकर यह आत्मा पाङ्क्त कहलाता है । इसी प्रकार यज्ञ भी पाङ्क्त हैं एवं पुरुष भी पाङ्क्त एवं पशु भी पाङ्क्त रहता है । कहाँ तक कहें–संसार की जितनी भी वस्तुएँ हैं–वे सभी पाङ्क्त ही हैं, परन्तु जिन यज्ञादि को हमने पाङ्क्त बतलाया है–उनका भी पाङ्क्तत्व इस आत्मा को छोडकर नहीं है, अतः इस आत्मा को छोडकर के कुछ भी नहीं है–यह सिद्धान्त समझना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यज्ञः स पाङ्क्तः, पुरुषश्च पाङ्क्तः, पशुश्च पाङ्क्तोऽखिलमेव पाङ्क्तम् ।
पाङ्क्तः स आत्मैव तु सर्वमेतन्न चात्मनोऽस्ति व्यतिरिच्य किञ्चित्" ॥४८॥

अतएव शतपथ के १४वें काण्ड के तीसरे प्रपाठक के दूसरे ब्राह्मण में इस जीवात्मा को ही सारे विश्व-प्रपञ्च का कारण बतलाया है । चूँकि यह आत्मा पुरुष है, अतः हम कह सकते हैं कि संसार में सत्यस्वरूप केवल पुरुष ही है–बाकी सब मिथ्या ही है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"वाजिश्रुतौ पश्चिमकाण्डपाठे तार्तीयके ब्राह्मणकं द्वितीयम् ।
जीवात्मनोऽस्यैव समस्तविश्वप्रपञ्चबीजत्वमवोचदित्थम्" ॥४९॥



१२–एकात्मनः सृष्टिविधौ त्रिमूर्तित्वम् ।

सृष्टि रचना में एक ही आत्मा का त्रिमूर्त्तित्व स्थापन—

११वें सूत्र में हमने बतलाया था कि सृष्टि के पहले इस आत्मा के और कुछ न था । सर्व-प्रथम इस आत्मा ने इच्छा की कि मेरे स्त्री बनें, बाद में इच्छा कि मेरे प्रजा हो, मेरे धन हो, मेरे

पशु हों-गरज यह है कि इसी आत्मा से सारी सृष्टि का निर्म्माण हुआ है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है।

"आत्मैवेदमग्र आसीत्। एक एव सोऽकामयत जाया मे स्यात्"।[1]

इस प्रकार से इस आत्मा से सृष्टि पैदा होती है। अब यहाँ पर प्रश्न होता है कि आत्मा से जो यह सृष्टि पैदा हुई-उनका वास्तविक स्वरूप क्या है? क्योंकि पूर्व में जो पशु आदि की सृष्टि बतलाई है-तन्मात्र से ही सृष्टिविषयक जिज्ञासा पूरी नहीं हो सकती। तो बस, यहाँ से सर्वप्रथम सृष्टिनिरूपण करते हैं—

इस सृष्टि के तीन भेद होते हैं-क्षुद्रसृष्टि, खण्डसृष्टि एवं महासृष्टि। संसार में जो भिन्न-भिन्न भूतों की सृष्टि होती है-उसे शरीरसृष्टि कहते हैं और इसी को क्षुद्रसृष्टि भी कहते हैं। हम (जीव) एक अंकुर को जमीन में बो देते हैं-बाद में उसमें पानी दे कर उसे वृक्ष के रूप में परिणत कर देते हैं, एवमेव घर, बाग, बगीचा एवं नई सन्तानोत्पत्ति इत्यादि नाना प्रकार की जो भूतसृष्टि हम (जीव) पैदा करते हैं उसे ही क्षुद्रा-सृष्टि कहते हैं अर्थात्-जीव से जितने भूतादि उत्पन्न होते हैं-उसे ही क्षुद्रा-सृष्टि कहते हैं एवमेव सूर्य्यपिण्ड, चन्द्रपिण्ड, पृथिवीपिण्ड, पारमेष्ठ्यपिण्ड-इत्यादि जो अण्डसृष्टि है-उसे खण्डसृष्टि कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सृष्टिस्त्रिधा क्षुद्रतमाऽथ खण्डात्मिका महासृष्टिरिति प्रभेदात्।
एकैकभूतस्य शरीरसृष्टिः क्षुद्राण्डजन्म त्विह खण्डसृष्टिः" ॥५०॥

एवं ऐसे-ऐसे अनेक अण्डों को (सर्वसाधारण) मिलाकर के जो एक विश्वभाव का उदय है-अर्थात्-अनन्त ब्रह्माण्डों के मेल से जो एक **अखिलविश्व** का स्वरूप बनता है-उसे महासृष्टि कहते हैं। तात्पर्य्य यही है कि पृथिवी आदि पिण्डों के अन्तर्गत जो वृक्षादि की सृष्टि है-वह क्षुद्रसृष्टि कहलाती है एवमेव सूर्य्यपिण्ड में जो नक्षत्रादि सृष्टि है-वह भी क्षुद्रसृष्टि कहलाती है (इस सृष्टि को सूर्य्य निवासी जीव पैदा करते हैं), परन्तु जो इन सूर्य्यादि पिण्डों की सृष्टि है-वह खण्डसृष्टि कहलाती है। और ऐसे-ऐसे अनन्त सूर्य्य, अनन्त पृथिवी, अनन्त चन्द्रमा, अनन्त पारमेष्ठ्यादि पिण्डों का समूहात्मक जो एक विश्वभाव है-उसे ही महासृष्टि कहते हैं। बस, यह जो क्षुद्रसृष्टि, खण्डसृष्टि एवं महासृष्टि तीनों सृष्टियाँ हैं-इन तीनों को ही यह-**आत्मैवेदमग्र आसीत्**-यह श्रुति समान भाव से बतला रही अर्थात्-जो आत्मा ही सृष्टि बतलाई गई है-वह किसी व्यक्ति पर अर्थात्-सृष्टिविशेष पर लागू न समझकर सर्वसाधारण्येन सामान्यतया तीनों ही सृष्टियों पर लागू समझना चाहिए। अर्थात्-उन्मुग्धरूपेण इस आत्मा से तीनों प्रकार की सृष्टियों की उत्पत्ति अभिप्रेत है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

---

१ शत० ब्रा० १४।४।२।३०।

"सर्वाण्डसाधारण विश्वभावोदयो महासृष्टिरिति प्रतीयात् ।
तिस्रस्तु ताः सृष्टिविधा इयं हि श्रुतिः समानं विषयीकरोति ॥५१॥

इन तीनों सृष्टियों में से जो अनन्त ब्रह्माण्डयुक्त अखिल विश्वात्मक जो एक आदि सृष्टि किंवा महासृष्टि बतलाई थी–वह आदिसृष्टि परमेश्वर से उत्पन्न होती है अर्थात्–सर्वात्मना जो अनन्त ब्रह्माण्ड हैं–उनकी जो सृष्टि है अर्थात्–अनेक ईश्वरीयसृष्टि को मिलाकर के जो एक महासृष्टि है–उसके कर्त्ता परमेश्वर को समझना चाहिए एवं जो पञ्चपुण्डीरावल्शात्मिका स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी आदि की पिण्डात्मिका जो मध्यम श्रेणी की खण्डसृष्टि (अण्डसृष्टि) है–वह ईश्वर से उत्पन्न होती है। तात्पर्य्य यह है कि स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी–इन पाँच पिण्डों को मिलाकर के एक टहनी कहलाती है, अर्थात्–अश्वत्थवृक्षस्वरूप जो ईश्वर है–उस वृक्ष की पञ्चपुण्डीरात्मिका जो एक बल्शा (टहनी) है–उसमें ये पाँचों पिण्ड होते हैं। ऐसी-ऐसी अनन्त टहनियों को अर्थात्–कई स्वयम्भू आदि की समष्टि को मिलाकर के एक ईश्वर का स्वरूप बनता है। तो बस, स्वयम्भू आदि पिण्ड चूंकि ईश्वराश्वत्थ की एक-एक टहनी है, अतः उस अण्डसृष्टि को हम ईश्वर से उत्पन्न हुई बतला सकते हैं। इसी अश्वत्थ ईश्वर के लिए गीता कहती है—

"ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्" ॥[1]

अपि च—

"यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्टत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" ॥[2]

—इत्यादि श्रुतिएँ उसी ईश्वराश्वत्थ का वर्णन कर रही हैं। अस्तु, प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि जो पञ्चपुण्डीरात्मिका अनन्तपिण्डयुक्ता सृष्टि का (खण्डसृष्टि का) कर्त्ता है–उसे हम ईश्वर कहते हैं अर्थात्–खण्डसृष्टि ईश्वर से होती है एवमेव यह जो क्षुद्रजीव (अस्मदादि) हैं–उनसे जो वृक्ष, नदी, तालाब-विमान, बेलून, नौका, मकान, वस्त्र, सन्तान–इत्यादि नाना भौतिक सृष्टियाँ होती हैं–उससे ही क्षुद्रसृष्टि किंवा विसृष्टि (विकृतसृष्टि) उत्पन्न होती है। तात्पर्य्य यही है कि सूर्य्य, पृथिवी, चान्द्र–इत्यादि मण्डलों में जो हम नाना प्रकार सृष्टि देखते हैं–वे सब तत्तन्मण्डलों में निवास करने वाले सौम्यपार्थिवादि जीवों से होती है–बस, इसे ही क्षुद्रसृष्टि कहते हैं। इस प्रकार से इन तीनों ही सृष्टियों को यह श्रुति समानरूप से बतला रही है। अर्थात्–इस आत्मा से जो सृष्टि हुई है–इससे तीनों सृष्टियों का ही अभिप्राय समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

---

१ गीता १५।१। २ श्वेताश्वतरोप० ३।९।

"तत्रादिसृष्टिः परमेश्वरात् स्यात् तथेश्वरान्मध्यगताण्डसृष्टिः ।
क्षुद्रा तु जीवात् पुरुषाद्विसृष्टिः समानमेतान् श्रुतिराह सैषा" ।।५२।।

इस प्रकार से—**आत्मैवेदमग्र आसीत्**—इत्यादि सृष्टिविषयक श्रुति से इस आत्मा से सामान्यतया तीनों ही सृष्टि अभिप्रेत है इस मत का उपपादन कर इसका कई आचार्य्य खण्डन करते हैं—और वे बतलाते हैं कि—नहीं—इस आत्मा से तीनों सृष्टियाँ सर्वथा अभिप्रेत नहीं हैं—बस, इसी मत का उपपादन करते हैं। इस सृष्टि के पहले कुछ भी न था। केवल अन्धकार ही अन्धकार था। **असदेवमग्र आसीत्**। इसी अन्धकार को भगवान् मनु बतलाते हैं—

**"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः" ।।**[1]

तात्पर्य्य इसका यही है कि इस सृष्टि के पहले जगत् सर्वप्रथम अन्धकारमय था एवं वह किसी भी लक्षण से नहीं पहचाना जाने के कारण अलक्षण था, अतएव उसमें कुछ भी ऊहापोह नहीं हो सकता था एवं वह अविज्ञेय था एवं च—उस समय की स्थिति सर्वत्र सुषुप्ति के तुल्य थी। इस अन्धकारमय प्रलय के अनन्तर भगवान् स्वयम्भू जो कि अब तक अव्यक्तस्वरूप थे—इस जगत् को व्यक्त करते हुए एवं अन्धकार का नाश करते हुए एवं अपना गोलमण्डल बनाते हुए प्रकट हुए जो कि इन्द्रियाग्राह्य है एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म है एवं जो सर्वभूतमय (अर्थात्—अखिल चराचर जिनके अन्दर प्रविष्ट हैं) ऐसे अचिन्त्य भगवान् अपने आप ही प्रकट हुए। बस, इन स्वयम्भू भगवान् ने पैदा होकर नाना प्रकार की सृष्टियों को पैदा करने की इच्छा से—**पानी पैदा हो**—ऐसा ध्यान कर सर्वप्रथम पानी ही पैदा किया अर्थात्—उनके ध्यान करते ही पानी पैदा हो गया। उस पानी के मण्डल में सर्वप्रथम स्वयम्भू भगवान् ने बीज-वपन किया। बस, यह बीजरूप पीला अण्ड हजार सूर्य्य किरणों के माफिक चमकदार बन गया। बस, अण्ड में सर्वलोक पितामह भगवान् ब्रह्मा ने स्वयं जन्म लिया अर्थात्—आप ही खुद उस अण्डरूप से पैदा हुए।

तात्पर्य्य इनका यही है कि सर्वप्रथम एकप्राणात्मक तत्त्व था। जिसमें प्राण होता है—वह पदार्थ सत् कहलाता है। चूंकि **सामान्ये सामान्याभावः**—इस नियमानुसार प्राण में प्राण नहीं रहता—इसलिए प्राण को असत् कहते हैं। बस, वही असत् अर्थात् प्राण सर्वप्रथम व्यापकरूपेण विद्यमान था। जिसको असत्रूपेण किंवा अभावरूपेण किंवा तमरूपेण बतलाया गया है। इसी असत्-प्राण के अभिप्राय से श्रुति कहती है—

---

१ मनुस्मृति १।५ ।

"असद्वाऽइदमग्रऽआसीत् । तदाहुः किं तदसदासीदिति । ऋषयो वाव तेऽग्रेऽस-दासीत्तदाहुः के ते ऋषय–इति । प्राणा वा ऋषयः"–इति ।।[1]

तो बस, ऐसे-ऐसे भिन्न-भिन्न जातीय मौलिक प्राणों का जब परस्पर संघर्ष हुआ तो उससे सर्व-प्रथम एक वर्त्तुलाकार प्राणमय स्वयम्भूमण्डल बना । फिर जब इस मण्डल में प्राणों का संघर्ष हुआ तो उस रगड़क से पानी पैदा हो गया–जिसको परमेष्ठिमण्डल कहते हैं एवं जब पानी पानी का संघर्ष हुआ तो उससे आग पैदा हो गई–यह पानी अम्भरूप अर्थात् वायुस्वरूप समझना चाहिए । तो बस, इस अम्भोवायुस्वरूप पानी की रगड़ से जो आग पैदा हुई–वह धीरे-धीरे पिण्ड के स्वरूप में परिणत होती हुई–उस पानी के (परमेष्ठी) मण्डल के बीच में ठहर गई–बस, इसी अग्नि पिण्ड को हिरण्मय सूर्य्य भगवान् कहते हैं । तदनन्तर इसी कूर्म्म भगवान् से ऋग्–यजुः-सामादि द्वारा आगे की सृष्टि का निर्म्माण हुआ । तो बस, यह इस हिरण्मय पिण्ड को अपने गर्भ में धारण करने वाले सम्पूर्ण भूतों के पति सर्वप्रथम विराट् नाम के हिरण्यगर्भ भगवान् पैदा हुए । इसी सृष्टि क्रम को भगवती श्रुति बतलाती है—

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम" ।।[2]

हमने हमारे शरीर में प्रधानरूपेण वैश्वानरात्मा, प्राज्ञ और तैजस–ये तीन आत्मा बतलाए हैं । इन तीनों में से जो वैश्वानर है–उसे अग्नि समझना चाहिए अर्थात् हमारे शरीर में जो अग्नि से आत्मा बनता है–उसे वैश्वानरात्मा कहते हैं एवं जो तैजस है–वह वायु से बनता है एवं जो प्राज्ञ है–वह इन्द्र-सम्बन्धी समझना चाहिए–बस, इन्हीं तीनों से हमारी सत्ता रहती है । ये तीनों ही ईश्वर के शरीर में भी रहते हैं–जिसको हमने हमारे शरीर में वैश्वानरात्मा बतलाया है–वह ईश्वर के शरीर में 'विराट्' नाम से व्यवहृत होता है एवं जो तैजस है–उसे ही हिरण्यगर्भ ही कहते हैं एवं जो प्राज्ञ है–उसे वहाँ सर्वज्ञ कहते हैं । तात्पर्य्य इसका यही है कि उसी ईश्वर में से कुछ थोड़ा थोड़ा हिस्सा आकर हमारे में वैश्वानरादि नाम में परिणत हो जाते हैं । तात्पर्य्य यही है कि अग्नि, वायु, इन्द्र–यह हिरण्यगर्भ भगवान् सर्वप्रथम पैदा हुए एवं इन्होंने अग्नि, वायु, आदित्य द्वारा ऋग्–यजुः–सामलक्षण वेदों को उत्पन्न किया जैसा कि मनु महाराज कहते हैं—

"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्" ।।[3]

१ शत० ब्रा० ६।१।१।१ । २ ऋग्वेद म० १०।१२१।१ ।
३ मनुस्मृति १।२३ ।

इस प्रकार से उन असत्स्वरूप प्राणों से सर्वप्रथम जो हिरण्यगर्भ विराड्ईश्वर हैं–वे शरीर धारण कर उत्पन्न हुए। यह हिरण्यगर्भ भगवान् सबसे पहले एक थे एवं पुरुषाकृति थे। तो बस, जब यह भगवान् अकेले रमण नहीं कर सके तो इन्होंने अपने आधेस्वरूप से स्त्री उत्पन्न की एवं आधे से पुरुष। अर्थात् जो एक जाति के पुरुषस्वरूप भगवान् स्वयम्भू थे–उन्होंने आधे से स्त्री प्राण पैदा किया एवं आधे से पुरुषप्राण पैदा किया–जैसा कि श्रुति कहती है—

"एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् पतिश्च पत्नी च"।[1]

इसी अभिप्राय से भगवान् मनु कहते हैं—

"द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः" ॥[2]

हमें प्रकृत में यह बतलाना है कि जो ईश्वर हिरण्यगर्भ भगवान् हैं–वे एक थे एवं जब अकेले रमण नहीं कर सके तो उन्होंने पत्नी और पति का विभाग कायम किया। परन्तु यह जीव ईश्वर की तरह एक न होकर अनन्त हैं–अपि च–ईश्वर ने अपने ही शरीर के स्त्री और पुरुषरूपेण दो खण्ड किए–यह बात जीव में सर्वथा लागू नहीं हो सकती, अतः–**आत्मैवेदमग्र आसीत्-एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् पतिश्च पत्नी च**–इत्यादि श्रुति जो जीव से पैदा होने वाली क्षुद्रसृष्टि है–उसको अपना विषय सर्वथा नहीं बनाती है। अर्थात् जो तुमने इस सृष्टिप्रकरणस्थ श्रुति को सामान्यतया तीनों सृष्टियों में लागू बतलाया था–वह सर्वथा असंगत है। क्योंकि इस श्रुति का तात्पर्य्य–उसी पर घटता है जो कि एक हो एवं जो अपने ही शरीर के खण्डों से पति-पत्नी का निर्म्माण करे। ऐसा केवल हिरण्यगर्भ भगवान् ईश्वर ही हैं, अतः यह श्रुति केवल खण्डसृष्टि को ही बतलाती है–न कि क्षुद्रसृष्टि को। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"हिरण्यगर्भः स विराड् य ईश्वरः स एव जज्ञे प्रथमः शरीरवान्।
स एक आसीत् पुरुषाकृतिः पुरा स्त्रीपुंसभेदास्तत एव जज्ञिरे" ॥५३॥

"जीवास्त एते बहवो न तेषां स्त्रीपुंसभेदौ तनुखण्डजातौ।
तस्माच्छ्रुतिर्नेयमितस्तु जीवादिमां विसृष्टिं विषयीकरोति" ॥५४॥

कदाचित् कहो कि अच्छा न सही–क्षुद्रसृष्टि पर यह श्रुति लागू, परन्तु परमेश्वर पर अर्थात् आदिसृष्टि पर तो यह लागू है। इसका भी खण्डन करते हैं। जो महेश्वर है–किंवा परमेश्वर है–वह

---

१ बृहदा० उप० १।४।३।

२ मनुस्मृति १।३२।

रसस्वरूपतया सर्वथा अपरिच्छिन्न है, अतएव वह अशरीरी है । बस, अपरिमितत्वेन ही न उसमें स्त्रीत्व है–न पुंस्त्व है–न नपुंसकत्व है एवं न उसमें कोई कामना है । जो परिच्छिन्न होता है–इच्छा उसमें रहा करती है, चूंकि परमेश्वर सर्वथा अपरिच्छिन्न है एवं निर्विशेष है एवं अभयस्वरूप है । तो बस, जब परमेश्वर सर्वथा अपरिच्छिन्न एवं निर्विशेष है तो उसमें–**द्वितीयमैच्छत्**–यह श्रुति कैसे लागू हो सकती है । अर्थात्–श्रुति कहती है कि उसको इच्छा हुई । तो यह जो इच्छा का धर्म्म है–वह परिच्छिन्न में ही हुआ करता है–न कि अपरिच्छिन्न में भी । इसलिए यह श्रुति उस अपरिच्छिन्न स्त्री-पुंस्त्वादि भाव-रहित परमेश्वर को अपना विषय सर्वथा नहीं बनाती है । अब तक कहने का सारांश यह हुआ कि यह जो सृष्टि-विषयक श्रुति है–वह तीनों सृष्टियों का प्रतिपादन न कर केवल ईश्वरसृष्टि अर्थात् खण्ड-सृष्टि का ही प्रतिपादन करती है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"महेश्वरस्त्वप्रमितोस्त्यकायो न स्त्रीत्वपुंस्त्वे न च तस्य कामाः ।
स निर्विशेषोऽस्त्यभयोस्ति तस्मान्नैषा श्रुतिस्तद्विषयेति केचित्" ।।५५।।

परन्तु इन दोनों मतों का ही खण्डन कर श्री गुरुचरण तीसरे ही मत का स्थापन करते हैं—

हमारा जो आत्मा है–वह षोडशी कहलाता है–अर्थात्–आत्मा में 'आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक्–ये पाँच कलाएँ अव्यय की रहती हैं एवं ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम–ये पाँच कलाएँ अक्षर की रहती हैं एवं प्राण, आपः, वाक्, अन्नाद, अन्न–ये पाँच कलाएँ क्षर की रहती हैं–इस प्रकार से पञ्चदशकलोपेत तीन तो अव्यय, अक्षर एवं क्षर रहते हैं एवं १६वाँ एक परात्पर रहता है । इस प्रकार इन सोलहों को मिला करके हमारे आत्मा का स्वरूप बनता है । जब आत्मा मुक्त हो जाता है तो उसके ये सारे अव्ययादि उस ईश्वर के अव्ययादि में मिल जाते हैं–इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति" ।।[1]

अपि च–इसी अभिप्राय से भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" ।।[2]

---

१ मुण्डकोप० ३।२।७ । २ गीता १५।१६-१७ ।

इस प्रकार से इस षोडशी आत्मा में जिसका न देह से सम्बन्ध है एवं न जिसकी कोई इच्छा है–ऐसा जो एक १६वाँ परात्पर नाम का तत्त्व है–उसको तो सृष्टि से पृथक् ही समझना चाहिए। बाकी के अव्यय, अक्षर एवं क्षर–इन तीनों को श्रुति बतलाती है। बस, उपरोक्त **द्वितीयमैच्छत्**–इत्यादि सृष्टि-विषयक श्रुति इन तीनों को समानरूपेण अपना विषय बनाती है। तात्पर्य्य यही है कि जो बाहर की सृष्टि है–उससे यह श्रुति कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखती। किन्तु यह तो हमारे आत्मा में स्थित जो परमेश्वर (अव्यय), ईश्वर (अक्षर) एवं जीव (क्षर) है–उसी का वर्णन करती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"न यस्य देहो न च यस्य कामः परात्परः कोऽपि स वै पृथक् स्यात्।
यांस्त्वब्रुवंस्त्रीन् पुरुषानियं तान् श्रुतिः समानं विषयीकरोति" ।।५६।।

इसी का स्पष्टीकरण कर देते हैं—

जिसको हमने क्षर बतलाया है–उसे जीव समझना चाहिए एवं जिसको अक्षर बतलाया है–उसे ईश्वर समझना चाहिए एवं जो तीसरा अव्यय बतलाया है–ये ही परमेश्वर हैं। ये तीनों ही मिलित-स्वरूप से चूँकि शरीर धारण करते हैं एवं इन्हीं में से नई-नई इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं एवं ये ही चाहते हैं कि हमारे स्त्री हो, हमारे पुत्र हो। अतः–**एक एव सोऽकामयत जाया मे स्यात्**–इत्यादि सृष्टिविषयक श्रुति समानरूपेण शरीरस्थित जीव–ईश्वर–परमेश्वर पर ही लागू होती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"क्षरस्तु जीवोऽक्षर ईश्वरोऽयं यस्त्वव्ययोऽन्यः परमेश्वरः सः।
त्रयोऽपि देहं दधते च कामानियं श्रुतिस्तद्विषया समं स्यात्" ।।५७।।

यद्यपि यह सृष्टिविषयक श्रुति साम्येन तीनों का वर्णन कर रही है तथापि किसी पुरुष में यदि कोई बात लागू न हो तो उसमें विरोध न समझ कर उस बात को दूसरे पुरुष में ले जाना चाहिए। क्योंकि श्रुति तीनों को मिला करके तीनों का उन्मुग्धरूपेण वर्णन कर रही है। तात्पर्य्य इसका यही है कि जब तुम इस सृष्टिविषयक श्रुति को जीवात्मा पर ही लागू समझोगे तो उसमें श्रुतियों का परस्पर विरोध होगा। क्योंकि एक जगह श्रुति–**एतदालम्बनं श्रेष्ठ०**–इससे आत्मा को संसार का आलम्बन बतला रही है एवं साथ ही में–**न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते०**–इत्यादि में उसको संसार से सर्वथा अलग कर रही है। परन्तु साथ ही में–**आत्मैवेदं सर्वम्**–इससे इसी आत्मा को संसाररूप बतलाया जाता है। इस प्रकार से जब जीवात्मा-परक ही यह सृष्टिविषयक श्रुति मान ली जाएगी तो इन श्रुतियों में परस्पर विरोध होगा–क्योंकि श्रुति बतलाती है आत्मा को सर्वथा निर्लेप एवं अकर्ता परन्तु यह जीवात्मा तो प्रत्यक्ष ही काम करता दिखलाई पड़ता है। इसलिए श्रुतिविरोधपरिहार के लिए इस श्रुति को उस व्यापक परमेश्वर-ईश्वर पर ही लागू समझना चाहिए–ऐसा करने से श्रुतियों का जब विषय-विभाग

हो जाएगा तो श्रुति-विरोध नहीं होगा। इसका उत्तर देते हैं कि भाई! इस श्रुति को जीवात्माविषयक मानने पर भी श्रुतियों में कोई विरोध नहीं होता। क्योंकि हमने प्रारम्भ ही में इस जीवात्मा को-अव्ययाक्षर-क्षरात्मक बतला दिया है, अतः इन तीनों में से जिस पर जिस श्रुति का सम्बन्ध है-उसका योग उसी के साथ कर देना चाहिए-जैसे श्रुति कहती है कि **न तस्य कार्य्यं करणं च०**-तो इसको जीवात्मा स्थित अव्यय-भाग पर लगा लेना चाहिए, क्योंकि यह अव्यय शरीर में रहता हुआ भी कार्य-कारणभाव से सर्वथा शून्य है एवं जहाँ-**आत्मैवेदं सर्वम्**-इस प्रकार से सबको आत्मा ही बतलाती है वहाँ क्षर पुरुष से ताल्लुक समझना चाहिए, क्योंकि इसी क्षरात्मा से ही तो सब कुछ बनता है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि चूँकि श्रुति उन्मुग्धत्वेन अव्ययाक्षरक्षर-तीनों का ही प्रतिपादन करती है, अतः जहाँ पर जो श्रुति घटती हो उसका योग वहीं पर कर विरोध-परिहार कर लेना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"साम्येऽपि तच्छ्रुत्युदितं न यावत् संभाव्यतेऽस्मिन् पुरुषे क्व चापि।
तदन्यगं नेयमियं श्रुतिर्यत् त्रीनेकवत् तान् विषयीकरोति" ॥५८॥

अब यहाँ पर कई आक्षेप करते हैं कि यह जो आत्मसृष्टि श्रुति है वह तो केवल क्षुद्रसृष्टि विषयक ही है, क्योंकि ईश्वर और परमेश्वर तो सर्वथा निर्लेप ही हैं, अतः उनको सृष्टि के प्रवाह में लेना सर्वथा अनुचित ही है। उनका ऐसा कहना हमारे हिसाब से सर्वथा भ्रान्तिमूलक है। क्योंकि केवल क्षुद्रसृष्टि विषयकपरक ही यदि इस श्रुति को माना जाएगा तो सबसे बडा भारी दोष तो इसमें यही आएगा जो श्रुति एकात्मा हिरण्यगर्भ भगवान् का स्त्री और पुरुष दो भेदों में परिणत होना बतलाती है-वह सर्वथा असंगत होगा। क्योंकि जब जीवपरक ही सृष्टि मानी जाएगी तो जीवानन्त्यात् एक ही से पति और पत्नी हुए-श्रुति का यह कहना नितान्त असंगत होगा, अतः केवल क्षुद्रसृष्टिपरक ही यह श्रुति है-यह कहना सर्वथा असंगत है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"क्षुद्रैव सृष्टिर्विषयो न चान्ये इत्येवमन्ये प्रतियन्ति तन्न।
एकात्मनः स्त्रीपुरुषौ विभागौ न क्षुद्रसृष्टौ भवतः प्रतीतौ" ॥५९॥

अब यहाँ पर प्रश्न होता है कि ठीक है हमने माना कि केवल क्षुद्रसृष्टि ही से इस श्रुति का तात्पर्य्य नहीं है-अपि तु, ईश्वरसृष्टि से भी है, परन्तु हम उन ईश्वरसृष्टि-वादियों से पूछते हैं कि यदि ईश्वर भी सृष्टि के अन्तर्गत है तो उसके भी हमारे जैसे कान-नाक-आँख-मुँह वगैरह होना चाहिए-परन्तु श्रुति-**न तस्य कार्यं करणं च विद्यते**-इत्यादि श्रुति से तो सर्वथा उसमें जीव के विरुद्ध लक्षण पाए जाते हैं, अतः जब श्रुति ईश्वर को जीवस्वरूप से सर्वथा भिन्न मान रही है तो हम कैसे ईश्वर को सृष्टि के अन्तर्गत मान सकते हैं? इसलिए श्रुतिविरोधात् यह श्रुति केवल क्षुद्रसृष्टि का ही प्रतिपादन करती है-यही समझना चाहिए। इसी का उत्तर देते हैं—

तुम्हारे कहने का तात्पर्य्य यही है कि यदि ईश्वर भी सृष्टि के अन्दर आ जाएगा तो उसमें भी कान-नाक-आँख-मुँह इत्यादि शरीर की कल्पना करनी पड़ेगी। चूंकि ईश्वर ऐसा नहीं है, अतः यह श्रुति केवल क्षुद्रसृष्टि को ही बतलाती है। सबसे पहले यह आँख–नाक वगैरह क्या हैं? इसका विचार करना आवश्यक है। हमारे शरीर में एक आलोम और आनखाग्र (तक) वैश्वानराग्नि रहती है–यह वैश्वानराग्नि शरीर में से छह रास्ते बनाकर हमारे शरीर में से हरवख्त निकलता रहता है–जहाँ पर विकृतरुधिर जमा हो जाता है–बस, वहीं वह खून लोम बन जाता है–चूंकि २ हाथ, २ पाँव, गुदा एवं एक मुँह–इन जगहों में से अग्नि निकलता हुआ हरवख्त खून को साफ करता रहता है, अतः इन स्थानों में विकृतरुधिराभाव के कारण बाल नहीं होने पाते। कहने का तात्पर्य्य यही है कि यह जो हमारे हाथ–पैरों का अवयव संस्थान है–वह इस वैश्वानराग्नि के निकलने का द्वार है। इसी का स्पष्टीकरण करते हैं–हाथ, पैर, मुँह एवं गुदा से लोमों को नष्ट करने के लिए जो अग्नि का फैलाव (तत्तदिन्द्रियों में) होता है–वह क्षुद्रसृष्टियों में स्पष्ट ही प्रतीत हो रहा है। अर्थात् अस्मदादि के शरीर में लोमरहित पूर्वोक्त स्थानों को हम प्रत्यक्ष में ही देख रहे हैं। एवमेव इसी अग्न्यादि के कारण वाक्, प्राण, चक्षु एवं श्रोत्र–इत्यादि कार्य्य भी हम क्षुद्र जीवों में स्पष्ट ही देख रहे हैं। जैसा कि श्रुति कहती है—

"अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्"–इति ॥[1]

तो कहने का तात्पर्य्य यही है कि स्पर्शन, दर्शन, स्वाद, गमन–इत्यादि कार्य्यों से मनुष्य के शरीर का निर्म्माण त्वक्, चक्षु, रसना, पैर–इत्यादि भिन्न-भिन्न अवयव सन्निवेश से होता है अर्थात् आँख दूसरे स्थान में नियमित है, पैर अधोभाग में नियमित है, मुँह, आँख से नीचे स्थान में ही नियमित है इस तरह इन्हीं सन्निवेश के कारण एक प्रकार की आकृति जीवशरीर की बन जाती है। बस, इसी प्रकार से ईश्वर में भी चक्षु, श्रोत्रादि सारे धर्म्म विद्यमान हैं, फर्क इतना है, कि हमारी संस्थाएँ नियत रूप से हैं अर्थात् हम पीछे की तरफ की वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते एवं हम आँख से स्वाद नहीं ले सकते, परन्तु ईश्वर की ये सारी शक्तियाँ प्रत्येक अवयव में मौजूद हैं वह चाहे जहाँ से देख सकता है एव चाहे जहाँ से सुन सकता है वह प्रत्येक अवयव से चल सकता है। तात्पर्य्य यही है कि उसमें और हम में धर्म्म एक से ही हैं, परन्तु सामर्थ्य में तारतम्य है। वह सर्वशक्तिमान् है हम अल्पशक्ति वाले हैं अतः ईश्वर भी जीवधर्म्म साद्दश्यात् क्यों नहीं सृष्टि के अन्तर्गत हो सकता है। इस ईश्वर के सर्वत एकइन्द्रियसामर्थ्य का गीता भी प्रतिपादन करती है—

"सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति" ॥[2]

कदाचित् कहो कि नहीं साहब! मनुष्य शरीर जैसा अवयव-संस्थान जिसमें नहीं है–उसे हम सृष्टि के अन्तर्गत नहीं मान सकते तो हम आप से पूछेंगे कि अच्छा बतलाओ! साँप के टांगे कहाँ हैं?

१ ऐत० उप० २।४। २ गीता १३।१३।

एवं बगुले के हाथ कहाँ हैं ? एवं हाथी के सूड कैसे निकल रही है ? हिरण के सींग क्यों हैं ? क्या तुम इनको सृष्टि के बाहर बतलाओगे ? हर्गिज नहीं । तात्पर्य्य इसका यही है कि जिसमें वाक्प्राणादि धर्म्म हैं–यदि वे किसी संस्था से हों तो वही सृष्ट कहलाएगा, अतः जिस प्रकार से जीव सृष्टि के अन्तर्गत है–तद्वत् ही तद्धर्म्मावच्छिन्नत्वेन ईश्वर भी सृष्ट्यन्तर्गत ही समझना चाहिए, अतः ईश्वर में पुरुषाकृत्यभावात्-यह श्रुति लागू नहीं हो सकती–यह तुम्हारा कहना नितान्त भ्रान्त है । यह श्रुति सामान्यतया ईश्वर (अक्षर), परमेश्वर (अव्यय) एवं जीव (क्षर) इन तीनों को ही बतला रही है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यत् पाणिपादाननयोनितोऽग्ने र्निर्लोमतायै प्रथनं तदेतत् ।
तत् क्षुद्रसृष्टयामुपपद्यतेऽद्धा वाक्प्राणचक्षुःश्रुतिकर्म चापि" ॥६०॥

इस तरह से क्षुद्रसृष्टि का एवं महासृष्टि का (अर्थात्–अव्यय और क्षर का) सरलतया प्रतिपादन करती हुई यह श्रुति मध्यस्थित जो अण्डसृष्टि (खण्डसृष्टि) है–को भी अपना विषय बनाती है । इस प्रकार से यह तीनों प्रकार की ही सृष्टियाँ इस आत्मा की ही सृष्टि बतलाई गई हैं । तात्पर्य्य यही है कि प्रधानतया अक्षरस्वरूप ईश्वर (खण्ड) सृष्टि का वर्णन करती हुई यह श्रुति एक तरफ से महासृष्टि का एवं एकतरफ से क्षुद्रसृष्टि का प्रतिपादन करती हुई तीनों को एक साथ बतला रही है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"क्षुद्रां च सृष्टिं महतीं च सृष्टिं संगृह्णतीयं श्रुतिरञ्जसैव ।
मध्येऽण्डसृष्टिं विषयीकरोति त्रिधापि सोक्ताऽऽत्मन एव सृष्टिः" ॥६१॥

कईयों का खयाल है कि जो आदि सृष्टि (महासृष्टि) है–उसका कर्त्ता परमेश्वर ही है एवं मध्यसृष्टि (खण्ड) का कर्त्ता-ईश्वर ही है एवं क्षुद्रसृष्टि का कर्त्ता यह जीवात्मा ही है इस प्रकार से यह परमेश्वर-ईश्वर एवं जीव सर्वथा एक से एक भिन्न हैं न कभी जीव ईश्वर हो सकता है–न ईश्वर परमेश्वर हो सकता हैं–न परमेश्वर ईश्वर हो सकता है । इस प्रकार से जब ये तीनों ही परस्पर सर्वथा भिन्न हैं तो फिर ऐसी हालत में एक ही आत्मा से इन तीनों का मतलब कैसे निकल सकता है ? यह जो किसी का मत है–वह सर्वथा अविचारितरमणीय ही समझना चाहिए । वस्तुतः हमारे खयाल से इन तीनों को मिलाकर के आत्मा एक ही है अर्थात्–इन तीनों को मिलाकर के एक आत्मा बनता है–न कि आत्मा तीन हैं । इस प्रकार से जो ईश्वर परमेश्वर एवं जीव की सृष्टि करने वाला है–वह एक ही आत्मा है । तात्पर्य्य यही हुआ कि जिस ईश्वरादि को तुम जीवादि से भिन्न समझ रहे हो वह तुम्हारी सर्वथा भ्रान्ति है । वस्तुतः जो ईश्वर है–वही परमेश्वर है एवं जो परमेश्वर है–वही जीव है । अर्थात्–तीनों इसी आत्मा के स्वरूप हैं । इस प्रकार जबकि तीनों को मिलाकर आत्मा एक ही है तो फिर ईश्वर

अलग है एवं परमेश्वर भिन्न है एवं जीव भिन्न है–यह कहना सर्वथा भ्रान्त है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यत्वादिसृष्टौ परमेश्वरोऽयं मध्येण्डसृष्टौ त्वयमीश्वरोऽस्ति।
स्यात् क्षुद्रसृष्टौ तु स जीव आत्मेत्येवं विदुः केचन तन्न सम्यक्"॥६२॥

इस प्रकार से यह जो आत्मा है–वह यही मर्त्य जीवात्मा समझना चाहिए। यह जो मर्त्य आत्मा है–वह जीव है–न कि परमेश्वर अथवा ईश्वर। इसी जीवात्मा से परमेश्वर और ईश्वर का निर्म्माण होता है। अर्थात्–हमारे ही प्रत्यय से तो ईश्वर और परमेश्वर का स्वरूप बनता है–यदि हम (जीव) न हों तो फिर ईश्वर किंवा परमेश्वर की सत्ता में क्या प्रमाण है, अतः ईश्वर–परमेश्वरात्मक इसी जीवात्मा को समझना चाहिए। वस्तुतः जीव ही दोनों बने हुए हैं–इसका विवेचन विषदरूपेण 'प्रत्ययोपनिषद्' में कर दिया है–'अतस्तत्रैवद्रष्टव्यम्'। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आत्मैक एवास्ति न तु त्रयस्ते तिस्रोऽपि सृष्टीः कुरुते स एकः।
मर्त्यः स देहीति स जीव इष्टो न त्वीश्वरो वा परमेश्वरो वा"॥६३॥

पक्षी-पशु-कीट-पिपीलिका इत्यादि जो असंख्य प्राणि हैं जो कि मनुष्याकृति से सर्वथा भिन्न आकृति के हैं–वे भी जिस तरह जीव कहलाते हैं–तद्वत्-ईश्वर किंवा परमेश्वर भी मनुष्य से भिन्न-स्वरूप के होने पर भी जीव ही हैं। अर्थात्–कदाचित् कोई प्रश्न करें कि मनुष्याकृत्यभावात् ईश्वर जीव नहीं हो सकता। इसी का यह निराकरण है। हम देखते हैं कि कीटादि यद्यपि मनुष्याकृत्वबच्छिन्न नहीं हैं तथापि वे जीव ही कहलाते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पक्षी पशुः कीटपिपीलिकाद्या नराद् विरूपा अपि जीवसंज्ञाः।
तथेश्वरो वा परमेश्वरो वा नराद् विरूपोऽपि स जीव एव"॥६४॥

कदाचित् कहो कि साहब! इन कीटादि जीवों का तो हमें प्रत्यक्ष होता है, परन्तु ईश्वर का तो हम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, अतः प्रत्यक्षाभावात् ईश्वर को जीव मानने में कोई प्रमाण नहीं। इसी का उत्तर देते हैं–मनुष्य के शरीर में रुधिर-अस्थि-शुक्र एवं घ्राण वगैरह में असंख्य जीव यद्यपि निवास करते हैं तथापि हम उनको मुतलक नहीं देख सकते, परन्तु उनकी सत्ता अवश्य ही मानी जाती है। बस, तद्वत् ही केवल प्रत्यक्षाभाव से ईश्वर के जीवत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता। कदाचित कहो कि कीट का तो यन्त्र द्वारा प्रत्यक्ष हो जाता है–हम कहेंगे कि जिनकी दिव्य दृष्टि है–उन योगीश्वरों को उस दिव्य यन्त्र से ईश्वर का भी प्रत्यक्ष हो ही सकता है। अस्तु, प्रकृत में हमें बतलाना यही है कि जैसे हमारे शरीर में रुधिरादि में असंख्य जीव रहते हैं तद्वत् ईश्वर नाम के शरीर में मिट्टी-पानी-वायु-अग्नि

एवं अस्मदादि अनन्त जीव निवास करते हैं। इस प्रकार जैसे मनुष्य में अनन्त जीव निवास करते हैं–तद्वत् चूंकि ईश्वर में भी अनन्त अग्न्यादि जीव निवास करते हैं, अतः जीवधर्मसादृश्यात् यह ईश्वर जीव ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"मनुष्यदेहे रुधिरास्थिशुक्रव्रणादिजीवा हि यथा वसन्ति।
तथेश्वराख्यस्य तनौ मृदम्भोवाय्वग्निजीवा विविधा वयं स्मः" ॥६५॥

इसी प्रकार से जो हमने ईश्वर नाम का जीव बतलाया है। तदाकारविशिष्ट अन्यान्य ईश्वर जीवों की भी सत्ता अवश्य माननी ही पड़ेगी। क्योंकि जो परिच्छिन्न है वह एक नहीं हो सकता। यह जो अनन्त ईश्वर जीव हैं ये चूंकि महेश्वर (परमेश्वर) नामक के शरीर में प्रविष्ट हैं, अतः यह महेश्वर भी एक प्रकार का जीव ही है। बस, यह जो महेश्वर जीव है वह अनन्त ईश्वर जीवों को पैदा करता है एवं ईश्वर जीव अनन्त मनुष्यों को पैदा करता है एवं मनुष्य जीव अनन्त कीटादि को पैदा करता है। इस प्रकार से ईश्वर, परमेश्वर एवं जीव यह तीनों जीवत्वेन एक ही वस्तु समझनी चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

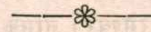
"त ईश्वराख्या अपि नूनमन्यान्याकारजीवा बहवः क्वचित् स्युः।
महेश्वराख्यस्य तनौ प्रविष्टा जीवो हि जीवान् जनयत्यनन्तान्" ॥६६॥

उस व्यापक परमेश्वर का यह ईश्वर एक अङ्गस्वरूप है एवं मैं इत्याकारक जो जीव हूँ–वह उस ईश्वर का एक अङ्ग हूँ एवं इस अहं जीव के फिर अन्यान्य कीटादि अङ्ग बनते हैं। इस प्रकार से वह मैं ही हूँ अर्थात्–जैसा वो है, वैसा (वही) मैं हूँ, अतः ईश्वर किंवा परमेश्वर भिन्न वस्तु सर्वथा नहीं है। तात्पर्य्य यही है कि मेरे शरीर का जो हाथ–एक अंग है–वह अहं का अर्थात्–जीव का भेद नहीं कहा जा सकता है। संसार में अङ्गों में कोई भी भिन्नता का व्यवहार नहीं करता है–अपि तु, हाथ भी मैं ही हूँ–पैर भी मैं हूँ इत्यादि शरीरावयवों में जिस प्रकार से अहं भेद नहीं होता–तद्वत् उसी परमेश्वर का एक अंग ईश्वर है एवं उसी ईश्वर का एक अंग चूंकि मैं हूँ, अतः मैं उससे (एक अहंभाव से) कैसे पृथक् हो सकता हूँ, अतः ईश्वर परमेश्वर किंवा जीव यह सब मैं ही हूँ। अर्थात्–मेरी ही आत्मा अव्यय–अक्षर एवं क्षर इन तीनों के मेल से बनी हुई है। इसमें से अव्यय को परमेश्वर कहते हैं एवं अक्षर को ईश्वर कहते हैं एवं क्षर को जीव कहते हैं। वस्तुतः ये तीनों एक ही आत्मा है–अतः आत्म-विषयकसृष्टिश्रुति तीनों का वर्णन एक साथ ही करती है। यह सिद्धान्त समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"महेश्वरस्येश्वर एकमङ्गं जीवोऽहमस्मीशितुरेकमङ्गम्।
अङ्गानि जीवस्य भवन्ति जीवाः सोऽहं तथाऽहं स न चेह नाना" ॥६७॥

जिस प्रकार से मैं मेरे में भावना करता हूँ–तद्वत् परमेश्वर भी अपनी ही आत्मा की भावना करता है । अर्थात्–मैं मेरी ही आत्मा को परमेश्वर किंवा ईश्वर समझता हूँ । जब कि सब कुछ मैं ही हूँ तो फिर मेरे से अलावा दूसरा कोई भी नहीं है । यही बात भगवान् कठ ऋषि कहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यद्वा यथा वा मयि भावयामि ध्रुवं तथा तत् परमेश्वरेऽपि ।
आत्मानमेवैतमतः स्वमेकं प्रतीक्षयेदाह कठस्तथर्षिः" ।।६८।।



१३–त्रिमूर्तेरेकत्वे जीवत्वे च प्रमाणभूता कठश्रुतिः ।

परमेश्वरेश्वर जीव के एकत्व में प्रमाणभूता कठश्रुति—

हमारे शरीर में महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा एवं चिदात्मा–ये चार आत्माएँ रहती हैं । इनमें से जो महानात्मा है–उसका वर्णन प्रथम श्रुति करती है–यह आत्मा बडे से बडा है एवं छोटे से छोटा है । अर्थात्–जिस प्रकार सूर्य्य का प्रतिबिम्ब जब एक चुल्लू भर पानी में भी आ जाता है एवं एक भरे हुए बडे पात्र में भी आता है–तद्वत् यह आत्मा बडे से बडे पात्र में भी आता है–तद्वत् यह आत्मा बडे से बडे इस विश्व में भी विश्वरूपेण व्यापक है, अतएव यह बडे से भी बडा है एवं छोटे से छोटे कीट में भी यह व्याप्त है अतः यह छोटे से भी छोटा है ऐसा जो यह आत्मा है–वह इस जन्तु के बस्तिगुहा-उदरगुहा-उरोगुहा एवं शिरोगुहा में बैठा हुआ है । इसको जो संसार की कामनाओं को छोड देता है एवं सारे शोक-मोहादि को छोड देता है–वही इस अपने ही आत्मज्ञान से इसे पहचानने में समर्थ होता है । जैसा कि कठ श्रुति ने कहा है—

"अणोरणीयान् महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः" ।।६९।।

यह जो आत्मा है–वह अशरीरी होता हुआ नाशवान् शरीरों में स्थिररूपेण बैठा हुआ है–अर्थात् शरीर के नष्ट होने पर भी जिसका स्वरूप नष्ट नहीं होता है–ऐसे व्यापक इस महानात्मा को पहचान कर मनुष्य शोक से मुक्त हो जाता है । जैसा कि श्रुति ने कहा है—

"अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति" ।।७०।।

अब महानात्मा, विज्ञानात्मा एवं प्रज्ञानात्मा–इनका साथसाक्ष्य ही वर्णन करते हैं। इन्द्रियों से परे अर्थ है एवं अर्थों से परे मन है एवं मन से परे यह (यह इन्द्रिएँ और मन दोनों प्रज्ञानात्मास्वरूप हैं) बुद्धि (विज्ञानात्मा) है एवं इस बुद्धि से परे महानात्मा है। इस तरह तीनों को बतलाकर अब अव्यय और अक्षर को बतलाते हैं–इनमें से जो अक्षरात्मा है–उसे ही अव्यक्तात्मा कहते हैं एवं अव्यय को चिदात्मा कहते हैं एवं इस अव्यक्त से परे पुरुष (अव्यय) है। बस, इस पुरुष (चिदात्मा) से आगे कुछ भी नहीं है। बस, अन्तिम गति इसी पुरुष को समझना चाहिए। जैसा कि श्रुति ने कहा है—

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धि र्बुद्धेरात्मा महान् परः" ॥७१॥
"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः" ॥७२॥

फिर इसी चिदात्मा के विषय में कहते हैं। संसार के सम्पूर्ण भूतों में चूंकि यह आत्मा अन्त-र्निहित है, अतः प्रकट रूप में–वह प्रतिभासित (प्रत्यक्ष का विषय) नहीं हो सकता। अपि तु, जो अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी विद्वान् हैं उनकी अत्यन्त सूक्ष्मदृष्टि से ही वह दिखलाई पड़ सकता है। जैसा कि श्रुति ने कहा है—

"एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रचया बुद्धचा सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" ॥७३॥

इस प्रकार से चिदात्मा का स्वरूप बतलाकर अब प्रज्ञानात्मा का स्वरूप बतलाते हैं—

सुख प्राप्ति के लिए जो कर्म्मभोक्ता आत्मा है–अर्थात् जो मीठे को (सुख-प्राप्त्यर्थ कर्म्म) कर्म्म को (मध्वद) भोगने वाला है–इस प्रज्ञानात्मा को जो मनुष्य अपने नजदीक में ही पहचान लेता है–जो कि प्रज्ञानात्मा भूत एवं भविष्य दोनों का मालिक है अर्थात् जो रुधिर, अस्थि आदि बच्चपने में रहती है–वह आदान-विसर्ग द्वारा बुढापे में सर्वथा दूसरी ही बदल जाती है–इस तरह भूत (बाल) शरीर का एवं भविष्य (वृद्ध) शरीर का दोनों का यही एक ही मालिक है–तो बस, जो इसके इस नित्यस्वरूप को पहचान जाता है–वह किसी से भी घृणा नहीं करता है। क्योंकि वह समझ लेता है कि सबमें यही एक स्वरूप वाला ही तो प्रज्ञानात्मा है–फिर मैं घृणा किससे करूँ। जैसा कि श्रुति ने कहा है—

"य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते" ॥७४॥

यह जो आत्मा है-पुरुष है-वह अंगुष्ठमात्र का होकर शरीर-आत्मा में अपनी स्थिति कायम करता है। अर्थात्-प्रत्येक प्राणि में अपनी-अपनी प्रातिस्विक अंगूठे की नाप का यह पुरुष सम्पूर्ण शरीर में तन जाता है। यह भूत और भव्य का मालिक है-बस, जो इसको ऐसा समझ लेता है-वह किसी से घृणा नहीं करता है। जैसा कि श्रुति ने कहा है—

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते" ।।७५।।

फिर उसी का वर्णन करते हैं-वह जो अंगुष्ठमात्र पुरुष है-वह विना धूंआं ही ज्योति के माफिक है। अर्थात् जैसे आग में तपा हुआ अंगार होता है-ठीक वैसा ही स्वरूप इस आत्मा का है। यह जो भूत और भव्य का स्वामी आत्मा है-वही आज है-और वही कल है। अर्थात् संसार में चूंकि वह व्यापक-रूपेण विद्यमान है, अतएव न उसका आदि है एवं न उसका अन्त है। हमारे हृदय के पास एक तिलाकार ज्योति भगवान् याज्ञवल्क्य ने बतलाई है-सुषम्णा नाड़ी से जो सोमस्वरूप विज्ञानज्योति ब्रह्मरन्ध्र द्वारा कागले पर गिरती हुई इस हृदय स्थित तिलाकर आत्मा पर जब पड़ती है तो बस, वह तिल चमकने लगता है। बस, हमारे शरीर में जब तक वह चमका करती है-तब तक ही जिन्दगी रहती है। बस, इस ज्योति को ही प्रज्ञानात्मा कहते हैं। जैसा कि श्रुति ने कहा है—

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः" ।।७६।।

यह जो आत्मा है-वह आँख के लिए (प्रत्यक्ष के लिए) एक क्षणमात्र भी नहीं ठहरता है। अपि च-कोई भी नेत्रों से इसको कथमपि नहीं देख सकता। अपि तु-जो पराकाष्ठा के विद्वान् हैं-वे ही अपने मन से एवं हृदय से ही देख सकते हैं-अर्थात्-चाक्षुष प्रत्यक्ष तो वे भी नहीं कर सकते। बस, इसके असली स्वरूप को जो पहचान जाते हैं-वे अमृतत्व को प्राप्त करते है अर्थात्-मृत्युभय के भय से छूट जाते हैं। अर्थात् जो उस ब्रह्मरन्ध्र में गिरते हुए सोम को पहचान जाते हैं-वे उसके द्वारा कभी जरा-मृत्यु को प्राप्त नहीं होते हैं। जैसा कि श्रुति ने कहा है—

"न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषी मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" ।।७७।।

इसका प्रत्यक्ष इन्द्रियों से क्यों नहीं होता है-इसका कारण बतलाते हैं—

भगवान् प्रजापति ने जितनी भी इन्द्रियाँ बनाई हैं-उन सबका रुख बाहर की तरफ रहता बनाया है। अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियों की रश्मियाँ बाहर की तरफ जाने वाली ही बनाई हैं। बस, इसी कारण से

अन्तस्तल में रहने वाला जो आत्मा है-उसको इन्द्रियों से नहीं देख सकते। क्योंकि उनकी रश्मियाँ वापस नहीं लौटती हैं। यदि कोई धीर पुरुष आत्मप्राप्ति की इच्छा करता हुआ सम्पूर्ण चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वार बन्द करके उसका प्रत्यक्ष कर सकता है। जैसा कि श्रुति ने कहा है—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" ॥७८॥

जिस प्रकार से बाहर के अनाज को बिखरा हुआ देखकर उसके लोभ से पक्षी जाल में फँस जाते हैं तद्वत् सांसारिक कार्य्यों में मृगतृष्णास्वरूप सुखों को प्राप्त करने की इच्छा से जो शास्त्रतत्त्वानभिज्ञ-मूढ (बाल) जन हैं-उन कामों की तरफ दौड़ते हैं। वे बाल मनुष्य जो मृत्यु का जाल बिछा हुआ है-उसमें जाकर बद्ध हो जाते हैं। जैसा कि श्रुति ने कहा है—

"पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते" ॥७९॥

परन्तु ठीक इसके विपरीत जो धीर एवं तत्त्वज्ञानी पुरुष हैं-वे उस अमृतत्व को पहचान कर जो नाशवान् पदार्थ हैं-उनमें आत्मभाव (ध्रुव भाव) को सर्वथा नहीं समझते हैं-अर्थात् नाशवानों को वे सर्वथा नाशवान् ही समझते हैं-न कि उनको आत्मस्वरूप। जैसा कि श्रुति ने कहा है—

"अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" ॥८०॥

जो कुछ तत्त्व इस पृथिवी पर है-वही उस द्यौ में भी है और जो कुछ वहाँ है-वही यहाँ पर भी है-अर्थात् वह एक ही तत्त्व सर्वत्र व्यापकरूपेण स्थित है। इस प्रकार से जो इस एक भाव को नाना करके समझता है-वह उस नाना मृत्यु के कारण मर्त्यभाव को ही प्राप्त होता है। अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से उसका कभी छुटकारा नहीं होता है। जैसा कि श्रुति ने कहा है—

"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" ॥८१॥

वह जो आत्मतत्त्व है-उसको मन द्वारा ही प्राप्त करना चाहिए। यह सिद्धान्त समझो कि संसार में जो तुम नाना करके समझ रहे हो-वह तुम्हारी सर्वथा मिथ्या भ्रान्ति है-वस्तुतः नाना कुछ भी नहीं है। तथापि जो नाना करके संसार को देखता है-वह मृत्यु के साथ मृत्युभाव को ही प्राप्त होता है। जैसा कि श्रुति ने कहा है—

"मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति" ॥८२॥

२ कान, २ आँख, २ नाक, १ मुँह, १ ब्रह्मरन्ध्र, १ गुदा, १ मूत्राशय, १ नाभि–इस प्रकार से ११ द्वारों का जो एक नगर (शरीर) है–उसको सर्वथा समीक्रिया करने के कारण अवक्रचेता जो अजात्मा (अव्यय) है–उसको प्रतिष्ठित समझकर जो उसको पूर्णतया पहचान जाता है–वह शोक से सर्वथा अलग हो जाता है एवं थोड़े ही समय में सारे बन्धनों से विमुक्त हो–वह बन्धन जाल से छूट जाता है। जैसा कि श्रुति ने कहा है—

"पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते" ॥८३॥

यह जो अव्ययस्वरूप चिदात्मा है–यह संसार का सबसे श्रेष्ठ आधार है एवं यही सबसे बडा आलम्बन है। बस, जो इस आलम्बनस्वरूप अव्यय को पहचान जाता है–वह सीधा ब्रह्मलोक में जाता है। जैसा कि श्रुति ने कहा है—

"एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते" ॥८४॥

मन, प्राण और वाक्–इन तीनों पर व्यासज्यवृत्त्याएकरूपेण आत्मा व्यापक रहता है–अर्थात् तीनों के मेल से ही आत्मा (पुरुष) का स्वरूप बनता है। चूंकि यह आत्मा-स्वरूप पुरुष सत्य है एवं यह एक ही है, अतः हम कह सकते हैं कि संसार में सत्य केवल 'पुरुष है' और सब मिथ्या है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"मनसि प्राणे वाचि व्यासज्यैकं यतोऽस्ति पुरुषत्वम् ।
पुरुषो यतोऽस्ति सत्यं तस्मात् सत्यं तदेकमिह सिद्धम्" ॥८५॥

॥ इति पुरुषैकसत्योपनिषत् (पञ्चमं पर्व) ॥

अथ

यज्ञैकसत्योपनिषत् (षष्ठं पर्व)

६

संशयतदुच्छेदवादमूलसंस्कृतपाठः—

अथ यज्ञैकसत्योपनिषत् ।

१–अन्योदरेऽन्याधानस्य यज्ञत्वम् ।

यदन्यदन्यत्र हुतं स यज्ञो यद् दृश्यते सर्वमिदं स यज्ञः ।
अन्योदरेऽन्यत्तु यदाहितं स्यात् तदन्नमत्तुर्लभते स्वरूपम् ॥१॥
यो ब्रह्मकर्म्मणोर्वा, जीवेश्वरयोस्तथास्ति यो यज्ञः ।
प्राणमनःकृतयज्ञो ज्ञानक्रिययोश्च तत्कृतं विश्वम् ॥२॥
यत्र यदेव हुतं स्यात् सम्पत्तिस्तस्य तेन रूपेण ।
अन्योन्यतो विकासस्तयोस्ततः संभवत्यनिशम् ॥३॥

२–ब्रह्मकर्मयज्ञः । [१]

ब्रह्मण्यकर्म्मणीदं कर्म्म हुतं तेन शाश्वतं विश्वम् ।
ब्रह्माकर्म्म च कर्म्मणि हुतमिति परिवर्ति विश्वमिदम् ॥१॥

३–जीवेश्वरयज्ञः । [२]

अथेश्वरे सन्ति हिता अशेषा जीवा अमी तेन च विश्वमेकम् ।
हुतश्च जीवेषु स ईश्वरो यद् भूतान्यनेकानि ततोऽत्र भान्ति ॥१॥
महेश्वरस्य प्रतिबिम्बभूता जीवाश्चिदाभासमया भवन्ति ।
इतीतरे किन्तु वदामि जीवेश्वरौ सदाऽन्योन्यविकासभूतौ ॥२॥

४–प्राणचातुर्विध्यम् ।

अस्तीश्वरोऽयं विभवन् समन्ताद् प्राणः सरस्वानिव स प्रपूर्णः ।
स्वभावभेदेन चतुर्विधोऽसौ चत्वार एकत्र समाहिताः स्युः ॥१॥
अणोरणीयानपि सर्वतोऽस्माज्ज्यायानसावस्ति बहुप्रभेदः ।
स्थूलोऽपि सूक्ष्मोऽपि चतुर्विधैस्तैश्चतुष्कलः सन् परितः प्रवृत्तः ॥२॥

परोरजा अग्निरथैष सोमश्चापश्च चत्वार इमे स्वभावात् ।

भेदाः स्युराद्यं मन आहुरन्त्यं वाचं तथा प्राण इतीतरौ द्वौ ॥३॥

५–मनःप्राणयज्ञः । [३]

अकर्म्म यत् तन्मन उच्यते यत्, कर्म्मास्ति स प्राण इहोदितोऽन्यः ।
प्राणो मनस्याहुत एवमेतत् प्राणे मनोऽप्यस्ति हुतं तदेकम् ॥१॥

६–प्राणवाग्यज्ञः सध्रेर्वैरूपस्य, घर्मस्य वा तापसस्य । [४]

✽ एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे ।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळिह स उ रेळिह मातरम् ॥१॥ (ऋ०मं० १०।११४।४)

७–मनोवाग्यज्ञो बह्वृचानाम् । [५]

प्राणे हुता वाग् लभते मनस्त्वं वाक्त्वं मनः प्राणहुतं क्रमेण ।
इत्थं मनो वागथ वाङ् मनः स्यात् पश्यत्यमुं यज्ञमिहैतरेयः ॥१॥

८–अन्नादान्नयज्ञः । [६]

तत्र प्राणोर्गन्नानामन्योन्यपरिग्रहस्य यज्ञत्वं वाजसनेयानाम् ।

विस्रंसते प्राण इह स्वभावतः प्राणे गते क्लिश्यति तत्सितं मनः ।
प्राणं पुनः स्रष्टुमिदं तु वाङ्मयं पीताशितं कामयतेऽन्नमाहृतम् ॥१॥
प्राणो द्विधा व्याप्रियते स केनचिद्भागेन विस्रस्य परेण युज्यते ।
अन्नं समाहारयते तु केनचिद्भागेन सोऽन्नं परिगृह्य तिष्ठति ॥२॥
गृहीतमन्नं द्विविधं प्रवर्तते प्राणस्तदुत्सादितसंमितं भवेत् ।
प्राणे तु विस्रस्तमनेन पूरयेद् भूयोऽन्नमस्मिन् जनयेद् विशेषिताम् ॥३॥
मनोहितं प्राणमधिष्ठितं वागासज्जते, नास्ति मिथो व्यपायः ।
वाचो विकाराः प्रभवन्ति शश्वत् पृथग्विधास्तांस्तु जहाति पश्चात् ॥४॥

✽ एक परन्द जो कि दरिया में घुसा था, वही इस तमाम दुनियां का निगराँ था ।
उसे मैं पाक दिल से पास देखा था, उसे मा चाटती वह माकुँ चाटता था ।।

सृष्ट्वा विसृष्टास्त इमे पदार्था अन्नं भवन्तीति तदन्नभोगात् ।
कश्चित् स वाक्प्राणमनोमयात्मा विलक्षणां सृष्टिमिहातनोति ॥५॥

अन्नं भवेद्गियमूर्क् तु सद्यः प्राणो भवेत् प्राण इहेतरे द्वे ।
ऊर्क् चेतरे अन्नमपीतरौ द्वौ धत्ते मिथः संग्रह एष यज्ञः ॥६॥

९–चित्त-वाचोरुत्तरोत्तरिक्रमस्य यज्ञत्वम् । [७]

चित्तस्य वाचः क्रम उत्तरोत्तरी यज्ञः स इत्याह तथैतरेयकः ।
वाचो भवेदात्मविशेष उद्गतस्तस्मिन् मनःप्राणवचोऽन्यदुद्भवेत् ॥१॥

सोमात् स्थितिः स्याद् गतिरग्नितः स्यादित्थं क्रिया प्राणवशेन सर्वा ।
ज्ञानं मनस्तोऽर्थकला तु वाचो ज्ञानक्रियार्था इदमस्ति विश्वम् ॥२॥

१०–ज्ञानक्रिया यज्ञः । [८]

क्रिया हि न ज्ञानविनाकृताः स्युर्ज्ञानं च नार्थग्रहकर्म्मशून्यम् ।
ज्ञानात् क्रिया ज्ञानमिदं क्रियातस्तदित्थमन्योन्यहुतेः स यज्ञः ॥१॥

* अर्थक्रियायज्ञः । [८ क]

अर्थाश्रयेणैव भृताः क्रियाः स्युः क्रियाश्रयेणैव भवन्ति तेऽर्थाः ।
अर्थे क्रियाऽर्थोऽपि हितः क्रियायामर्थक्रिया यज्ञ इति प्रदिष्टः ॥२॥

११–ज्ञानार्थयज्ञः । [९]

ज्ञानं न चार्थं ग्रहणाद् ऋते स्यादर्थोऽपि न ज्ञानविनाकृतः स्यात् ।
यदस्ति तद् भात्यथ भाति वा यत् तदस्ति स स्यादुपलब्धियज्ञः ॥१॥

१२–आत्मात्मीयत्वम् ।

यत्सत्तया यस्य परस्य सत्ता परस्य तस्याभिमतः स आत्मा ।
स एष वाक्प्राणमनोमयो वा चतुष्कलो वा पृथगेक आत्मा ॥१॥

तत्रापि नैकेन विनान्यदस्ति त्रीण्येक आत्मा पृथगात्मता च ।
वाक् प्राणतः प्राणततिर्मनस्तो नियुज्यमानैव करोति सृष्टिम् ॥२॥

---

* शुद्धिपत्रादुद्धृतः पाठः ।

उत्पद्यतेऽस्मादिह यच्च किञ्चित्, तदस्य देहं तत आवृतोऽयम् ।
देहस्य चात्मात्मन एष देहस्ताभ्यां विना क्वापि न किञ्चिदस्ति ॥३॥
देहस्य सर्गे मनसः प्रसङ्गाज्ज्ञानेन्द्रियाण्येव, क्रियेन्द्रियाणि ।
प्राणप्रसङ्गादथ, वाक्प्रसङ्गादर्थाः स्युरित्थं त्रयमेकदेहम् ॥४॥

१३—यज्ञस्यैवात्मत्वम् ।

आत्मा स एव त्वखिलस्य यज्ञः स व्यष्टियज्ञः स समष्टियज्ञः ।
यो विश्वयज्ञोऽस्ति विभुः स एको यज्ञा अनन्ता इह सन्ति जीवाः ॥१॥
आत्मातिरिक्तो यदि यज्ञतः स्यादात्मन्विनो जात्वपि नो मृतिः स्यात् ।
असङ्ग आत्मा स कथं नु देही देहात्कथं वा विचलेद् विभुश्चेत् ॥२॥
न चेत्कनीयान् न च वर्द्धते चेत् बालो युवा स स्थविरः कथं स्यात् ।
तस्मादखण्डैकरसोऽविनाशीत्यात्माभिमानोऽस्ति वृथा परेषाम् ॥३॥

१४—यज्ञस्यात्मनः कर्म्ममयत्वमन्नाश्रितत्वं च ।

यज्ञः पुनः कर्मयोऽयमात्मा सोऽन्नाश्रयस्तिष्ठति यावदन्नम् ।
तत् प्राणविस्रंसनमत्र पूर्वं पश्चादिहान्नाहरणं च नित्यम् ॥१॥
विस्रंसमानोऽग्निरिवान्नमाहुतं धत्ते ततोऽस्मिन् प्रतिधीयते पुनः ।
विस्रंसितो भौमरसः स दिव्यतो रसात् समायुज्य परोग्निरुद्भवेत् ॥२॥
तथैव देहेऽपि यदन्नमाहितं वैश्वानरस्य प्रतिधीयते ततः ।
विस्रंसितो भौमरसः स दिव्यतः संयुज्य वैश्वानर एव जायते ॥३॥
वैश्वानरोऽसौ पुरुषः शरीरं व्याप्नोति चालोमनखाग्रदेशम् ।
अनाहतः शब्द इहास्य घोषो देहे यदौष्ण्यं तु तदस्य दृष्टिः ॥४॥
स प्राणभृज्जीवति यावदौष्ण्यं वैश्वानरादौष्ण्यमुपैति देहे ।
वैश्वानरो यज्ञमयः स यज्ञः संपद्यतेऽन्नाहवनादिहाग्नौ ॥५॥
स तायते चाहरहस्तु यज्ञः, संतिष्ठते चाहरहः स यज्ञः ।
स स्वर्गगत्यै तमिमं च युङ्क्ते, स्वर्गं ततः सोहरहः प्रयाति ॥६॥

(शत० ब्रा० ६।४।४।१५)

न प्राणविस्रंसनमस्ति यस्मिन् भोक्तुं समीहेत न चान्नमेतत् ।
अनाहुतेऽन्ने तु न यज्ञसिद्धिर्यज्ञं विना नाग्निरयं न वौष्ण्यम् ॥७॥
तत्प्राणविस्रंसनकर्म्मणोऽस्मिन् क्रमेण वृद्धिविवरानुवृद्धेः ।
अल्पत्वमन्नाहरणेऽस्ति तद्वत् क्रमेण तत्प्राणबलापकर्षात् ॥८॥

प्राणाल्पविस्रंसनतोऽधिकान्नोपादानतो बालशरीरवृद्धिः ।
प्राणाधिकस्रंसनतः कनीयोऽन्नादानतस्तत्र जरामृती स्तः ॥६॥

१५–यज्ञात्मनः कोशचतुष्ट्वम् ।

बुद्धिर्मनोऽर्थाः पुनरिन्द्रियाणि कोशा इमे स्युः पुरूषस्य रूपम् ।
परोरजाः प्राण इदं मनो धीः, प्राणोऽग्निसोमाभिहितो मनोऽन्यत् ॥१॥

वाक् प्राण आप्योऽर्थगणस्तथैवेन्द्रियद्वयान्नप्रचयाश्च कोशाः ।
कोशैश्चतुर्भिः प्रविभक्तदेहो यज्ञः स आत्मा पुरुषोऽयमुक्तः ॥२॥

१६–आत्मनः पञ्चवर्गाः ।

तथाविधास्ते प्रचरन्त्यनन्ताः परस्परेण व्यतिरिक्तसत्ताः ।
तेषां च वर्गा इह पञ्च क्लृप्ता वड़ोत्तराः* पूर्वविकारयोगात् ॥१॥

इङ्गं च जीवः पृथिवी च सूर्यो महेश्वरः पञ्चविधा इतीत्थम् ।
स्युः पूरुषास्ते निगिलत्यमीषां परः परः पूर्वविसृष्टमर्थम् ॥२॥
सर्वेषु वाक्प्राणमनोमयत्वात् साधर्म्यमिच्छन्ति विधर्मितां च ।
पूर्वात्मसंत्यक्तविकारभोगाद् वागन्यसर्गादुपसर्गभेदात् ॥३॥

१७–इङ्गात्मा । [१]

प्राणस्तदिङ्गस्य भुनक्ति वेदान् महेशवाग् निःश्वसितांस्तदूर्क् स्यात् ।
इङ्गस्थवाचो विकृतौ प्रहीणे प्राणे तदूर्जा पुनरेष सिद्ध्येत् ॥१॥
इङ्गस्य वाक् प्राणहिता प्रसूते भूतानि शश्वत् क्रममाणकर्मा ।
खवायुतेजोजलमृत्तिकाख्यान्येतानि हीङ्गं परिवेष्ट्य तस्थुः ॥२॥
कालेन पश्चात् त्यजति स्वभावादात्मा स्ववाचः प्रसवान् समस्तान् ।
त्यक्तानि भूतानि तु तानि पश्चादन्योऽयमात्मा ग्रसति स्वभावात् ॥३॥
भूतानि भुङ्क्ते तु य एष आत्मा भूतोपसृष्टः स हि जीव उक्तः ।
महांस्तदिङ्गात्मन एष आत्मा संपद्यते संप्रति भूतयोगात् ॥४॥

---

* वड्=बडा । "बड़ोरु विपुले" "पीनपीव्नी तु स्थूलपीवरे" (३। विशेष्यनिघ्ने ६१) इत्यमरः ।

१८—जीवात्मा । [२]

प्राणो हि जीवस्य भुनक्ति भूतान्येतानि चेङ्गस्थितवाक्कृतानि ।
जीवस्थवाचो विकृतौ प्रहीणे प्राणे तदूर्जा पुनरेष सिद्ध्येत् ॥१॥
जीवस्य वाक् प्राणहिता प्रसूते नानाविधान् दैहिकभूतधातून् ।
लोमत्वचासृक्पललानि मेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि शिरादिकांश्च ॥२॥
एते च जीवं परिवेष्ट्य तस्थुः कालेन तामेष जहाति धातून् ।
आत्मा स्ववाचः प्रसवान् समस्तान् त्यक्त्वा पुनः प्राग्वदयं पृथक् स्यात् ॥३॥
त्यक्तवानमून् धातुगुणांस्तु पश्चादन्योऽयमात्मा ग्रसति स्वभावात् ।
अश्नाति धातूनिह यः स आत्मा धातूपसृष्टः पृथिवीति वृत्तः ॥४॥
महाँस्तु जीवात्मन एष आत्मा संपद्यते भौतिकधातुयोगात् ।
वेदांश्च भूतानि च भूतधातून् प्राणो गृहीत्वात्र विलक्षणोऽभूत् ॥५॥

१६—पृथिव्यात्मा । [३]

पृथ्वी यदश्नाति तु भूतधातूंस्तदन्नमूर्क् स्यात्तत एव चोर्क्तः ।
पृथ्वीस्थवाचो विकृतौ प्रहीणे-प्राणे पुनः प्राण उदेति सद्यः ॥१॥
पृथ्व्याश्च वाक् प्राणहिता प्रसूते नानाविधांस्तैजसधातुवर्गान् ।
हिरण्यपूर्वानपि सूतगन्धाभ्रतालपूर्वानपरांश्च कांश्चित् ॥२॥
पृथ्वीमिमां ते परिवेष्टच तस्थुः कालेन तान् सापि जहाति धातून् ।
पृथ्वी स्ववाचः प्रसवान् समस्तांस्त्यक्त्वा पृथक् प्राग्वदुदेति चात्मा ॥३॥
त्यक्तवानमून् धातुगणांस्तु पश्चादन्योऽयमात्मा ग्रसति स्वभावात् ।
अश्नाति धातूनिह यः स आत्मा धातूपसृष्टो रविरित्यनूक्तः ॥४॥
महान् पृथिव्यात्मन एष आत्मा संपद्यते तैजसधातुयोगात् ।
पूर्वांश्च वेदप्रमुखान् क्रमाप्तान् प्राणो गृहीत्वात्र विलक्षणोऽभूत् ॥५॥

२०—सूर्य्यात्मा । [४]

सूर्य्यो यदश्नाति हि धातुतेजांस्यन्नं तदूर्क् स्यात् तत एव चोर्क्तः ।
सूर्य्यस्थवाचो विकृतौ प्रहीणे प्राणे पुनः प्राण उदेति सद्यः ॥१॥
सूर्य्यस्य वाक् प्राणहिता प्रसूते ह्याग्नेयसौम्यान् विविधांश्च देवान् ।
आदित्यवाय्वग्निमुखान् दिगिन्दुप्रायान् गवाश्वादिमुखांश्च कांश्चित् ॥२॥

देवास्तु सूर्य्यं परिवेष्टय तस्थुः कालेन तानेष जहाति देवान् ।
सूर्य्यः स्ववाचः प्रसवान् समस्तांस्त्यक्त्वा पुनः प्राग्वदयं पृथक् स्यात् ॥३॥
त्यक्तानमून् देवगणांस्तु पश्चादन्योऽयमात्मा ग्रसति स्वभावात् ।
य आत्मसादेष करोति देवान् स देवमूर्तिः परमेश्वरोऽस्ति ॥४॥

२१–परमेश्वरात्मा । [५]

अणोरणीयान् स यथास्ति हीङ्गस्तथायमात्मा महतो महीयान् ।
अन्ये परिच्छिन्नतया प्रतीता एकोऽयमात्मा परिणामहीनः ॥१॥
आत्मोन्नतेरत्र परास्ति काष्ठा परा गतिः सा परमात्र निष्ठा ।
जीवो हि कश्चित् क्रमतो विकासे स्यादीश्वरोऽयं परमो विकाशः ॥२॥
संभाविताः स्युर्बहवस्त इङ्गाः प्रत्यक्षदृष्टा बहवस्तु जीवाः ।
पृथ्व्यश्च बह्वयो बहवश्च सूर्य्या एकोऽयमात्मा परमेश्वरोऽस्ति ॥३॥
इङ्गैरनेकैरयमेकजीवो जीवैरनेकैरियमेकपृथ्वी ।
बह्वीभिराभिः सह चैकसूर्य्यः सूर्य्यैस्तु सर्वैः स महेश एकः ॥४॥

२२–पञ्चानामाश्रिताश्रयिभावः ।

पश्यन्ति जीवान् पृथिवीसमाश्रितान् पृथ्वीं च पश्यन्ति रविं समाश्रिताम् ।
ततो विदुस्तं रविमीश्वराश्रितं जीवाश्रितानीङ्गकुलानि जानते ॥१॥
ततो विपश्यन्ति परे महेशात् सूर्य्यं प्रजातं पृथिवीन्तु सूर्य्यात् ।
जीवान् पृथिव्या अथ जीवजातानिङ्गानितीत्थं तु वयं न विद्मः ॥२॥
सृष्टिक्रमे सूक्ष्मत एव मन्ये स्थूलप्रसूतिं न तु वैपरीत्यात् ।
स्थूले तु सूक्ष्माः समवेतभूता भवन्ति तस्मादिह तानपीक्षे ॥३॥
केचित् स्वतन्त्रा इह सन्ति सूक्ष्माः स्थूले तु केचित् समवेतरूपाः ।
स्थूलं तदालम्ब्य वसन्ति केचित् सूक्ष्मास्त्रिधा सन्ति तदित्थमेते ॥४॥
उद्भाविताः स्युर्घटतोऽपि मृत्तिका उद्भाविताः स्युः पटतोऽपि तन्तवः ।
तथापि मृद्भ्यो घट एष जायते तन्तुः पटे हेतुरयं न चान्यथा ॥५॥
इङ्गा य एते पुरुषा अनन्ता य ईश्वरः पूरुष एक उक्तः ।
तस्यापि तेषामपि पूर्वपश्चाद्भावस्तु निर्धारयितुं न शक्यः ॥६॥
इङ्गाः क्रमेण प्रतिपद्य योगं महत्त्वमापद्यत ईश्वरोऽन्ते ।
स ईश्वरोऽपि प्रतिपद्य भागानणुत्वमुत्पादयते त इङ्गाः ॥७॥

इत्थं प्रवाहोऽयमनाद्यनन्तः प्रवर्तमानः प्रतिपद्यते यत् ।
तस्मान्न पूर्वत्वपरत्वभावं न कार्य्यताकारणते च मन्ये ॥८॥

२३–एकसत्यत्वसिद्धान्तः ।

यज्ञो न नास्तीति स सन्निरुक्तोऽसन्नेष नित्यं परिवर्तते यत् ।
सच्चाप्यसच्चापि यदस्ति विश्वं तस्मात्तदाहुः सदसत्पदेन ॥१॥

एकोऽपि यज्ञो बहवोऽपि यज्ञा यज्ञः स एकत्वबहुत्वभावः ।
एकः स यज्ञोऽयमनेकरूपो मन्यामहे तेन तदेकसत्यम् ॥२॥

अन्नादोऽन्नाधाने व्यासज्यैकं विभाति यज्ञत्वम् ।
यज्ञं सत्यं मन्ये तस्मात् सत्यं तदेकमिह सिद्धम् ॥३॥

॥ इति यज्ञैकसत्योपनिषत् (षष्ठं पर्व) ॥

अथ यज्ञैकसत्योपनिषत् ।

[हिन्दीविज्ञानभाष्य] पूर्व प्रकरण में हमने बतलाया था कि इस अखिल विश्व का निर्म्माण केवल आत्मस्वरूप पुरुष से ही होता है अतः सत्य केवल वही एक पुरुष ही है । अब हमें प्रकृत में बतलाना है कि पुरुषादि से सृष्टि का कोई ताल्लुक नहीं है अपि तु, यह सारा विश्व केवल यज्ञ के आधार पर ही खड़ा हुआ है । संसार का कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसमें कि यज्ञ न होता हो । बस, इसी व्यापकस्वरूपयज्ञ का हम वर्णन करते हैं और संसार में केवल यही एक यज्ञ ही सत्य है और बाकी सब मिथ्या है–यह बतलाते हैं । सर्वप्रथम यज्ञ किसे कहते हैं ? यह बतलाते हैं अर्थात् यज्ञ का लक्षण करते हैं ।

१–अन्योदरेऽन्याधानस्य यज्ञत्वम् ।

दूसरे के पेट में दूसरे के चले जाने को यज्ञ कहते हैं—

एक वस्तु की जब दूसरी में आहुति लग जाती है अर्थात् एक वस्तु दूसरी को अपने पेट में ले लेती है एवं उस वस्तु को वह अपना ही स्वरूप बना लेती है बस, इसी को यज्ञ कहते हैं । संसार में जो कुछ हम देख रहे हैं उन सब में यही अत्ता और अन्न का भाव बना हुआ है । सारे पदार्थ कुछ न कुछ हरवख्त अपने में लेते रहते हैं बस, इसी लेने से उन पदार्थों की सत्ता टिक रही है । बस, चूंकि संसार के सारे ही पदार्थों में यह अत्ता-अन्न भाव मौजूद है, अतः हम संसार को यज्ञमय कह सकते हैं । जिस समय एक के पेट में एक चला जाता है एवं जाकर यह अन्न अत्ता का ही स्वरूप जब बन जाता है तभी हम उसे यज्ञ कह सकते हैं । अर्थात् अन्न अत्ता में जाकर जब तद्रूप बन जाता है एवं अपनेपने को छोड देता है बस, इस प्रकार के अत्ता-अन्न भाव को ही हम यज्ञ कहेंगे । जिस प्रकार से जब हम अन्न खाते हैं तो वह अन्न थोड़ी देर में हमारे शरीर में जाकर प्राणस्वरूप बन जाता है । अब उस अन्न को हम उसी हालत में ढूंढना चाहें तो वह हर्गिज नहीं मिलेगा, अतः हम इसे मनुष्य-यज्ञ कहने को तय्यार हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यदन्यदन्यत्र हुतं स यज्ञो यद् दृश्यते सर्वमिदं स यज्ञः ।
अन्योतरेऽन्यत्तु यदाहितं स्यात् तदन्नमत्तुर्लभते स्वरूपम्" ॥१॥

अखिल विश्व में यज्ञ ४ ही प्रकार का समझना चाहिए । सबसे पहले के यज्ञ का नाम है **ब्रह्मकर्म्म यज्ञ** । संसार में ब्रह्म और कर्म्म ये दो तत्त्व माने जाते हैं इनकी जो परस्पर भुक्ति होती है बस, उसे ही ब्रह्मकर्म्मात्मक यज्ञ कहते हैं । जब ब्रह्म में कर्म्म भुक्त हो जाता है तो सृष्टि का अभाव (प्रलय) हो जाता है । इसका कारण यही है कि ब्रह्म है एक और कर्म्म हैं अनन्त । बस, इस आनन्त्य का नाम

ही है **संसार**। परन्तु जब यह नानास्वरूप वाला कर्म्म उस एक ब्रह्म में लीन हो जाता है तो सुतरां सृष्टयभाव हो जाता है। परन्तु ठीक इसके विपरीत उस निष्क्रिय ब्रह्म को जब कर्म्म अपने पेट में लेता लेता है तो बस, वह ब्रह्मस्वरूप एकत्वभाव उन्मुग्ध हो जाता है और मृत्यु का नानात्व उद्‌बुद्ध हो जाता है। बस, इसे ही संसार किंवा सृष्टि कहते हैं। बस, इस प्रकार से प्रलय एवं सृष्टि का स्वरूप बनाने वाला सबसे पहला यह ब्रह्मकर्म्मात्मक यज्ञ समझना चाहिए। इसके बाद में जो दूसरा यज्ञ है-उसे जीव एवं ईश्वर का यज्ञ कहते हैं। स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा एवं पृथिवी ऐसी-ऐसी कई टहनियों वाला जो एक अश्वत्थेश्वर है-उसके पेट में जब हमारी मुक्ति हो जाती है अर्थात्-हमारे शरीर की देवचिति-भूतचिति इत्यादि एवं प्राणादि-जब ईश्वर में जा मिलते हैं तब हमारा लय कहलाता है-इसे खण्ड प्रलय भी कहते हैं एवं जब वही ईश्वर हमारी रचना करके हमारे ही हृदय में जब बैठ जाता है तो उससे हमारा (जीवात्मा) स्वरूप उद्‌बुद्ध हो जाता है, अतएव गीता कहती है—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया"॥[1]

अपि च-श्रुति भी कहती है—

"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"।[2]

इस प्रकार से जीवेश्वर का यह दूसरा यज्ञ समझना चाहिए। इसी प्रकार से जो तीसरा यज्ञ है-उसे प्राणमनोयज्ञ कहते हैं। प्राण में हरवख्त मन की आहुति होती रहती है एवं मन में प्राण की आहुति होती रहती है। जिस समय हम मन से किसी की इच्छा करते हैं बस, इच्छा करते ही वह प्राण उस मन में आहुत हो जाता है। जैसे हमने इच्छा की कि हम अंगुली उठावें-बस, इच्छा करते ही अंगुली उठ जाती है। यह जो उठना है-वह प्राण का व्यापार। बस, यही प्राण उस मन में आहुत हो जाता है। बस, जहाँ यह आहुति मन पर पड़ी नहीं कि उसकी तृप्ति हुई नहीं, अतः हम प्राण को मन का अन्न कहने को तय्यार हैं। इसी प्रकार से मन की प्राण में भी आहुति होती है। जिस समय हम कोई काम करते हैं अर्थात्-प्राणव्यापार करते हैं-उस समय उसमें मन आहुत रहता है। जब तक वह मन प्राण में आहुत रहता है-बस, तभी तक वह काम हो सकता है। जहाँ मन हटा कि काम से तबियत हटी। इस प्रकार से मन की प्राण में (काम में मन का लगना) एवं मन में प्राण (एवं कर्त्तव्य इस प्राण स्वरूप कर्म्म) की आहुति हरवख्त लगती रहती है-बस, इसे ही तीसरा प्राणमनो-यज्ञ कहते हैं। चौथे यज्ञ का नाम है-ज्ञानक्रिया यज्ञ। यह यज्ञ प्राणमनोयज्ञ से कुछ मिलता-जुलता ही समझना चाहिए। इस ज्ञान की क्रिया में एवं क्रिया की ज्ञान में आहुति होने से जो एक यज्ञ होता है-उसे ही ज्ञानक्रिया यज्ञ कहते हैं। बस, इस प्रकार से इन चारों ही यज्ञों से यह विश्व बना हुआ समझना चाहिए। चूंकि

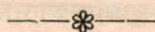
---
१ गीता १८।६१। २ तैत्ति० उप० २।६।

चारों यज्ञत्वेन एक यज्ञ ही है, अतः हम संसार में केवल यज्ञ ही एक सत्य है-यह कह सकते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यो ब्रह्मकर्म्मणोर्वा, जीवेश्वरयोस्तथास्ति यो यज्ञः।
प्राणमनःकृतयज्ञो ज्ञानक्रिययोश्च तत्कृतं विश्वम्" ॥२॥

जिसमें जो हुत हो जाता है-वह हुत पदार्थ उसकी (अत्ता की) अपने ही स्वरूप में अपनी सम्पत्ति बन जाती है। अर्थात् वह अन्न अत्ता ही बन जाता है। बस, इस प्रकार से परस्पर के अन्योन्य अत्तान्नभाव से संसार के पदार्थों का परस्पर विकास होता रहता है। अर्थात् परस्पर की भुक्ति से सम्पूर्ण जगत् के पदार्थों का विकास हो रहा है। बस, इसी विकास से नानाभाव अहर्निश पैदा होते रहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यत्र यदेव हुतं स्यात् संपत्तिस्तस्य तेन रूपेण।
अन्योन्यतो विकासस्तयोस्ततः संभवत्यनिशम्" ॥३॥



२-ब्रह्मकर्मयज्ञः। (१)

ब्रह्मकर्म्म यज्ञ—

यह जो ब्रह्म है-वह इस कर्म्म में हुत हो जाता है एवं कर्म्म ब्रह्म में हुत हो जाता है। इस प्रकार से जब ब्रह्म में कर्म्म अर्पीत हो जाता है तो चूंकि ब्रह्म एक है, अतः नाना-भाव के नष्ट हो जाने से नाना भावयुक्त संसार का स्वरूप नहीं रहता है-बस, इसे ही लय कहते हैं एवमेव जब ब्रह्म कर्म्म में लीन हो जाता है तो ब्रह्म का एकत्व उन्मग्ध हो जाता है एवं कर्म्म का अनेकत्व उद्बुद्ध हो जाता है बस, इसे ही संसार किंवा विश्व कहते हैं। हमें यहाँ बतलाना यह है कि जिसको लय कहते हैं-वह भी विश्व ही है। संसार का लक्षण है-सरणशील। इस प्रकार से जब कर्म्म ब्रह्म में सरण करता है-बस, उसी को तो हम प्रलय कहते हैं एवं जब ब्रह्म कर्म्म में सरण करता है-उसे सृष्टि कहते हैं। इस प्रकार से चूंकि सरणक्रिया दोनों अवस्था में है, अतः हम उन दोनों को ही मिलाकर के एक विश्व (संसार) कह सकते हैं। इसी अभिप्राय से भगवान् ने कहा है कि—

"सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।"[1]

अस्तु, प्रकृत में हमें बतलाना यही है कि इसी परस्पर की आहुति से यह विश्व निरन्तर बना रहता है। चूंकि ब्रह्म निष्क्रिय है, अतएव उसे अकर्म्म कहते हैं। यह जो अकर्म्मस्वरूप ब्रह्म है-वह

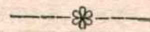
१ गीता ५।४।

आकाशवत् कर्म्म में हुत हो जाता है एवं यह कर्म्म उस अकर्म्म में लीन हो जाता है। तात्पर्य्य यही है कि ऐसा कोई कर्म्म नहीं जिसमें अकर्म्म (ब्रह्म) न हो एवं ऐसा ब्रह्म नहीं जिसमें कर्म्म न हो। बस, इसी ब्रह्मकर्म्मात्मक यज्ञ से यह सारा विश्व उद्बुद्ध एवं उन्मुग्धरूप से सदा परिवर्तित होता रहता है। बस, प्राथमिक यही यज्ञ समझना चाहिए-इसी के लिए भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं—

"कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।"[1]

इसी अभिप्राय से श्री ओझा जी ने कहते हैं—

"ब्रह्मण्यकर्म्मणीदं कर्म्म हुतं तेन शाश्वतं विश्वम्।
ब्रह्माकर्म्म च कर्म्मणि हुतमिति परिवर्ति विश्वमिदम्" ॥१॥



३-जीवेश्वरयज्ञः। (२)

जीवेश्वर यज्ञ—

इसी प्रकार से जो हमने एक अश्वत्थेश्वर बतलाया है-उसमें चूंकि यह सारे जीव आदि सब हैं, अतः विश्व एक कहलाता है-अर्थात् जब सारे जीवों को हम ईश्वर में हुत कर देते हैं तब यह विश्व एक कहलाता है। तात्पर्य्य यही है कि जब सबको उसमें रखे हुए हम विश्व को देखते हैं तो विश्व हमें एक दीखता है। जो युनिवर्सल नॉलेज है-वही ईश्वर का स्वरूप है-जिसमें कि व्यक्तिएँ अनुद्भूत हैं एवं ईश्वरस्वरूप एकत्व उद्बुद्ध है। इसी प्रकार से जब वह व्यापक ईश्वर जीवों में हुत हो जाता है तो उस आहुति से इस विश्व में नाना प्रकार के असंख्य भूत उत्पन्न हो जाते हैं। तात्पर्य्य यही है कि-वही व्यापक ईश्वर प्रत्येक पदार्थ में आकर बैठ जाता है तो उसमें नाना भेद उत्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् जब व्यक्तिरूपेण हम जगत् को देखते हैं तब तो ईश्वर को जीवों में हुत समझना चाहिए एवं जब व्यापकरूपेण एकत्वेन हम जगत् को देखते हैं तो जीवों को ईश्वर में हुत समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अथेश्वरे सन्ति हिता अशेषा जीवा अमी तेन च विश्वमेकम्।
हुतश्च जीवेषु स ईश्वरो यद् भूतान्यनेकानि ततोऽत्र भान्ति" ॥१॥

कईयों का मत है कि उस परमेश्वर के प्रतिबिम्ब भूत ये जीव हैं-अर्थात् इन पर उस चित् का आभासमात्र पड़ता है, अतः ये केवल चिदाभासमय हैं-न कि इनमें वाकई ईश्वर आ जाता है। परन्तु हमारे खयाल से उनका यह मत ठीक नहीं है। मेरे खयाल से तो यह जीव और ईश्वर सदा एक से एक परस्पर विकसित ही रहते हैं। अर्थात् इसी ईश्वर की चेतना का यह जीव साक्षात् अवतार है—

---

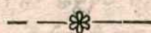
१ गीता ४।१८।

न कि प्रतिबिम्ब। वेदान्त में जो प्रतिबिम्ब का व्यवहार होता है–उसे केवल अविद्या के हिसाब से समझना चाहिए–वस्तुतः–योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्–इत्यादि श्रुति प्रामाण्यात् वही ईश्वर यह जीव है–यही मानना चाहिए। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया"॥[1]

इस प्रकार से ब्रह्मकर्म्म के बाद का यह दूसरा जीवेश्वर यज्ञ समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"महेश्वरस्य प्रतिबिम्बभूता जीवाश्चिदाभासमया भवन्ति।
इतीतरे किन्तु वदामि जीवेश्वरौ सदाऽन्योन्यविकासभूतौ" ॥२॥



४–प्राणचातुर्विध्यम्।

प्राणों का चातुर्विध्य—

हमने तीसरा जो प्राणमनोयज्ञ बतलाया था–उसमें जो प्राण है–वह चार जाति का समझना चाहिए। यदि हम इस प्राण के असलीस्वरूप को पहचानना चाहें तो उसका यही स्वरूप है कि वह ईश्वर स्वरूप है एवं समुद्र की तरह अखिल विश्व में विभव करता हुआ परिपूर्णरूप से भरा हुआ है। अर्थात्–यह प्राण सरस्वान् की तरह अखिल विश्व में परिपूर्णतया भरा हुआ है–ऐसा कोई भी स्थान नहीं है–जहाँ कि प्राण न हो। यह जो अखिल विश्व में व्यापक प्राण है–वह स्वभाव से ही चार जाति का है। परन्तु इतना अवश्य समझना चाहिए कि चारों यद्यपि भिन्न-भिन्न जाति के हैं तथापि इनमें से एक के विना एक कभी नहीं रह सकता। यहाँ तक कि छोटे से छोटे परमाणु में भी ये चारों रहते हैं। इस प्रकार से सर्वत्र मिलित रूप से रहने वाले ये प्राण चार प्रकार के हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अस्तीश्वरोऽयं विभवन् समन्ताद् प्राणः सरस्वानिव स प्रपूर्णः।
स्वभावभेदेन चतुर्विधोऽसौ चत्वार एकत्र समाहिताः स्युः" ॥१॥

इसी का स्पष्टीकरण करते हैं–यह जो प्राण है–वह बडे से बडा भी है एवं छोटे से छोटा भी है। यह प्राण मोटे से मोटा भी है एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म भी है। कहने का तात्पर्य्य हमारा यही है कि चाहे

१ गीता १८।६१।

यह बड़े से बड़ा हो, छोटे से छोटा हो एवं चाहे यह मोटे से मोटा हो, चाहे सूक्ष्म से सूक्ष्म हो–सब में चार ही जाति के प्राण रहते हैं। इस प्रकार से प्रत्येक प्राण चतुष्कल रहता हुआ चौतरफ व्याप्त हो रहा है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अणोरणीयानपि सर्वतोऽस्माज्ज्यायानसावस्ति बहुप्रभेदः।
स्थूलोऽपि सूक्ष्मोऽपि चतुर्विधैस्तैश्चतुष्कलः सन् परितः प्रवृत्तः" ॥२॥

उन चारों में से जो सबसे पहला प्राण है–उसे 'परोरजा' प्राण कहते हैं एवं दूसरे प्राण को आग्नेय प्राण कहते हैं एवं तीसरे प्राण को सौम्य प्राण कहते हैं एवं चौथे प्राण को आप्यप्राण कहते हैं। बस, इस प्रकार से स्वभाव ही से इसके ये चारों भेद हो जाते हैं। जो परोरजा प्राण है–उसे तो मन कहते हैं। यह जो प्राण है–यह सब रस-बल की समष्टि से बना हुआ है–इसका तात्पर्य्य यही है कि रस-बल के तारतम्य से ही इस प्राण का भिन्न-भिन्न स्वरूप बनता है। कई बल तो निवृत्त्यात्मक होते हैं एवं कई बल प्रवृत्त्यात्मक होते हैं। जब रस उद्बुद्ध रहता है एवं बल उन्मुध रहता है तो वह बल उसे अपने में बांध नहीं सकता। बस, ऐसा जो बल है–जो कि बल–रस के साथ विभूतिसम्बन्ध से रहता है–निवृत्त्यात्मक बल कहलाता है–बस, इसी निवृत्त्यात्मक बल को मनोबल कहते हैं। चूंकि यह मन उसके (बल के) पकड़ में नहीं आता, अतः इसे परोरजा (बन्धनरहित) कहते हैं। परन्त ध्यान रहे–यह है–रसबलात्मक प्राण ही। इस प्रकार से जो परोरजा प्राण है–उसे तो मन कहते हैं एवं जो अन्त्य का आप्य-प्राण है–उसे ही वाक् (भूत) कहते हैं। संसार में जितने भी वाक् (भूत) हैं–वे सब इसी पानी से बने हुए हैं। जैसा कि भगवान् मनु कहते हैं—

"सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्" ॥[1]

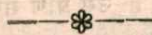
अपि च–इसी 'आपः' से भूतोत्पत्ति श्रुति भी बतलाती है—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी"।[2]

इस प्रकार से जो आप्यप्राण है–उसे वाक् कहते हैं एवं इतर के जो दो प्राण हैं–जो कि प्रवृत्त्यात्मक हैं–उन्हें प्राण ही कहते हैं। यद्यपि ये चारों प्राणत्वेन एक ही हैं तथापि प्रत्येक के कार्य्य में सर्वथा भेद है। जो आग्नेय प्राण है–वह विशकलन करने वाला है, परन्तु ठीक इसके विपरीत सौम्यप्राण पदार्थों को घनीभूत करता है। बस, इस प्रकार से अखिल विश्व के नियन्ता ये ही ४ प्राण समझने चाहिएँ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

१ मनुस्मृति १।८। २ तैत्ति० उप० २।१।

"परोरजा अग्निरथैष सोमश्चापश्च चत्वार इमे स्वभावात् ।
भेदाः स्युराद्यं मन आहुरन्त्यं वाचं तथा प्राण इतीतरौ द्वौ" ॥३॥

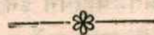


५–मनःप्राणयज्ञः । (३)

मन–प्राण का यज्ञ—

हमने जो मन एवं प्राण बतलाया है–इनमें से जो मन है–वह जो निवृत्त्यात्मक बतलाया–सर्वथा क्रियाशून्य है, अतएव इसे हम अकर्म्म भी कह सकते हैं, परन्तु ठीक इसके विपरीत जो प्राण बतलाया हैव–ह प्रवृत्त्यात्मक बलप्राधान्येन क्रियास्वरूपयुक्त होने से कर्म्मस्वरूपयुक्त कहलाता है । तात्पर्य्य यही है कि जो मन है–वह ज्ञानस्वरूप है एवं जो प्राण है–वह क्रियास्वरूप है–बस, इसी ज्ञानक्रियास्वरूप मन-प्राण की परस्पर आहुति से जो यज्ञ होता है–उसे ही मनःप्राणयज्ञ कहते हैं । यह जो प्राण है–वह मन में आहुत हो जाता है एवं इस प्राण में मन आहुत होता रहता है । जब हम 'एवं कर्त्तव्यम्'–यह ख़याल करते हैं तो इस हमारे ख़याल में उस कर्म्म की आहुति हो जाती है । उस आहुति से जो हमारे मन (ज्ञान) से उठकर अर्क गई थीं–वे उस क्रियास्वरूप अशिति को लेकर तृप्त हो जाती हैं एवमेव जो कुछ हम काम करते हैं–उसमें हमारा मन सदा आहुत रहता है । यदि उस (क्रिया) में से मन हटा लिया जाए तो उस क्रिया का स्वरूप कथमपि नहीं बन सकता । तात्पर्य्य यही है कि यह मन और प्राण सदा एकरूप से ही रहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अकर्म्म यत् तन्मन उच्यते यत्, कर्म्मास्ति स प्राण इहोदितोऽन्यः ।
प्राणो मनस्याहुत एवमेतत् प्राणे मनोऽप्यस्ति हुतं तदेकम्" ॥१॥



६–प्राणवाग्यज्ञः सध्रेर्वैरूपस्य, घर्मस्य वा तापसस्य । (४)

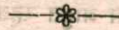
प्राण-वाक् का यज्ञ-विरूप के पुत्र सध्रि के मतानुसार एवं तपस के पुत्र घर्म्म महर्षि के मतानुसार—

भगवान् सध्रि महर्षि एवं घर्म्म महर्षि वाक् और प्राण का यज्ञ बतलाते हैं–वे इसमें यह कहते हैं–एक सुपर्ण जो कि समुद्र में घुस गया था–वह इस सारे विश्व की चौकसी करता था । उसको पवित्र दिल से मैंने अपने नजदीक ही देखा । मैंने देखा कि उसको उसकी माँ चाटती थी एवं वह माँ को चाटता था ।

"एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे ।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळिह स उ रेळिह मातरम्" ॥[1]

यहाँ जिसको सुपर्ण बतलाया गया है–उसे प्राण समझना चाहिए चूंकि यह पक्षी हरवक्त उडता रहता है तथैव यह प्राण भी हरवक्त ही व्यापार करता रहता है, अतः सादृश्यात् इसे सुपर्ण कहा गया है । यह जो सुपर्ण है–वह इस व्यापक समुद्र में भरा हुआ अखिल विश्व का नियन्ता है । इस प्राण को हम अपने पास ही अपने में ही प्रत्यक्ष कर रहे हैं । जिस समय हम मुंह बन्द कर लेते हैं–उसी समय प्राण (श्वास) अपनी क्रिया करता है । यदि हम बोलते रहें तो हमें श्वास कभी नहीं आएगा । तो बस, जब हम बोलते हैं तो यह वाक् प्राण (पुत्र) को चाट जाती है । अर्थात्–बोलते समय इस प्राण की वाक् में आहुति हो जाती है एवं जब हम श्वास लेते हैं तो पुत्र (प्राण) माता (वाक्) को चाट जाता है अर्थात्–वाक् की प्राण में आहुति हो जाती है । इस प्रकार से यह वाक्-प्राण यज्ञ हुआ करता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने मन्त्र का पद्यार्थ करते हुए कहा है—

"एक परन्द जो कि दरिया में घुसा था, वही इस तमाम दुनियां का निगराँ था ।
उसे मैं पाक दिलसे पास देखा था, उसे मा चाटती वह माकुँ चाटता था" ॥२॥[2]



७–मनोवाग्यज्ञो बह्वृचानाम् । (५)

ऐतरेयमतानुसार मनोवाक् यज्ञ—

अखिल विश्व में तत्त्व ७ माने जाते हैं–१-मन, २-प्राण, ३-वाक् (आकाश), ४-वायु, ५-तेज, ६-जल एवं ७-पृथिवी । इन सातों में से जो वाक्-वायु-तेज-जल एवं पृथिवी हैं–भूत ये ही कहलाते हैं, क्योंकि ये ही पाँचों घटते एवं बढते हैं, अतः बहुत्वेन इन पाँचों को ही **भूत** कहते हैं । चूंकि मन-प्राण नित्य है एवं सदा एकस्वरूप में ही रहते हैं, अतः इन्हें भूत नहीं कहते हैं । जब सृष्टि का प्रारम्भ होता है अर्थात्–संचरक्रम में जब मन प्राण में घुस जाता है जो वाक् (आकाश) की उत्पत्ति हो जाती है एवं इस प्राण की वाक् में आहुति लग जाती है तो उससे वायु पैदा होता है एवं जब वाक् की वायु में आहुति लगती है तो उससे तेज भूत पैदा होता है एवं वायु की जब तेज में आहुति लगती है तो उससे जल भूत की उत्पत्ति होती है एवमेव जब तेज की जल में आहुति होती है अर्थात् जब तेज (अग्नि) जल को सुखा डालता है तो उससे पृथिवी भूत की उत्पत्ति होती है यह क्रम संचर (सृष्टि) का समझना चाहिए । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

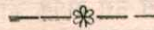
---

१ ऋग्वेद मं० १०।११४।४।   २ द्रष्टव्य ओझा जी कृत मूल 'संशयतदुच्छेदवाद' पृ० सं० ६४।

"तस्माद्वा एतस्मादात्मनः (मनः प्राण) आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी" ॥[1]

इस प्रकार से जब पृथिवी की तेज में आहुति होती है-तो उससे तेज जल बन जाता है एवं जल ही आहुति होती है तो उससे तेज बन जाता है-इस प्रकार होते-होते जब वाक् की प्राण में आहुति हो जाती है तो उससे अवशिष्ट मन का मन ही रह जाता है, बस, सञ्चर और प्रतिसञ्चर क्रम प्रतिक्षण होता है । बस, इसी अभिप्राय को लेकर कहते हैं-प्रतिञ्चरक्रम में-प्राण में जब वाक् हुत हो जाती है जो वह प्राण मन बन जाता है एवं सञ्चरक्रम में जब मन प्राण में आहुत हो जाता है तो उससे वाक् बन जाती है । इस प्रकार से मन कभी वाक् बनता है (सञ्चरक्रम में) एवं वाक् कभी मन बनता है (प्रतिसञ्चरावस्था में) । बस इस प्रकार से मन-वाक् का यज्ञ अहर्निश होता रहता है । यह भगवान् ऐतरेय का मत है-इसी अभिप्राय से वे कहते है कि-**वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यज्ञः ।** यहाँ पर चित्त मन समझना चाहिए । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्राणे हुता वाग् लभते मनस्त्वं वाक्त्वं मनः प्राणहुतं क्रमेण ।
इत्थं मनो वागथ वाङ् मनः स्यात् पश्यत्यमुं यज्ञमिहैतरेयः" ॥१॥



८-अन्नादान्नयज्ञः । (६)

अन्नादान्नयज्ञ—

(तत्र प्राणोर्गन्नानामन्योन्यपरिग्रहस्य यज्ञत्वं वाजसनेयानाम् ।)

हमारे शरीर में एक प्राणभरा हुआ है । जिसकी बदौलत हम सम्पूर्ण कार्य करने में समर्थ होते हैं । यह प्राण प्रतिक्षण स्वभाव से ही हमारे शरीर में से निकला करता है । यह प्राण जब जरूरत से ज्यादा मात्रा में बाहर निकल जाता है तो इस प्राण से अत्यन्त घनिष्टसम्बन्ध रखने वाला इस प्राण से बद्ध जो मन है-वह घबड़ाने लगता है । बस, इस घबड़ाहट से इसमें से एक प्रकार ही इच्छा उठती है-जिसे कि अर्क कहते हैं । उस अर्क से पुनः उस प्राण को अपने में बढाने के लिए वाङ्मय जो खाने-पीने की चीज हैं-उसकी यह इच्छा करता है । इसी आई हुई वस्तु को (वाक्) अन्न कहते हैं । तात्पर्य्य यही है कि जिस समय हम खूब दौड़ लगाते हैं तो उस दौड़ से हमारी शक्ति निकल जाती है, अन्ततोगत्वा हम थक कर एक स्थान में बैठ जाते हैं-बस, जो शक्ति निकल गई है-उसी शक्ति को प्राण कहते हैं । इस थकान से हमें एक प्रकार की व्याकुलता होती है-बस, जिसको यह व्याकुलता होती है-उसे ही 'मन'

१ तैत्ति० उप० २।१ ।

कहते हैं। इस प्रकार से जब हम बैठ जाते हैं तो हमारे में से उस मन की किरणें उसे बाहर फैले हुए वाक् को पकड़ कर भीतर ले आती हैं। इस प्रकार से जब उस प्राण की क्षतिपूर्ति हो जाती है तो फिर चित्त (मन) शान्त हो जाता है। बस, यह क्रम प्रतिक्षण चलता रहता है। हमारे मन में से अर्क बाहर जाकर अन्न को लाता है-उस अन्न से फिर ऊर्क् रस बनता है-जिसे कि ओज कहते हैं। इस ऊर्क् से फिर प्राण बनता है। फिर यह प्राण बाहर निकल कर अन्न बन जाता है-फिर अन्न से प्राण बनता है-यह धारा अनवरत चलती रहती है-इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"अन्नोर्क्प्राणानामन्योन्यपरिग्रहो यज्ञः"-इति ।।

जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विस्रंसते प्राण इह स्वभावतः प्राणे गते क्लिश्यति तत्सितं मनः ।
"प्राणं पुनः स्रष्टुमिदं तु वाङ्मयं पीताशितं कामयतेऽन्नमाहृतम्" ।।१।।

हम जो दीपक की लौ जल रही है उसमें दो काम देखते हैं। उस लौ की कुछ किरणें तो बाहर फैल-फैल कर घर को रवन्नकयुक्त[१] बना रही है। अर्थात् कुछ किरणें तो बाहर की भींतों वगैरह में प्रविष्ट हो रही हैं और कुछ किरणें तैल को अपनी तरफ खैंच रही हैं। बस, जितना ही तैल उन किरणों से बाहर जाता है-ठीक उतनी ही कुछ किरणें तैल को नीचे से खैंचती रहती हैं। इस प्रकार प्रतिक्षण यह आदान-विसर्ग होता रहता है। बस, इसी से उस दीपक की लौ का स्वरूप बना रहता है। बस, एवमेव हमारे शरीर में जो प्राण है-यह भी दो प्रकार से रहता है। इस प्राण का कुछ हिस्सा तो बाहर निकल कर किसी दूसरे का साथ योग करता है-अर्थात् किसी दूसरे का अन्न बनता है एवं प्राण के कुछ हिस्से से बाहर का अन्न लाया जाता है। इस प्रकार से जितना प्राण बाहर निकलता है-उतना ही प्राण बाहर से अन्न लाकर उस क्षति की पूर्ति करता रहता है। बस, इस प्रकार से यह प्राण बाहर से अन्न लाकर प्रतिष्ठित होकर शरीर को प्रतिष्ठित किए रहता है। इस तरह प्रतिक्षण इन प्राणों का आदान-विसर्ग हुआ करता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्राणो द्विधा व्याप्रियते स केनचिद्भागेन विस्रस्य परेण युज्यते ।
अन्नं समाहारयते तु केनचिद्भागेन सोऽन्नं परिगृह्य तिष्ठति" ।।२।।

इस प्राण से आया हुआ जो अन्न है-वह भी दो तरह के काम करता है। उस अन्न का कुछ हिस्सा तो उस प्राण ही की क्षतिपूर्ति के काम में आ जाता है। अर्थात्-जितना सा प्राण कम हो गया था कुछ अन्न उस रिक्तस्थान की पूर्त्ति कर देता है। तात्पर्य्य यही है-उस विस्रस्त प्राण की इस अन्न के कुछ हिस्से से पूर्ति कर दी जाती है और जो बाकी बचा हुआ अन्न है-वह इस प्राण की वृद्धि करने के काम में आता है। यदि तो जितना प्राण खर्च हुआ है-उतना ही अन्न आया तो फिर इसमें कुछ भी

१ रौनकयुक्त।

वैशिष्ट्य नहीं होगा। उस वख्त वह अन्न केवल उस प्राण को अपने स्वरूपमात्र में रखने का काम करता है। परन्तु जब कमी से ज्यादा खुराक आ जाती है तो वह प्राण की क्षतिपूर्ति भी कर देता है एवं उसको और बढा भी देता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"गृहीतमन्नं द्विविधं प्रवर्तते प्राणस्तदुत्सादितसंमितं भवेत् ।
प्राणे तु विस्रस्तमनेन पूरयेद् भूयोऽन्नमस्मिन् जनयेद् विशेषिताम्" ॥३॥

इस प्रकार से प्राण की जितनी-जितनी वृद्धि होती जाएगी—बल, उतनी ही वृद्धि प्राणाधिष्ठित मन की भी होती जाएगी एवं जितना मन बढता जाएगा उतना ही वाक् (मांस, मेदा, मज्जा वगैरह) भी अपना आयतन बढाती जाएगी। यद्यपि मन स्वतः निष्क्रिय है तथापि जो प्राण का बढना है—वही मन का बढना समझना चाहिए। इस मन के बढते ही वाक् का आयतन बढ जाता है। हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि यदि किसी को दस लाख रुपये दे दिए जाते हैं तो उसी समय मन में एक उल्लास पैदा होता है—अर्थात् मन बढता है—उसके बढते ही फौरन उसी समय शरीर में भी एक प्रकार का बढाव प्रत्यक्ष देखा जाता है। तात्पर्य यही है कि प्राणाधिष्ठित जो मन है—वह जितना बढता जाता है—वाक् अपना आयतन उतना ही बडा बनाती हुई उस मन पर हावी होती जाती है। वाक् विना मन के नहीं रहता एवं मन विना वाक् के नहीं रहता। इन दोनों में से एक से एक का छुटकारा कभी नहीं होता है—यह सिद्धान्त समझना चाहिए। इस प्रकार से यह प्राणमनोमयात्मा जो इस वाक् के विकार हैं—उनको निरन्तर अपने से अलग करता हुआ—छोडता भी जाता है—यह छोडना तीन प्रकार का है—एक तो प्रतिक्षण ही हमारे शरीर में से वस्तुएँ बाहर निकलती रहती हैं—यह तो क्षणिक-त्याग कहलाता है एवं एक मलरूप से किंवा मूत्ररूप से यह वाक् विकार निकला करता है एवं अन्ततोगत्वा यह आत्मा सारे शरीर को ही छोड देता है—यह महा-त्याग कहलाता है। बस, ये क्रियाएँ हरवख्त होती रहती हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"मनोहितं प्राणमधिष्ठितं वागासज्जते, नास्ति मिथो व्यपायः ।
वाचो विकाराः प्रभवन्ति शश्वत् पृथग्विधास्तांस्तु जहाति पश्चात्" ॥४॥

इस आत्मा द्वारा पैदा करके छोडे हुए जो ये वागादि जो पदार्थ हैं अर्थात्—जो वाक् का हिस्सा हमारे से अलग हो जाता है—वह किसी दूसरे का अन्न बनता है। इस हमारे से निकले हुए वाक् विकारस्वरूप अन्न के भोग से वह भुक्त अन्न वाक्प्राणमनोमयात्मा किसी दूसरी ही विलक्षण सृष्टि का निर्म्माण करता है। अर्थात्—जो हमारा प्रवर्ग्य किंवा उच्छिष्ट है—उससे किसी दूसरे आत्मा का निर्म्माण (स्थिति) होता है। किसी दूसरे आत्मा के छोडे हुए—अन्न से हमारे आत्मा का निर्म्माण होता है इस प्रकार से संसार में जितने अन्नाद हैं—वे सब अन्न हैं एवं जितने अन्न हैं—वे सब अन्नाद हैं। तात्पर्य्य यही है कि हम सदा दूसरे की खाई हुई वस्तु को ही खाते हैं। हम जो अन्न खाते है एवं जो ताप खाते हैं—वह भी सूर्य्य से भुक्त है। बस, इसी अभिप्राय से—**जीवो जीवस्य भक्षकः**—यह किंवदन्ती चली हुई है।

अपि च–इसी अन्नादान्न-भाव को श्रुति बतलाती है—

"अहमस्मि प्रथमजा ऋता ३ स्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना ३ भायि । यो मा ददाति स इदेव मा ३ वाः । अहमन्नमन्नमदन्तमा ३ द्मि" ।[1]

ऋत और सत्य ये दो पदार्थ माने जाते हैं । इनमें से देवताओं (प्राणों) से भी पूर्व जो अमृत नाम का ऋत पदार्थ है–उससे मेरी (आत्मा की) पैदाइश है एवं जो मुझ को खुराक देता है–वही (सह–अन्न देने वाला ही) वापस मुझ को खा जाता है । इस प्रकार से मैं उसका अन्न हूँ एवं जो मुझ को अन्न बना डालता है–उसे मैं खा जाता हूँ–इस प्रकार का यह अन्नादान्न यज्ञ हरवक्त होता रहता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सृष्ट्वा विसृष्टास्त इमे पदार्था अन्नं भवन्तीति तदन्नभोगात् ।
कश्चित् स वाक्प्राणमनोमयात्मा विलक्षणां सृष्टिमिहातनोति" ॥५॥

जिस समय यह प्राण अन्न को लाता है बस, फौरन यह आया हुआ अन्न ऊर्क् रस बन जाता है एवं उसी वक्त वह ऊर्क् प्राण बन जाता है । तात्पर्य्य यही है कि प्राण में ऊर्क् और अन्न ये दोनों बंधे रहते हैं एवं ऊर्क् में प्राण और अन्न बंधे रहते हैं एवं अन्न में प्राण और ऊर्क् बंधे रहते हैं–इस प्रकार से तीनों परस्पर मिलितरूप से एक ही में जुड़कर इस यज्ञ को धारण करते हैं । बस, इसी यज्ञ को अन्नादान्न यज्ञ कहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अन्नं भवेदूर्गियमूर्क् तु सद्यः प्राणो भवेत् प्राण इहेतरे द्वे ।
ऊर्क् चेतरे अन्नमपीतरौ द्वौ धत्ते मिथः संग्रह एष यज्ञः" ॥६॥



९–चित्त-वाचोरुत्तरोत्तरिक्रमस्य यज्ञत्वम् । (७)

चित्त (मन और वाक्) के उत्तरोत्तरिक्रम से होने वाला यज्ञ—

हमने ७वें सूत्र के मनोवाक् यज्ञ में सृष्टिस्थित संचर एवं प्रतिसंचर क्रम से–**वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यज्ञः**–इस ऐतरेयाभिप्रेत यज्ञ को बतला दिया था । अब, इसी मनोवाक् यज्ञ को सृष्टि पर न घटा के अस्मदादि में घटाते हैं । मन की जब प्राण में आहुति हो जाती है तो उससे वाक् बन जाती है एवं वाक् की जब प्राण में आहुति हो जाती है तो मन बन जाता है । इस प्रकार से वाक् और मन के

१ तैत्ति० उप० ३।१०।६ ।

इस उत्तरोत्तरिक्रम से एक मनोवाङ्मय यज्ञ होता रहता है–यह भगवान् ऐतरेय का मत है । हमने बतलाया है कि यह जो जीवात्मा है–वह उसी ईश्वर का अंश है । तात्पर्य्य यही है कि उसी ईश्वर के मन से (अव्यय पुरुष से) हमारे शरीर की (वाक्) उत्पत्ति होती है, अतः हम कह सकते हैं कि मन से (ईश्वर के मन से) वाक् (हमारा शरीर) पैदा हुआ एवं इस वाक् से फिर मन पैदा होता है । अर्थात् वाक् शरीरस्वरूप आयतन कायम करके वही अव्यय मन इस वाक् में उत्तर आता है–जिसे कि हम विज्ञान (जानना) एवं चिदात्मा कहते हैं । एवमेव फिर इस मन से जो कि हमारी वाक् से पैदा हुआ है फिर वाक् (शब्द) पैदा होती है–इस वाक् से फिर किसी दूसरे का मन पैदा होता है । उदाहरणार्थ–हम किसी को कहते हैं कि भाई ! तुम लोटा लाओ–इस वाक् से सामने रहने वाले नौकर को ज्ञान होता है कि भाई ! लोटा मँगा रहे हैं । बस, इसी ज्ञान को मन कहते हैं–जो कि उस स्वामी की वाक् से पैदा हुआ । बस, इस प्रकार से अनवरत वाक् से मन, मन से वाक्, वाक् से मन–यह मनोवाङ्मय यज्ञ हुआ करता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"चित्तस्य वाचः क्रम उत्तरोत्तरी यज्ञः स इत्याह तथैतरेयकः ।
वाचो भवेदात्मविशेष उद्गतस्तस्मिन् मनःप्राणवचोऽन्यदुद्भवेत्" ।।१।।

हमने चतुर्थ सूत्र में प्राण चार प्रकार के बतलाए हैं–१-परोरजा (मन), २-आप्य, ३-सौम्य, ४-आग्नेय । इन चारों में से जो अग्नि और सोमात्मक प्राण हैं–उसे प्राण ही कहते हैं एवं जो आप्यप्राण है उसे वाक् कहते हैं एवं परोरजा प्राण को मन कहते हैं । प्रकृत में हमें यह बतलाना है कि जो सोम नाम का प्राण है–उससे स्थिति पैदा हुआ करती है । संसार में गत्यात्मक और स्थित्यात्मक ये दो ही पदार्थ हैं । इनमें से स्थिति-स्थिति का जितना काम है–वह सारा इसी सौम्य प्राण का काम है । बस, इसी सोम ही की बदौलत हम पदार्थों को स्थितिरूप में देख रहे हैं, परन्तु ठीक इसके विपरीतधर्म्मा जो अग्निप्राण है–वह गति (विशकलन) का उत्पादक है । बस, गत्यात्मक और स्थित्यात्मक जो ये दोनों प्राण हैं–वे जगत् में व्याप्त हो रहे हैं अतः सिद्धान्त समझना चाहिए कि जगत् में जितनी भी क्रियाएँ हो रही हैं–वे सब इसी प्राण की बदौलत होती हैं–अर्थात्–क्रियाशक्ति का कोश ये ही दोनों प्राण हैं, एवमेव जो परोरजा स्वरूप मन है–उससे ज्ञान उत्पन्न होता है । **अहं जानामि**–इत्यादि जो मुझे ज्ञान होता है जो कि क्रियाशक्ति से सर्वथा अलग है–वह मेरे मन से उत्पन्न होता है । इस प्रकार से ज्ञान-शक्ति का कोश इसी मन को समझना चाहिए । एवं च–जो कि आप्यप्राण था–जिससे कि वाक् बनी थी–उसी वाक् से सांसारिक अर्थों का (पदार्थों का) स्वरूप बनता है । बस, इस तरह से–ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति एवं अर्थशक्ति–इन्हीं तीन से सारे विश्व का स्वरूप बना हुआ है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सोमात् स्थितिः स्याद् गतिरग्नितः स्यादित्थं क्रिया प्राणवशेन सर्वा ।
ज्ञानं मनस्तोऽर्थकला तु वाचो ज्ञानक्रियार्था इदमस्ति विश्वम्" ।।२।।

१०-ज्ञानक्रियायज्ञः । (८)

ज्ञानक्रियार्थ यज्ञ—

हमने ज्ञान, क्रिया, अर्थ-ये तीन ही शक्तियाँ विश्वभर में बतलाई हैं। इन तीनों में से विना एक के एक शक्ति कभी नहीं ठहर सकती। संसार में ऐसी कोई भी क्रिया नहीं होती जो कि विना ज्ञान के हो जाए। जब हमारे मन में से ज्ञान द्वारा इच्छा उत्पन्न होती है-तभी क्रिया हो सकती है। यदि हमारी इच्छा नहीं है तो फिर क्रिया कथमपि उत्पन्न नहीं हो सकती। इसीलिए बौद्धधर्म्म-ध्वंसक, ईश्वर-सत्ता के स्थापक उदयनाचार्य कहते हैं—

"ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत् कृतिः ।
कृतिजन्यं भवेत् कर्म्म तदेतत् कृतमुच्यते"-इति ।।

इसी प्रकार से ऐसा कोई ज्ञान भी नहीं है जो कि क्रिया से एवं अर्थ से शून्य हो। संसार में जितना भी ज्ञान होता है-वह किसी न किसी विषय (अर्थ) को अवश्य ही पकड़े रहता है। सांसारिक कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं है जिसमें कि विषय न हो। हम जब **घटं जानामि**-बोलते हैं-उसी समय पहले 'घट' अर्थ हमारे ज्ञान में कूद पड़ता है, अतः मानना पड़ता है कि संसारावस्था में कभी निर्विषयक ज्ञान हो ही नहीं सकता। इसी अभिप्राय से भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—

" न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते"-इति ।।[१]

—— ❀ ——

(१) ज्ञानक्रिया यज्ञ—

जिस समय हम हमारे खयाल में-**एवं कर्त्तव्यं एवं कर्त्तव्यं**-इत्यादि रूप से अन्तर्जगत् की रचना किया करते हैं-उस समय वह क्रिया स्वरूप अन्तर्जगत् मेरे ज्ञान में आहुत होता रहता है। इस प्रकार से ज्ञान में क्रिया की आहुति लगती रहती है, एवमेव जब हम कोई काम करते हैं तो उसमें हमारा ज्ञान (मन) सदा आहुत होता रहता है। जरा ज्ञान (मन) वहाँ से हटा नहीं कि वह कार्य्य बिगड़ा नहीं। इस प्रकार से ज्ञान में क्रिया की एवं क्रिया में ज्ञान की अन्योन्याहुति से यह ज्ञानक्रिया-यज्ञ निरन्तर होता रहता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

---

१ वाक्यपदीय १।१२४।

"क्रिया हि न ज्ञानविनाकृताः स्युर्ज्ञानं च नार्थग्रहकर्म्मशून्यम् ।
ज्ञानात् क्रिया ज्ञानमिदं क्रियातस्तदित्थमन्योन्यहुतेः स यज्ञः" ।।१।।

—※—

(२)—अर्थक्रिया यज्ञ (८ क)—

इसी प्रकार से ऐसा कोई भी अर्थ (विषय) नहीं है जो कि विना क्रिया रहता हो एवं कोई भी क्रिया नहीं है जो कि विना अर्थ के रहती हो। तात्पर्य्य यही है कि क्रिया जब कभी होगी किसी अर्थ पर ही होगी। यदि कुछ आलम्बन न हो तो क्रिया हो किस पर ? अतः यह सिद्धान्त समझना चाहिए कि क्रिया जब कभी होगी अर्थ को लेकर के ही अर्थात्–अर्थाश्रित ही होगी। अपि च–इसी तरह इस क्रियाश्रय से ही अर्थ सत्ता रहती है। यदि 'घट' अर्थ के लिए कुलालादि–परिभ्रमणादि क्रिया न होती तो क्या 'घट'–यह अर्थ उत्पन्न हो सकता था ? कदापि नहीं। वस्तु तस्तु जब रसस्वरूप धाराबल से यह क्रिया पकड़ में आ जाती है तो बस, यह क्रियासमष्टि ही अर्थरूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार से इस अर्थ का आश्रय भी यही क्रिया है। इस तरह से अर्थ में (विषय में) क्रिया और अर्थ दोनों रहते हैं, बस, इसी को 'अर्थक्रिया यज्ञ' कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

अर्थाश्रयेणैव भृताः क्रियाः स्युः क्रियाश्रयेणैव भवन्ति तेऽर्थाः ।
अर्थे क्रियाऽर्थोऽपि हितः क्रियायामर्थक्रिया यज्ञ इति प्रदिष्टः" ।।२।।

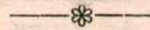
—※—

११—ज्ञानार्थयज्ञः । (९)

(३) ज्ञानार्थयज्ञ —

जिस प्रकार से विना क्रिया के अर्थ नहीं रह सकता एवं विना अर्थ के क्रिया नहीं रह सकती तथैव अर्थ को पकड़े विना ज्ञान एक क्षण भी नहीं ठहर सकता। एवमेव, अर्थ भी विना ज्ञान के एक क्षण नहीं ठहर सकता। हम जब भी किसी का ज्ञान करेंगे बस, विषय (अर्थ) फौरन उस ज्ञान में कूद पड़ेगा। पुरोदृश्यमान जो घट रखा हुआ है–वह घट है–इसलिए उसका मुझे ज्ञान होता है कि यहाँ पर उस घट की मेरे ज्ञान में आहुति हो जाती है–**अस्ति अतो ज्ञायते**। एवमेव मैं जानता हूँ–इसीलिए तो घट है–**ज्ञायते अतःअस्ति**। यहाँ ज्ञान की उस 'घट' अर्थ में आहुति हो जाती है। तात्पर्य्य-यही है कि यदि मैं न जानूँ तो कभी मुझे घट का भान नहीं हो सकता है एवं यदि घट न हो तब भी मुझे घटज्ञान नहीं हो सकता है, अतः अर्थ और ज्ञान–ये दोनों एक के विना एक कभी नहीं रख सकते। बस, जो है वह भासता है एवं चूँकि भासता है अतः 'है'–इस 'ज्ञानार्थ यज्ञ' को हम उपलब्धि यज्ञ कहते हैं। इस प्रकार से अखिल विश्व में ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति एवं अर्थशक्ति इन्हीं तीनों का प्रपञ्च है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है।

"ज्ञानं न चार्थ ग्रहणाद् ऋते स्यादर्थोऽपि न ज्ञानविनाकृतः स्यात् ।
यदस्ति तद् भात्यथ भाति वा यत् तदस्ति स स्यादुपलब्धियज्ञः" ॥१॥



१२–आत्मात्मीयत्वम् ।

आत्मा और आत्मीयत्व—

अब आत्मा का लक्षण बतलाते हैं । जिसकी सत्ता से जिस किसी दूसरे की सत्ता हो जाती है उस पर का जिसकी कि उस सत्ता से सत्ता हुई है–वही आत्मा कहलाता है । अर्थात्–जिसकी जिससे स्थिति हो–वही उसका आत्मा है–यह आत्मा का तटस्थ लक्षण समझना चाहिए । अब उसका क्या स्वरूप है ? यह स्वरूपलक्षण बतलाते हैं—

यह जो आत्मा है–वह वाक्-प्राण एवं मनोमय समझना चाहिए । अर्थात्–चूँकि इन्हीं को सत्ता से (खाने से) हमारे शरीर की सत्ता रहती है, अतः हम इन तीनों को आत्मा कहने के लिए तय्यार हैं । हम कुल सात खुराक खाया करते हैं मन, प्राण एवं पृथिवी (अन्न), जल, तेज (प्रकाश), वायु (श्वासोच्छ्वास) एवं आकाश (मैदान) जो मन है–उसे ज्ञान कहते हैं–हरवक्त हम कुछ जानते रहते हैं, अतः यह ज्ञान भी हमारा अन्न है एवं हर समय हम कुछ न कुछ करते रहते है, अतः प्राण भी हमारा अन्न है एवं जो पाँचों भूत हैं–जिसको कि वाक् कहते हैं–वह भी हमारा अन्न है–यह तो स्पष्ट ही है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"यत् सप्तान्नानि तपसा जनयत् पिता:" ।[1]

तात्पर्य्य यही है कि चूंकि मन-प्राण-वाक् से हमारी सत्ता रहती है, अतः हम इन तीनों को आत्मा कहने के लिए तय्यार हैं । यह जो आत्मा है उसको चतुष्कल भी हम कह सकते हैं अर्थात् चारों को मिला कर व्यासज्यवृत्त्या हम एक ही आत्मा मान सकते हैं एवं चारों को **'प्रत्येकापर्य्याप्तस्य समुदाय पर्य्याप्तत्वं नास्ति'** इस न्याय से पृथक्-पृथक् आत्मा भी मान सकते हैं । वे चारों कला ये हैं–१-परात्पर, २-अव्यय, ३-अक्षर, ४-क्षर अथवा दूसरा कला विभाग–१-निष्कल, २-पुरुष, ३-शिपिविष्ट एवं ४-यज्ञ इस क्रम से भी होता है तो बस, चूँकि मन-प्राण-वाक् से हमारे शरीर की स्थिति रहती है अतः हम इनको हमारा आत्मा कह सकते हैं ।जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यत्सत्तया यस्य परस्य सत्ता परस्य तस्याभिमतः स आत्मा ।
स एष वाक्प्राणमनोमयो वा चतुष्कलो वा पृथगेक आत्मा" ॥१॥

१ बृहदा० उप० १।५।१।

इन तीनों से इतना और विशेष समझना चाहिए कि इन तीनों में विना एक-एक के एक कभी नहीं रह सकता है—व्यासज्यवृत्त्या इन तीनों को मिला कर हम एक आत्मा भी कह सकते हैं एवं पर्य्याप्त्यवृत्त्या हम इनको पृथगात्मा भी बतला सकते हैं। उभयथा भी तीनों रहते हैं—सदा साथ ही। वाक्-व्यापार सदा प्राण से हुआ करता है—जब तक हम प्राणव्यापार नहीं करेंगे तब तक वाक् (हाथ) व्यापार कभी नहीं हो सकता है। प्राण का जो तनाव (व्यापार) है—वह विना मन के नहीं हो सकता है। जब तक हम नहीं चाहेंगे जब तक हमारे हाथ के उठने का व्यापार कथमपि नहीं हो सकता है। इस प्रकार से यह तीनों एक से एक मिलकर के ही नई सृष्टि बनाते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तत्रापि नैकेन विनान्यदस्ति त्रीण्येक आत्मा पृथगात्मता च।
वाक् प्राणत. प्राणततिर्मनस्तो नियुज्यमानेव करोति सृष्टिम्" ॥२॥

इस मन, प्राण एवं वाक् से जो कुछ नई वस्तु पैदा होती है—वह उत्पन्न होने वाली वस्तु इस आत्मा का देह कहलाता है—धीरे-धीरे होते-होते यह आत्मा अपने से उत्पन्न वस्तुओं से (देह से) आप स्वयं आवृत हो जाता है। इस प्रकार से देह का यह आत्मा एवं आत्मा का यह देह यह अभेद व्यवहार होने लगता है। इस आत्मा और देह के अलावा संसार में और कुछ भी नहीं है। तात्पर्य्य यही है कि आत्मा जभी कहलाता है जबकि उसका देह हो एवं देह तभी कहलाता है जबकि उसमें आत्मा हो—देह आत्मा की अपेक्षा रखता है एवं आत्मा देह की अपेक्षा रखता है। दोनों ही अविनाभूत एवं अन्योन्याश्रित हैं, अतः आत्मा है, परन्तु देह नहीं है—यह कभी नहीं हो सकता एवं देह है और आत्मा नहीं है यह भी कभी नहीं हो सकता। कदाचित् कहो कि मर जाने पर आत्मा कहाँ देह से युक्त रहता है? इसका उत्तर यही है कि उस समय भी उसका सूक्ष्म शरीर (देह) मौजूद है। इसके बाद कारणशरीर मौजूद है—इसके बाद जो ईश्वर का शरीर है—वही उसका शरीर है, अतः विना आत्मा के देह एवं विना देह के आत्मा कभी नहीं रह सकता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"उत्पद्यतेऽस्मादिह यच्च किञ्चित्, तदस्य देहं तत आवृतोऽयम्।
देहस्य चात्मात्मन एष देहस्ताभ्यां विना क्वापि न किञ्चिदस्ति" ॥३॥

हमारे शरीर में तीन ही मात्रा मानी जाती हैं—१-प्रज्ञामात्रा (ज्ञानेन्द्रियाँ), २-प्राणमात्रा (कर्म्मेन्द्रियाँ) एवं ३-भूतमात्रा (त्वक्मांसादि सप्तधातु)। बस, इन्हीं तीनों मात्राओं की समष्टि को देश किंवा शरीर कहते हैं। इन तीनों में से जो ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—उनकी सृष्टि तो मन से होती है (अनिन्द्रियमन से) एवं कर्म्मेन्द्रियों की सृष्टि प्राण से होती है एवं वाक् से भूतसृष्टि होती है। इस प्रकार से तीनों को मिलाकर यह एक शरीर कहलाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"देहस्य सर्गे मनसः प्रसङ्गाज्ज्ञानेन्द्रियाण्येव, क्रियेन्द्रियाणि ।
प्राणप्रसङ्गादथ, वाक्प्रसङ्गादर्थाः स्युरित्थं त्रयमेकदेहम्" ।।४।।

१३–यज्ञस्यैवात्मत्वम् ।

यज्ञ को ही आत्मा बतलाना (वेदान्तमत-खण्डन)—

संसार में जितने भी शरीरधारी हैं–उन सबका जो हमने एक आत्मा बतलाया है–उसको यज्ञ-स्वरूप ही समझो । यह यज्ञ समिष्टरूपेण हो चाहे व्यष्टिरूपेण । अर्थात्–जो परमेश्वर का यज्ञ है–बहुत बडा समष्टिरूप यज्ञ है एवं जो प्रत्येक जीवात्मा का यज्ञ है–वह व्यष्टिरूपेण अर्थात्–छोटा यज्ञ है । वह जो विश्व यज्ञ है-जिसमें कि ब्रह्माण्ड की स्थिति हो रही है–वह यज्ञ व्यापक है एवं एक है । इस विश्व में अनन्त प्रकार के जीवयज्ञ और हो रहे हैं । जिनका कि इस अखण्ड आत्मा से कोई ताल्लुक नहीं । तात्पर्य्य इसका यही है कि वेदान्ती लोग इस जीव और परमात्मा में अभेद माना करते हैं एवं उनका ख़याल है कि जो वह है–वही यह जीवात्मा है सिर्फ उपाधिमात्र का भेद है, अतएव न यह आत्मा मरता है–न जीता है–इस प्रकार से जब यह एक सिद्ध वस्तु है तो उसके लिए कर्म्मकाण्ड की कोई आवश्यकता नहीं–वहाँ तो केवल ज्ञानकाण्ड की ही जरूरत है । क्योंकि जो साध्य होता है–उसी के साधन करने की आवश्यकता होती है, परन्तु जो स्वतःसिद्ध सिद्ध है–उसके सिद्ध करने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार वे कर्म्मकाण्ड का खण्डन करते हैं । परन्तु हमारा मत है कि उनका यह कहना सर्वथा भ्रमपूर्ण है, क्योंकि जिसको वह सिद्ध मानते हैं–हमारे ख़याल से वह सर्वथा साध्य है एवं यह आत्मा जो कि यज्ञस्वरूप है–उस परमेश्वर से सर्वथा भिन्न है एवं यह आत्मा मरता है–जीता है । हमारा सिद्धान्त है कि यह आत्मा केवल यज्ञस्वरूप है–जहाँ यज्ञ बन्द हुआ नहीं कि यह मरा नहीं, अतः हम उस परमेश्वर के एक यज्ञ में उससे सर्वथा अलग नाना यज्ञात्मा मानते हैं–जिनका कि परमेश्वर से कोई ताल्लुक नहीं है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आत्मा स एव त्वखिलस्य यज्ञः स व्यष्टियज्ञः स समष्टियज्ञः ।
यो विश्वयज्ञोऽस्ति विभुः स एको यज्ञा अनन्ता इह सन्ति जीवाः" ।।१।।

फिर अद्वैतवादियों पर आक्षेप करते हैं कि अच्छा यदि अभ्युगमवाद से थोड़ी देर के लिए यज्ञ से भिन्न एक नित्य ही आत्मा तुम्हारे हिसाब से मान लिया जाए तो फिर इस आत्मन्वी की तुम्हारे मत में कभी भी मृत्यु नहीं होनी चाहिए । क्योंकि आत्मा नित्य है–वही तुम्हारे शरीर में है, अतः ऐसी हालत में कभी भी देहपात नहीं होना चाहिए । अपि च–इतना ही नहीं–अपि तु, चूँकि तुम्हारे हिसाब

से आत्मा सर्वथा असंग है, अतः वह 'देही' ही कैसे कहला सकता है ? अपि च–जबकि तुम्हारे हिसाब से वह विभु है तो फिर उसका देह से कभी विचलित होना ही सम्भव नहीं है। क्योंकि जो वस्तु दिग्देशकालावच्छिन्न है–उसी को दूसरे स्थान में जाने के लिए स्थान मिल सकता है, परन्तु जो दिग्देश-कालानवच्छिन्न है–वह जा ही कैसे सकता है ? परन्तु होता सब कुछ है–अर्थात् यह मरता भी है–इसका देह से वियोग भी होता है, अतः इस आत्मा को व्यापक एवं नित्य अतएव सिद्धस्वरूप बतलाना नितान्त भ्रान्त है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आत्मातिरिक्तो यदि यज्ञतः स्यादात्मन्विनो जात्वपि नो मृतिः स्यात्।
असङ्ग आत्मा स कथं नु देही देहात्कथं वा विचलेद् विभुश्चेत्" ॥२॥

अपि च–तुम्हारे हिसाब से न आत्मा घटता है एवं न बढता है। जब यह न घटता है एवं न बढता है–ऐसी हालत में एक ही देही पहले छोटा रहता है एवं बाद में वह बढकर युवा कैसे हो जाता है ? एवं फिर अन्त में वह बुड्ढा कैसे हो जाता है ! तुम्हारे हिसाब से तो वह एक ही परिमाण का रहना चाहिए, परन्तु हम प्रत्यक्ष में घटता-बढता देखते हैं, अतः यह आत्मा अखण्ड है एवं एक रस है एवं अविनाशी है–यह जो उनका अभिमान है–वह सर्वथा मिथ्या एवं प्रत्यक्ष विरुद्ध है, अतः इस आत्मा को यज्ञस्वरूप एवं मरणधर्म्मा ही समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"न चेत्कनीयान् न च वर्द्धते चेत् बालो युवा स स्थविरः कथं स्यात्।
तस्मादखण्डैकरसोऽविनाशीत्यात्माभिमानोऽस्ति वृथा परेषाम्" ॥३॥



१४–यज्ञस्यात्मनः कर्म्मसयत्वमन्नाश्रितत्वं च।

यज्ञात्मा को कर्म्ममय एवं अन्नाश्रित बतलाना—

यह जो हमने यज्ञात्मा बतलाया है–वह सर्वथा कर्म्ममय समझना चाहिए। यह आत्मा अन्न के आधार पर रहता है–जब तक अन्न मिलता रहता है तभी तक इस यज्ञात्मा की स्थिति रहती है। इस यज्ञात्मा में से प्रतिक्षण प्राण बाहर की तरफ जाया करता है–अर्थात् प्रतिक्षण शरीर के रोम-छिद्रों से प्राण बाहर निकलता रहता है–इस प्रकार से पहले जो प्रतिष्ठित प्राण है–उसका विस्रंसन होता है एवं बाद में हम में से जो अर्क निकलते हैं-वे प्रतिक्षण अन्न को बाहर से लाया भी करते हैं। इस प्रकार से यह आदान और विसर्ग क्रिया सदा अनवरत होती रहती है। बस, इस तरह से जितना प्राण जाता है–उतना ही बाहर से आ जाता है, अतः शरीर की प्रतिष्ठा नहीं उखड़ने पाती।

"यज्ञः पुनः कर्ममयोऽयमात्मा सोऽन्नाश्रयस्तिष्ठति यावदन्नम् ।
तत् प्राणविस्रंसनमत्र पूर्वं पश्चादिहान्नाहरणं च नित्यम्" ॥१॥

जिस प्रकार से अग्नि से से प्रतिक्षण लौ निकलती रहती है, परन्तु साथ ही में जितनी सी लौ उसकी खर्च हो जाती है–उतनी ही कमी काष्ठ डालकर पूरी कर दी जाती है। इस तरह से अनवरत निकलने पर भी चूंकि उसमें बाहर से काष्ठ पड़ता रहता है, अतः अग्नि बुझने नहीं पाता एवमेव यह प्राण भी जितना सा बाहर की तरफ निकल जाता है–वह प्राण फिर उस आहुत अन्न को धारण कर लेता है–इस प्रकार से आहुत अन्न को लेकर जितना सा प्राण उखड़ जाता है–उतना ही फिर प्रतिष्ठित हो जाता है। बस, इस क्रिया से प्राण कभी कम नही होने पाता। अब हमारे शरीर में वैश्वानर कैसे पैदा होता है ? इसके पहले आधिदैविक वैश्वानर का स्वरूप बतलाते हैं–पृथिवी में से पार्थिव आग्नेय प्राण हरवक्त बाहर निकला करता है। एवमेव द्यौ से दिव्यप्राण भी हरवक्त निकला करता है। इस दिव्यरस से वह भौमरस (पार्थिव प्राण) मिलकर एक दूसरा वैश्वानराग्नि उत्पन्न करता है। अर्थात् पार्थिवाग्नि एवं दिव्याग्नि के मेल से जो एक अग्नि पैदा होता है–उसे ही वैश्वानराग्नि कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"विस्रंसमानोऽग्निरिवान्नमाहुतं धत्ते ततोऽस्मिन् प्रतिधीयते पुनः ।
विस्रंसितो भौमरसः स दिव्यतो रसात् समायुज्य परोग्निरुद्भवेत्" ॥२॥

तो बस, जिस प्रकार से आधिदैविकमण्डल में दोनों के मेल से वैश्वानराग्नि पैदा होता है तथैव हमारे शरीर में भी जो अन्न आहुत होता है–वह उखड़े हुए वैश्वानर को फिर प्रतिष्ठित कर देता है। अर्थात् हमारे शरीर से जो एक पार्थिवाग्नि निकलती है–उसके एवं अन्नादि द्वारा एवं स्वातन्त्रेणापि आने वाला जो दिव्याग्नि है–उसके मेल से जो हमारे शरीर में एक तीसरा अग्नि पैदा होता है–उसे ही **वैश्वानराग्नि** कहते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तथैव देहेऽपि यदन्नमाहितं वैश्वानरस्य प्रतीधीयते ततः ।
विस्रंसितो भौमरसः स दिव्यतः संयुज्य वैश्वानर एव जायते" ॥३॥

यह जो वैश्वानरात्मा है–वह इस पुरुष के लोम को और नखाग्र भागों को छोडकर सारे शरीर में व्यापकरूपेण अपना स्थान कायम करता है। कान और नाक बन्द कर लेने पर जो एक घूं-घूं–इस प्रकार का अनाहतनाद सुनाई पड़ता है–वह इसी वैश्वानर के धधकने की आवाज है एवं हम शरीर के जिस अवयव को छूते हैं–उसी जगह जो एक गर्मी प्रतीत होती है–वह इसी वैश्वानर की गर्मी समझनी चाहिए–जिसको कि हम प्रत्यक्ष देखते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने भी कहा है—

"वैश्वानरोऽसौ पुरुषः शरीरं व्याप्नोति चालोमनखाग्रदेशम् ।
अनाहतः शब्द इहास्य घोषो देहे यदौष्ण्यं तु तदस्य दृष्टिः" ॥४॥

प्राणी के शरीर में जब तक इस वैश्वानराग्नि की गर्मी बनी रहती है–तभी तक वह जिन्दा रहता है एवं यह गर्मी तब तक शरीर में रहती है जब तक शरीर में वैश्वानराग्नि रहता है एवं यह वैश्वानराग्नि तब तक रहता है जब तक कि यज्ञ होता रहता है एवं यह यज्ञ तब तक होता रहता है–जब तक कि अग्नि में अन्न की आहुति पड़ती रहती है। जहाँ यह आहुति बन्द हुई कि यज्ञ बन्द हुआ–बस, उसी समय वैश्वानराग्नि नष्ट हो जाता है–इसके नष्ट होते ही शरीर की गर्मी जाती रहती है–गर्मी नष्ट हुई नहीं कि देहावसान हुआ नहीं। इस प्रकार से हमारे अन्न का परिपाक करने वाला यही वैश्वानराग्नि है–इसी अभिप्राय से भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्" ।।[1]

इसी अभिप्राय से गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स प्राणभृज्जीवति यावदौष्ण्यं वैश्वानरादौष्ण्यमुपैति देहे ।
वैश्वानरो यज्ञमयः स यज्ञः संपद्यतेऽन्नाहवनादिहाग्नौ ।।५।।

यह वैश्वानर यज्ञ प्रतिक्षण स्वर्ग तक वितत होता है–इस प्रकार से बाहर जाकर यह यज्ञ प्रतिदिन समाप्त होता रहता है। इस प्रकार से यह जो यज्ञ है–वह इस यज्ञात्मा को स्वर्ग में जाने के लिए प्रेरित करता रहता है एवं वही यज्ञ उस स्वर्ग में गए हुए यज्ञात्मा को वापस प्रतिक्षण लाया करता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"स तायते चाहरहस्तु यज्ञः, संतिष्ठते चाहरहः स यज्ञः ।
स स्वर्गगत्यै तमिमं च युङ्क्ते, स्वर्गं ततः सोहरहः प्रयातिः" ।।६।।[2]

अतः सम्पूर्ण कथन का सारांश यही समझना चाहिए कि जिसमें से प्राण बाहर नहीं निकलता–वह खाने की इच्छा से बाहर से अन्न भी नहीं लेता है। अर्थात्–उसे अन्न खाने की इच्छा ही नहीं होती है। बस, जहाँ उसनें अन्न खाना छोडा कि यज्ञ बन्द हुआ, क्योंकि यज्ञसिद्धि तो अन्न पर ही अवलम्बित है। जहाँ यज्ञ बन्द हुआ कि वैश्वानराग्नि नष्ट हुआ, क्योंकि यह इसी यज्ञ के अधीन है एवं जहाँ यह अग्नि नष्ट हुआ कि फिर उष्णता का क्या ठिकाना है। बस, जहाँ ऊष्मा निकली की यज्ञात्मा नष्ट हुआ। इस प्रकार के इस नाशवान् आत्मा को जो कि सर्वथा यज्ञमय है–नित्य बतलाना उचित है–या अनुचित ? इसका विचार हम बुद्धिमानों पर ही छोडते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

---

१ गीता १५।१४ ।

२ द्रष्टव्य शत० ब्रा० ६।४।४।१५ ।

"न प्राणविस्रंसनमस्ति यस्मिन् भोक्तुं समीहेत न चान्नमेतत् ।
अनाहुतेऽन्ने तु न यज्ञसिद्धिर्यज्ञं विना नाग्निरयं न वौष्ण्यम्" ॥७॥

अब उन अद्वैतवादियों की तरफ से-एक प्रश्न होता है कि अच्छा न सही आत्मा नित्य, परन्तु हम तुम से पूछते हैं कि जब यह यज्ञ नित्य है तो फिर यह आत्मा क्यों मरता है ? इस प्रकार से जो आपत्ति तुमने अद्वैत मत में डाली थी-वही हम यज्ञ मत में रखते हैं-इसी का उत्तर देते हैं—

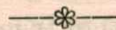
बच्चेपने में जो प्राणविस्रंसन का कर्म्म है-वह बहुत थोड़ी मात्रा में रहता है, क्योंकि उस समय प्राण निकलने के छिद्र बहुत सूक्ष्म होते हैं, परन्तु अन्न ज्यादा आता है, अतः वह बढता ही जाता है । परन्तु ज्यों-ज्यों वह बढता जाता है-त्यों-त्यों वह प्राणस्रोत बडे होते जाते हैं । इस प्रकार से जब प्राण बहुत ज्यादा निकलने लगता है तो वृद्धावस्था होने लगती है । क्योंकि अन्न तो जितना आता है-उतना ही आता है, परन्तु खर्च ज्यादा होता रहता है-इस कारण से प्राण (जो कि अन्न लेने वाला था) कमजोर होता जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तत्प्राणविस्रंसनकर्म्मणोऽस्मिन् क्रमेण वृद्धिर्विवरानुवृद्धेः ।
अल्पत्वमन्नाहरणेऽस्ति तद्वत् क्रमेण तत्प्राणबलापकर्षात्" ॥८॥

इसी का खुलासा करते हैं—

प्राण का सूक्ष्मविवरों के कारण खर्च कम रहता है एवं अन्न खर्च से ज्यादा आता है, अतः बालक के शरीर की वृद्धि होती रहती है । परन्तु ठीक इसके विपरीत विवरों के बडे हो जाने के कारण प्राण खर्च होता है-ज्यादा मात्रा में एवं अन्न का आहरण होने लगता है-कम, अतः शक्तिमान्द्यात् वृद्धावस्था हो जाती है एवं जब सर्वथा शक्तिह्रास हो जाता है तो मृत्यु ही हो जाती है । इस प्रकार से इस नित्य यज्ञात्मा का भी आदान-विसर्ग के तारतम्य से अवसान हो जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्राणाल्पविस्रंसनतोऽधिकान्नोपादानतो बालशरीरवृद्धिः ।
प्राणाधिकस्रंसनतः कनीयोऽन्नादानतस्तत्र जरामृती स्तः" ॥९॥



१५-यज्ञात्मनः कोशचतुष्ट्वम् ।

यज्ञात्मा के चार कोश—

हमने चौदहवें सूत्र में बतलाया है कि अखिल विश्व में जो कुछ तुम देख रहे हो-वह सब यज्ञात्मा ही यज्ञात्मा है एवं यह यज्ञात्मा अनन्त हैं-इन एक का एक से कोई ताल्लुक नहीं-सबका यज्ञ स्वतन्त्ररूपेण हो रहा है-जिसका यज्ञ बन्द हो जाता है-उसी की मृति हो जाती है-एवंधर्म्मक जो आत्मा है-उसमें **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'**-इस अनुगमानुसार चार कोश रहते हैं। अर्थात् उस आत्मा में चार पार्ट रहते हैं। वे कोश ये हैं—१-बुद्धि, २-मन, ३-अर्थ और ४-इन्द्रिएँ। तो बस, चारों कोशों को मिलाकर के एक पुरुष (आत्मा) का स्वरूप बनता है। हमने अखिलविश्व को (चौथे सूत्र में) प्राणमय बतलाया है एवं इसी प्राण को १-परोरजा, २-आग्नेय, ३-सौम्य और ४-आप्य-इन भेदों से चार प्रकार का बतलाया है। इन चारों में से जो परोरजा प्राण है-उसे ही मन कहते है एवं आग्नेय और सौम्य प्राण को प्राण ही कहते हैं एवं आप्यप्राण को वाक् (भूत) कहते हैं। इस प्रकार से एक ही प्राण के भिन्न-भिन्न स्वरूपों के कारण मन, प्राण, वाक्-ये तीन स्वरूप हो जाते हैं-ये तीनों ही अविनाभावेन प्रत्येक आत्मा में रहते हैं-इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है-**स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः -इति**। यह जो परोरजा प्राण है-जिसे कि हमने मन बतलाया है-उसके दो सीगे हो जाते हैं १-ज्ञानात्मक एवं कर्म्मात्मक। जो शुद्ध ज्ञान का पार्ट है-उसे तो बुद्धि कहने लगते हैं एवं जिसमें कर्म्म का मिलाव है-उसे मन कहते हैं एवं जो आप्यप्राण है-जिसे कि हमने वाक् बतलाया था-प्रकृत में उसी से अर्थ और कर्म्मेन्द्रिएँ एवं ज्ञानेन्द्रिएँ बनती हैं। इसी क्रम से बतलाते हैं-जो परोरजा प्राण है-जिसको हमने मन बतलाया है वही प्रकृत यज्ञात्मा में बुद्धिरूपेण स्थित है एवं जो आग्नेय और सौम्यात्मक प्राण है-जिसको हमने प्राण ही बतलाया था-उसे प्रकृत में मन समझो (ज्ञानकर्म्मद्विगुणावस्था)। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"बुद्धिर्मनोऽर्थाः पुनरिन्द्रियाणि कोशा इमे स्युः पुरुषस्य रूपम्।
परोरजाः प्राण इदं मनो धीः, प्राणोऽग्निसोमाभिहितो मनोऽन्यत्" ॥१॥

एवं आप्यप्राणयुक्त जो वाक् है-उसे ही अर्थ एवं ज्ञानेन्द्रिएँ एवं कर्म्मेन्द्रिएँ समझो-जो कि अन्नप्रचय (चयन-समूह) से बढती हैं। बस, इस क्रम से यह चार कोश होते हैं। इन चार कोशों से विभक्त जो देह है-जिसमें कि ये चारों विभक्तरूपेण स्थित हैं-वही देह कहलाता है एवं इसी को यज्ञ कहते हैं एवं इसे ही आत्मा कहते हैं एवं यही पुरुष भी कहलाता है। बस, यह कोशचतुष्टयत्व प्रत्येक यज्ञात्मा में समझना चाहिए। इसी प्राणविभाग को बतला देते हैं—

मन – परोरजा	प्राणः–	१–बुद्धिः	इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है–
प्राण– { आग्नेयः	प्राणः–	२–मनः	'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च
प्राण– { सौम्यः	प्राणः–		परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः०'.....।
वाक्– आप्य	प्राणः–	३–अर्थाः	
		४–ज्ञानेन्द्रियाणि	
		कर्म्मेन्द्रियाणि	

जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"वाक् प्राण आप्योऽर्थगणस्तथैवेन्द्रियद्वयान्नप्रचयाश्च कोशाः।
कोशैश्चतुर्भिः प्रविभक्तदेहो यज्ञः स आत्मा पुरुषोऽयमुक्तः" ॥२॥

—※—

१६–आत्मनः पञ्चवर्गाः।

आत्मा के ५ क्लास (वर्ग)—

पूर्वोक्त जो यज्ञात्मा है–उसके ५ क्लास हैं–पूर्वोक्त जो यज्ञात्मा है–जिसको कि हमने चार कोशयुक्त बतलाया है–वह आत्मा असंख्य संख्या में अपनी प्रातिस्विक सत्ता से विश्व में व्याप्त हो रहे हैं। एक की सत्ता एक से सर्वथा भिन्न है–इन आत्माओं से एक अणुमात्र भी स्थान खाली नहीं है। जैसा कि स्मृति कहती हैं—

'अङ्गुलस्याष्टभागोऽपि न सोऽस्ति मुनिसत्तम।
न सन्ति प्राणिनो यत्र कर्म्मबन्धनिबन्धनाः॥
स्थूलैः स्थूलतरैश्चैतत् सर्वप्राणिभिरावृतम्।
स्थूलैः सूक्ष्मैस्तथा सूक्ष्मैः सूक्ष्मैः सूक्ष्मतरैस्तथा" ॥

इन अनन्त यज्ञात्माओं के–जिनका परस्पर कोई ताल्लुक नहीं इस सृष्टि में ५ सीगे माने जाते हैं–पूर्व-पूर्व आत्मा से निकले हुए वाक्रूप विकार के योग से अर्थात् उसके खाने से पूर्व से उत्तर का आत्म-

वर्ग बडा होता जाता है-इस प्रकार से पूर्व-पूर्व आत्मा से पूर्वात्मविकारयोगात् उत्तरोत्तर बडे होत हुए इस आत्मा के ५ वर्ग हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"तथाविधास्ते प्रचरन्त्यनन्ताः परस्परेण व्यतिरिक्तसत्ताः।
तेषां च वर्गा इह पञ्च क्लृप्ता वड्रोत्तराः पूर्वविकारयोगात्" ।।१।।

१-इङ्गात्मा, २-जीवात्मा, ३-पृथिवी आत्मा, ४-सूर्य्य आत्मा, ५-महेश्वरात्मा इस क्रम से ५ पुरुष हैं। ये पाँचों ही पुरुषों में से जो आगे-आगे का पुरुष है-वह पूर्व-पूर्वात्मा से छोडे हुए अर्थ को निगल जाता है-बस, इसी कारण से पूर्वात्मा से उत्तरोत्तरात्मा बडा होता चला जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"इङ्गं च जीवः पृथिवी च सूर्य्यो महेश्वरः पञ्चविधा इतीत्थम्।
स्युः पूरुषास्ते निगिलत्यमीषां परः परः पूर्वविसृष्टमर्थम्" ।।२।।

इन पाँचों ही आत्माओं में चूंकि मन-प्राण-वाक् रहते हैं, अतः इसलिए तो इनका परस्पर साधर्म्य माना जाता है एवं पूर्व के आत्मा से छोडे हुए विकार के भोग से एवं वागन्यसर्ग के उपसर्ग भेद से इनमें परस्पर वैधर्म्य हो जाता है। तात्पर्य्य यही है कि मन-प्राण-वाक् यद्यपि पाँचों में एकसा है, अतः पाँचों का एकसा ही रूप होना चाहिए था, परन्तु नहीं होता, क्योंकि पूर्व की जो वाक् है-यह इस उत्तरात्मा में आती है, अतः उस बाहर से आई हुई वाक् से इस उत्तरात्मा के स्वरूप में भेद हो जाता है। इस प्रकार से मन-प्राण-वाक्त्वेन इनका साधर्म्य है एवं पूर्वात्मवागशिति से इसमें परस्पर वैधर्म्य है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सर्वेषु वाक्प्राणमनोमयत्त्वात् साधर्म्यमिच्छन्ति विधर्मितां च।
पूर्वात्मसंत्यक्तविकारभोगाद् वागन्यसर्गादुपसर्गभेदात्" ।।३।।



१७-इङ्गात्मा। (१)

इङ्गात्मा—

जिस कीड़े को अंग्रेजी में सेल कहते हैं-उसे ही हमारा साइन्स 'इङ्ग' कहता है। चूंकि यह कीड़ा (सेल) इङ्गित (चेष्टा) से ही जाना जाता है-इसलिए इसका नाम 'इङ्ग' ही रख दिया है। ऐसे-ऐसे लाखों सेल हमारे शरीर में रहते हैं जिनके कि द्वारा हमारे शरीर की स्थिति रहती है-**वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता**-इस श्रुतिप्रामाण्य से जो ब्रह्मनिःश्वसित ऋग्-यजुः-सामात्मिका वेदवाक् है-उसे वह इङ्ग खाया करता है। यह जो वाक् है-उसे मौलिक समझना चाहिए। यहाँ इतना और विशेष समझना

चाहिए कि इस वेदत्रयी में से जो यजुः वाक् है–उसका भी जो वायु हिस्सा है- उसे ही यह सेल खाता है, क्योंकि इसी से आगे की सृष्टि होने वाली है और जो ऋग्-यजुः-साम हैं वे तो केवल यजुः के वयोनाधमात्र हैं। अस्तु, तात्पर्य्य यही है कि जब वह सेल उस ब्रह्मनिःश्वसित वेदवाक् को खा जाता है तो उस वाग् से उस सेल में ऊर्क् बनता है। ऊर्क् एक रस का नाम है–जिससे कि प्राण बनता है। तो बस, इस खाए हुए वागन्न से सेल का ऊर्क् रस बनता है एवं ऊर्क से प्राण बनता है। सबका खुलासा यह हुआ कि इस इङ्ग का जो प्राण महेशनिःश्वसित वेद (यजुः) को खा जाता है–उस वागन्न से इसमें ऊर्क् रस पैदा होता है एवं ऊर्क् से प्राण होता है एवं फिर वह प्राण बाहर निकल जाता है फिर वाक् अन्न बाहर से आकर ऊर्क् बनकर प्राण बना करता है। इस प्रकार से अन्नोर्क् प्राण के परस्पर के अनुग्रह से यह यज्ञ चलता रहता है इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"अन्नोर्क् प्राणानामन्योन्यपरिग्रहो यज्ञः" ।

इस प्रकार से इंगस्थ जो वाक् है–वह जब विकृत हो जाता है अर्थात्–जब वह उसे छोड देता है तो उसके साथ ही इस इङ्ग के प्राण का भी हिस्सा बाहर जाता है अर्थात्–अन्न प्राण बनकर ही बाहर जाता है जब यह प्राण बाहर चला जाता है तो वह सेल प्राण की कमी के कारण अशनाया व्यापार करता है तो बस, उस अशनाया से जो ऊर्क् रस है–उसके द्वारा फिर उसका प्राण प्रतिष्ठित हो जाता है अर्थात्–महेशवाक् का ऊर्क् रस उसके प्राणों को फिर प्रतिष्ठित कर देता है–इस प्रकार से यह धारा अनवरत चलती रहती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्राणस्तदिङ्गस्य भुनक्ति वेदान् महेशवाग् निःश्वसितांस्तदूर्क् स्यात् ।
इङ्गस्थवाचो विकृतौ प्रहीणे प्राणे तदूर्जा पुनरेष सिद्धयेत्" ॥१॥

इस प्रकार से इसके प्राण पर आई हुई जो इङ्गात्मास्थित वाक् है–वह हरवक्त क्रिया करती हुई उस सेल में नए भूतों को उत्पन्न करती है। अर्थात्–जितना सा प्राण उसका उखड़ जाता है–कुछ वाक् तो उसे प्रतिष्ठित कर देती है एवं बाकी का बचा हुआ वाक् निरन्तर नए-नए भूतों की सृष्टि करता रहता है। इस प्रकार से आकाश (वाक्) वायु-तेज-जल एवं मिट्टी यह भूत जो कि इस इङ्ग के वाक् (मौलिक) से हुए हैं वे ही इस इङ्ग को चौतरफ से घेर कर ठहर जाते हैं। तात्पर्य्य इसका यही है कि जब उस वेद वाक् को जो कि भूतवाक् से सर्वथा अलग है–खा जाता है तो फिर उस वाक् की क्रिया से (अर्थात्–आकाशस्थित वायुस्वरूप यजुः की क्रिया से) सर्वप्रथम फिर उसमें भूतवाक् की उत्पत्ति होती है–जिसे कि पोल कहते हैं-शरीर में जिसको गुहा बतलाया गया है–उसे ही आकाशवाक् समझना चाहिए। जब पोल रहती है तभी शिरा एवं धमनियों में संचालन-क्रिया होती है एवं तभी उनकी क्रिया से नई सृष्टि होती है। यदि शिरादि में पोल न हो तो उसी समय सारी क्रिया बन्द हो जाए। तो बस, शरीरस्थितिस्वरूप उस मौलिक वाक् से जो कि वेदवाक् था–सर्वप्रथम वाक्भूत पैदा होता है–उसमें जब क्रिया होती है तो वायु पैदा होता है–वायु के संघर्ष से अग्नि पैदा होता है। अग्नि के संघर्ष से पानी पैदा होता है एवं पानी व वायु के संघर्ष से मिट्टी उत्पन्न होती है तो बस, उस वाक् से उत्पन्न

जो १–आकाश, २–वायु, ३–तेज, ४–जल, ५–मिट्टी–ये पाँच भूत हैं–वे इस इङ्गात्मा को चौतरफ से घेर उसका शरीर बना डालते हैं। इसी सृष्टिक्रम को श्रुति बतलाती है—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः-अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी–इति।

जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

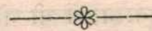
"इङ्गस्य वाक् प्राणहिता प्रसूते भूतानि शश्वत् क्रममाणकर्मा।
खवायुतेजोजलमृत्तिकाख्यान्येतानि हीङ्गं परिवेष्ट्य तस्थुः" ॥२॥

इस प्रकार से जब वह इङ्गात्मा भूतों को पैदा करते-करते जब उनसे ऊब जाता है तो स्वभाव से ही वह उस अपने से पैदा हुए सारे वाक् समूह को कालान्तर में छोड देता है। अर्थात्–शरीर त्याग कर देता है। इन छोडे हुए भूतों को जो एक अन्य आत्मा है–जिसकी कि क्रिया स्वातन्त्ररूपेण हो रही है–वह स्वभाव से ही इस प्रवर्ग्यभाग को खा जाता है। अर्थात्–उसका छोडने का स्वभाव है एवं इसका खाने का स्वभाव है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"कालेन पश्चात् त्यजति स्वभावादात्मा स्ववाचः प्रसवान् समस्तान्।
त्यक्तानि भूतानि तु तानि पश्चादन्योऽयमात्मा ग्रसति स्वभावात्" ॥३॥

तो इस प्रकार से इङ्ग से परित्यक्त उन पाँचों भूतों को जो आत्मा खा जाता है–वह आत्मा भूतोपसृष्ट होकर भूतात्मा कहलाने लगता है एवं इसी भूतात्मा को जीवात्मा कहते हैं। चूंकि यह जीवात्मा इङ्ग से बन परित्यक्त भूतों को खाता रहता है, अतः इस भूतभुक्ति से यह जीवात्मा इस इङ्गात्मा से बहुत बडा बन जाता है। जिस प्रकार से इङ्ग का शरीर इस जीवात्मा का शरीर बन जाता है तथैव इङ्गात्मा इस जीवात्मा में शामिल हो जाता है। हमारे से प्रतिक्षण इङ्गात्मा बनते रहते हैं एवं नष्ट होते रहते हैं एवं इस इङ्ग को प्रतिक्षण जीवात्मा खाया करता हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"भूतानि भुङ्क्ते तु य एष आत्मा भूतोपसृष्टः स हि जीव उक्तः।
महांस्तदिङ्गात्मन एष आत्मा संपद्यते संप्रति भूतयोगात्" ॥४॥



१८–जीवात्मा (२)।

जीवात्मा—

इस जीव का जो प्राण है-वह अर्क द्वारा बाहर निकल कर प्रतिक्षण इङ्गस्थित वाक् से बने हुए भूतों को खाता रहता है-जिस प्रकार से इङ्ग के वाक् की पूर्त्ति महेश्वरवाक् से उत्पन्न ऊर्क् द्वारा स्थिति बतलाई थी तथैव इस जीव का जितना वाक् विकृत हो जाता है-उतना ही इसका प्राण भी नष्ट हो जाता है-तो बस, जीव के प्राण के निकल जाने पर-उस निकले हुए प्राण की कमी इङ्गवाक्कृत भूत-भुक्ति से निष्पन्न ऊर्क् रस से पूरी कर दी जाती है। बस, इसी कारण से इस जीव की सत्ता नहीं उखड़ने पाती। तात्पर्य्य यही है कि इङ्गकभूतमुक्ति से ऊर्क् बनता है-ऊर्क् से प्राण बनता है फिर वह प्राण बाहर निकल जाता है-इस कमी से जीव में अशनाया पैदा होती है-इससे फिर इङ्गभूतभुक्त होता है इस प्रकार से अन्नोर्क् प्राणों की धारा अनवरत चलती रहती है। इसी धारा से जीव की स्थिति रहती है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"प्राणो हि जीवस्य भुनक्ति भूतान्येतानि चेङ्गस्थितवाक्कृतानि।
जीवस्थवाचो विकृतौ प्रहीणे प्राणे तदूर्जा पुनरेष सिद्धयेत्" ॥१॥

इस प्रकार से इस जीव के प्राण पर स्थित जो वाक् है-वह निरन्तर अपना व्यापार करती हुई नाना प्रकार के जिन भूतों से देह बनता है-उन देहिक भूतों को उत्पन्न करती है अर्थात्-उन इङ्ग के वायु आदि भूतों से बाद में फिर नये दैहिक भूत उत्पन्न होते हैं-वे भूत ये हैं-लोम-त्वचा-रुधिर-माँस-मेदा-अस्थि-मज्जा-शुक्र-शिरा एवं धमन्यादि। बस, इतने प्रकार के भूत पैदा होते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"जीवस्य वाक् प्राणहिता प्रसूते नानाविधान् दैहिकभूतधातून्।
लोमत्वचासृक्पललानि मेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि शिरादिकांश्च" ॥२॥

ये भूत जीव से उत्पन्न होकर उसे ही घेर कर अपनी स्थिति कायम कर लेते हैं। बस, यही भूत-समष्टि इस जीवात्मा का शरीर कहलाती है। परन्तु पैदा करते-करते यह जीवात्मा कालान्तर में इन सम्पूर्ण भूतों को छोड देता है। इन भूतों को धातु कहते हैं एवं इङ्गस्थित वायु आदि को भूत कहते हैं। इस प्रकार से अपने ही से उत्पन्न किए हुए-उस सब धातुओं को छोड करके यह जीवात्मा (भूतात्मा) फिर वापस अपने पहले वाले स्वरूप में आ जाता है। इङ्गात्मा में और भूतात्मा में इतना विशेष है कि जो इङ्गात्मा है-उसका शरीर जीवात्मा का शरीर बन जाता है एवं खुद स्वयं आत्मा भी जीवात्मा में ही लीन हो जाता है, परन्तु यह जो भूतात्मा है-उसका शरीर तो पृथिव्यात्मा का शरीर है परन्तु जीवात्मा पृथिव्यात्मा में इङ्गात्मा की तरह लीन नहीं होता अपि तु, यह कर्म्मयोग के लिए लोकान्तर में गमन करता है, परन्तु इस भूतात्मा में भी जो वायु के भूत से बना हुआ-हंसात्मा का बना हुआ पार्ट है-वह तो यहीं रह जाता है अर्थात्-वायु में फिरता हुआ पृथिवी पर ही रहता है-यह लोकान्तर में गमन नहीं करता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एते च जीवं परिवेष्ट्य तस्थुः कालेन तामेष जहाति धातून् ।
आत्मा स्ववाचः प्रसवान् समस्तान् त्यक्त्वा पुनः प्राग्वदयं पृथक्स्यात्" ।।३।।

इस प्रकार से जब जीवात्मा असृग्मांसादि अपने धातुओं को छोड कर अलग हो जाता है तो उन छोडे हुए धातुओं को एक दूसरा आत्मा जिसका कि यज्ञ स्वतन्त्र हो रहा है-खा जाता क्योंकि उसका भी स्वभाव जीवात्मा की तरह हरवक्त खाने का है, अतः स्वभाव से ही वह उन धातु गुणों को खा जाता है । इस प्रकार से जो इन धातुओं को खा जाता है वह आत्मा धातूपसृष्ट कहलाता है-जैसे कि इङ्ग के भूतों को खा कर जीवात्मा भूतोपसृष्ट कहलाया था । बस इसी धातूपसृष्ट आत्मा को पृथिवी आत्मा कहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"त्यक्तवानमून् धातुगणांस्तु पश्चादन्योऽयमात्मा ग्रसति स्वभावात् ।
अश्नाति धातूनिह यः स आत्मा धातूपसृष्टःपृथिवीति वृत्तः" ।।४।।

चूँकि यह आत्मा जीव से परित्यक्त भौतिक धातुओं को खा जाता है, अतः इनके योग से जीवात्मा से यह पृथिव्यात्मा बहुत बडा बन जाता है । इङ्ग वेद खाता है एवं जीव इङ्ग को खा जाता है एवं पृथिवी जीवशरीर को खा जाती है, अतः वेदों को (ऋग्-यजुः-साम को) एवं भूतों को (ख-वायु-तेज-जल-मिट्टी) एवं भूत धातुओं को (रसासृग्मांसमेदादि) अपने प्राण में लेकर अर्थात् इनको अपने पेट में लेकर यह पृथिव्यात्मा एक विलक्षण प्रकार का बन जाता है । जीवात्मा में जैसे हड्डी, रुधिर वगैरह हम देखते हैं-उससे सर्वथा विलक्षण ही इस पृथिव्यात्मा का स्वरूप दिखलाई पड़ता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"महाँस्तु जीवात्मन एष आत्मा संपद्यते भौतिकधातुयोगात् ।
वेदांश्च भूतानि चा भूतधातून् प्राणे गृहीत्वात्र विलक्षणोऽभूत्" ।।५।।

—※—

१६–पृथिव्यात्मा (३) ।

पृथिव्यात्मा—

यह पृथिवी जीव से परित्यक्त जिन भूत धातुओं को खा जाती है-वे अन्नस्वरूप भूत धातु ऊर्क् बन जाते हैं अर्थात्-जहाँ उनको पृथिवी ने खाया कि उनसे ऊर्क् रस बना-उन भूतधातुओं से बने हुए ऊर्क् रस से पृथिवी का जितना वाक् विकृत हो जाता है एवं वाक् विकृति से जितना सा प्राण उसमें से निकल जाता है-उसके निकल जाने से जो प्राण की कमी हो जाती है वह पूरी हो जाती है अर्थात्—

उस ऊर्क् रस से उस पृथिवी में नया प्राण उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार से इस प्राणोर्क् की धारा प्रतिक्षण चलती रहती है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पृथ्वी यदश्नाति तु भूतधातूंस्तदन्नमूर्क् स्यात्तत एव चोर्क्तः ।
पृथ्वीस्थवाचो विकृतौ प्रहीणे-प्राणे पुनः प्राण उदेति सद्यः" ॥१॥

इस पृथिवी के प्राण पर स्थित जो वाक् है जो कि हरवक्त आया-जाया करती है—उसके कुछ हिस्से से तो उस प्राण की क्षतिपूर्त्ति होती है एवं अवशिष्टभाग से वह वाक् नाना प्रकार के तैजस धातुओं को उत्पन्न करती है । इस प्रकार से सोना-चाँदी-सूत-गन्धक-अभ्रक (भोडल) हरताल—इत्यादि इत्यादि नाना जाति के धातु इस पृथिवी से उत्पन्न होते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पृथ्व्याश्च वाक् प्राणहिता प्रसूते नानाविधांस्तैजसधातुवर्गान् ।
हिरण्यपूर्वानपि सूतगन्धाभ्रतालपूर्वानपरांश्च कांश्चित्" ॥२॥

इस प्रकार से इस पृथिवी से पैदा हो कर यह तैजस धातु इसको चारों तरफ से घेर कर इसका शरीर बन जाता है । परन्तु इनको पैदा करते करते जब पृथिव्यात्मा ऊब जाता है तो कालान्तर में इन सारे धातुओं को छोड देता है । इस प्रकार से अपने से उत्पन्न सम्पूर्ण वाक् प्रपञ्च को छोडकर यह पृथिव्यात्मा अपने उसी तैजस धातूत्पत्ति के पहले के प्रातिस्विकस्वरूप में आ जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पृथ्वीमिमां ते परिवेष्ट्य तस्थुः कालेन तान् सापि जहाति धातून् ।
पृथ्वी स्ववाचः प्रसवान् समस्तांस्त्यक्त्वा पृथक् प्राग्वदुदेति चात्मा" ॥३॥

इस पृथिवी से छोडे गए जो धातु हैं उनको यह दूसरा अन्य आत्मा खा जाता है—जिसका कि यज्ञ इस पृथिवी से स्वतन्त्र हो रहा है एवं दूसरा भी पृथिव्यादि की तरह चूँकि हरवक्त खाते रहने का स्वभाव है, अतः उस पृथिवी के प्रवर्ग्यभाग को यह खा जाता है तो जिन धातुओं को यह खा जाता है—यह आत्मा तैजस धातूपसृष्ट कहलाता है एवं इसे ही सूर्य्य कहते हैं । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"त्यक्तानमून् धातुगणांस्तु पश्चादन्योऽयमात्मा ग्रसति स्वभावात् ।
अश्नाति धातूनिह यः स आत्मा धातूपसृष्टो रविरित्यनूक्तः" ॥४॥

चूँकि यह आत्मा तैजस धातुओं को खा जाता है, अतः यह पृथिवी से बहुत ज्यादा बडा है । पूर्व के वेद-भूत-धातु एवं तैजस धातुओं को अपने में आत्मसात् करके यह आत्मा प्रकाशमय एक विलक्षण प्रकार का बन जाता है । जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"महान् पृथिव्यात्मन एष आत्मा संपद्यते तैजसधातुयोगात् ।
पूर्वांश्च वेदप्रमुखान् क्रमाप्तान् प्राणो गृहीत्वात्र विलक्षणोऽभूत्" ॥५॥

२०–सूर्य्यात्मा (४) ।

सूर्य्यात्मा—

जिस प्रकार से पृथिवी जीवभूतों को खाती है तद्वत् यह सूर्य्य पृथिवी धातुओं को (सोना-चाँदी) इत्यादि को खाता है–यह हमने १६वें सूत्र में बतला दिया है। तो जिन तैजस धातुस्वरूप अन्न को सूर्य्य खाता है–वह अन्न सूर्य्य में भुक्त होकर ऊर्क् रस बन जाता है। इस सूर्य्य के वाक् के विकृत होकर निकल जाने पर सूर्य्य का जितना सा प्राण नष्ट हो जाता है–उस ऊर्क् रस से वहाँ उसी समय और प्राण उत्पन्न हो जाता है। उस प्राण से इस प्राण की खानापूर्ति कर दी जाती है। इस प्रकार से सूर्य्य को अपनी प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित रखने वाला यह अन्नोर्क् प्राणपरिग्रहयज्ञ प्रतिक्षण होता रहता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सूर्य्यो यदश्नाति हि धातुतेजांस्यन्नं तदूर्क् स्यात् तत एव चोर्क्तः ।
सूर्य्यस्थवाचो विकृतौ प्रहीणे प्राणे पुनः प्राण उदेति सद्यः" ॥१॥

इस सूर्य्य के प्राण पर जो वाक् आया है–उसके कुछ हिस्से से तो उसमें से उखड़े हुए प्राण की प्रतिष्ठा हो जाती है एवं जो बाकी का पृथिवीवाक् की भुक्ति से बना हुआ जो ऊर्क् रस है उससे आग्नेय एवं सौम्य देवता पैदा होते हैं अर्थात् सूर्य्यवाक्–सौम्यदेवता एवं आग्नेय देवताओं को उत्पन्न करता है। जैसा कि श्रुति कहती है–**चित्रं देवनामुदगादनीकम्–इति**। किन-किन देवताओं को पैदा करता है यह बतलाते हैं–द्वादश आदित्यों को, वायु को, अग्नि को एवं भास्वरसोम (चन्द्र) को एवं दिक्सोम को एवं पुरुष-अश्व-गौ अवि-अज–इन पशुप्रधानों को वह सूर्य्य उत्पन्न करता है, बस, यही सूर्य्यात्मा के भूत समझने चाहिएँ। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सूर्य्यस्य वाक् प्राणहिता प्रसूते ह्याग्नेयसौम्यान् विविधांश्च देवान् ।
आदित्यवाय्वग्निमुखान् दिगिन्दुप्रायान् गवाश्वादिमुखांश्च कांश्चित्" ॥२॥

पूर्वोक्त देवता सूर्य्य से उत्पन्न होकर उसी को चौतरफ से घेर कर अपना स्थान कायम कर लेते हैं। इस प्रकार से सूर्य्य जब देवसृष्टि से ऊब जाता है तो कालान्तर में सहसा उन सम्पूर्ण देवताओं को छोड देता है जैसे जीवात्मा एवं पृथिव्यात्मा ने अपने-अपने भूतों को छोड दिया था। इस प्रकार से यह सूर्य्य अपने से पैदा किए हुए सारे वाक्-प्रपञ्च को छोडकर–जैसा इस वाक्-प्रपञ्च के पहले था,

बस, ठीक उसी अपने प्रातिस्विक आत्मस्वरूप में रह जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"देवांस्तु सूर्य्यं परिवेष्टच तस्थु: कालेन तानेष जहाति देवान् ।
सूर्य्य: स्ववाच: प्रसवान् समस्तांस्त्यक्त्वा पुन: प्राग्वदयं पृथक् स्यात्" ।।३।।

इस प्रकार से जिन देवताओं को सूर्य्यात्मा अलग छाँट देता है–उन छोडे हुए देवगणों को यह दूसरी आत्मा ग्रस लेता है क्योंकि पूर्वोक्त चारों आत्माओं की तरह इसका स्वभाव भी प्रतिक्षण बाहर से वस्तु आहरण करने का है। तो बस, स्वभावधर्म से ही यह उस देवप्रवर्ग्यभाग को अपने पेट में ले लेता है। चूँकि यह आत्मा सम्पूर्ण देवताओं को अपने में आत्मसात् कर लेता है, अत: इस आत्मा को देवमूर्त्ति कहते हैं एव इसी को परमेश्वर कहते हैं। यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि जैसे पृथिवी का आत्मा है–वह सूर्य्य के आत्मा में चला जाता है एवं पृथिवी का शरीर (रजत-सुवर्ण-धातु) सूर्य्य के शरीर में मिल जाता है तथैव सूर्य्यात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है एवं सूर्य्य का देवशरीर भी इसी परमेश्वर के शरीर में मिल जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

त्यक्तानमून् देवगणांस्तु पश्चादन्योऽयमात्मा ग्रसति स्वभावात् ।
य आत्मसादेष करोति देवान् स देवमूर्ति: परमेश्वरोऽस्ति" ।।४।।

२१–परमेश्वरात्मा (५)।

परमेश्वरात्मा—

जिस प्रकार से वह इङ्गात्मा छोटे से छोटा है तथैव यह परमात्मा बडे से बडा है। अन्य जो आत्मा है (सूर्य्य-जीव-पृथिवी) वे परिच्छिन्नतया प्रतीत होते हैं। अर्थात् एक आत्मा ऐसा छोटा है–जिससे फिर कोई छोटा नहीं है एवं एक आत्मा ऐसा बडा है–जिससे फिर कोई बडा नहीं है एवं जो बीच के आत्मा हैं–वे अपेक्षा से बडे भी हैं एवं छोटे भी हैं। सूर्य्य-पृथिवी की अपेक्षा से बडा है परन्तु परमेश्वर की अपेक्षा छोटा है एवमेव, पृथिवी इङ्ग की अपेक्षा बडी है एवं सूर्य्य की अपेक्षा छोटी है। इस प्रकार से यह जो सूर्य्य-पृथिवी जितने आत्मा हैं–वे सभी परिच्छिन्न एवं परिणामी हैं अर्थात् विनाशी हैं, परन्तु यह जो सबसे बडा परमेश्वरात्मा है–वह सर्वथा अपरिच्छिन्न (असीम) एवं अपरिणामी है एवं सर्वथा अविनाशी है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अणोरणीयान् स यथास्ति हीङ्गस्तथायमात्मा महतो महीयान् ।
अन्ये परिच्छिन्नतया प्रतीता एकोऽयमात्मा परिणामहीन:" ।।१।।

आत्मोन्नति की यह पराकाष्ठा है एवं आत्मा की यह परागति है एवं उन पूर्वात्माओं की यहाँ पर आके परमनिष्ठा (स्थिति) हो जाती है। पूर्वोक्त इङ्ग से लेकर जो जीवात्मा है–वह क्रम-क्रम से

विकसित होता हुआ ईश्वर बन जाता है–बस, उस जीव का यह परम विकास समझना चाहिए अर्थात् प्रतिसंचर क्रम से जब जीव परमेश्वर बन जाता है तो वह इसके बाद अपने विकास की परम सीमा समाप्त कर देता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"आत्मोन्नतेरत्र परास्ति काष्ठा परा गतिः सा परमात्र निष्ठा"।
जीवो हि कश्चित् क्रमतो विकासे स्यादीश्वरोऽयं परमो विकाशः"॥२॥

यद्यपि हम इङ्ग आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं करते तथापि जो जीवानन्त्य है–उसके प्रत्यक्ष से इन इङ्गात्माओं के भी आनन्त्य का अनुमान करते हैं और जीवात्मा अनन्त हैं–यह तो हम प्रत्यक्ष ही देख रहें हैं एवं आकाश में जितने नक्षत्रमण्डल दिखलाई पड़ते हैं–वे सब एक-एक पृथिवी हैं, अतः पृथिवियाँ भी अनन्त हैं एवमेव सूर्य्य भी अनन्त हैं (सविता-चित्रा वगैरह)। इस प्रकार से इङ्ग, जीव, पृथिवी एवं सूर्य्य तो अनन्त हैं, परन्तु जो परमेश्वरात्मा है–वह इन सबको चूंकि अपने पेट में रखता है एवं इसके बाद कोई है नहीं, अतः वह एक ही है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"संभाविता स्युर्बहवस्त इङ्गाः प्रत्यक्षदृष्टा बहवस्तु जीवाः।
पृथ्व्यश्च बह्व्यो बहवश्च सूर्य्या एकोऽयमात्मा परमेश्वरोऽस्ति"॥३॥

पूर्वोक्त अनन्त इङ्गात्माओं के मेल से एक जीवात्मा बनता है एवं अनन्त जीवों की समष्टि से एक पृथिवी का स्वरूप बनता है एवं ऐसी-ऐसी अनन्त पृथिवियों को (नक्षत्रादि को) अपने पेट में रख कर एक सूर्य्य का स्वरूप बनता है एवं इन सबको (इङ्ग, जीव, पृथिवी, सूर्य्य को) मिलाकर एक परमेश्वर का स्वरूप बनता है। इनमें से जो पूर्व के चार आत्मा हैं–वे अनन्त हैं एवं परमेश्वर जिसको महेश भी कहते हैं–एक है, बस, इस एक छोर में इङ्ग है एवं एक छोर में परमेश्वर है। बस, यही एक ब्रह्माण्ड का स्वरूप समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"इङ्गैरनेकैरयमेकजीवो जीवैरनेकैरियमेव पृथ्वी।
बह्वीभिराभिः सह चैकसूर्य्यः सूर्य्यैस्तु सर्वैः स महेश एकः" ॥४॥

——❀——

२२–पञ्चानामाश्रिताश्रयिभावः।

पाँचों का आश्रयाश्रयी भाव सम्बन्ध—

हम जिन जीवात्माओं को देख रहे हैं वे विना पृथिवी के आश्रय के एक सैकिण्ड भी नहीं ठहर सकते एवं यह जो पृथिवी है वह भी विना सूर्य्य के आश्रय के नहीं ठहर सकती। यदि सूर्य्य अपनी पकड़ में से पृथिवी को छोड दे तो पृथिवी का कहीं पता भी न लगे। इसी प्रकार से जीवों को पृथिवी के

आश्रित देखते है एवं पृथ्वी को सूर्य्य के समाश्रित देखते हैं, एवमेव सूर्य्य को ईश्वराश्रित मानते हैं एवं जो इङ्ग-समूह है-उसे जीवाश्रित जानते हैं। तात्पर्य्य यही है कि जीव का और पृथिवी का तो आश्रयाश्रयी-भाव हम प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं, अतः इस प्रत्यक्ष से इङ्गों का एवं सूर्य्य का भी अनुमान किया जाता है क्योंकि इनके आश्रयाश्रयी-भाव का प्रत्यक्ष नहीं होता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"पश्यन्ति जीवान् पृथिवीसमाश्रितान् पृथ्वीं च पश्यन्ति रविं समाश्रिताम्।
ततो विदुस्तं रविमीश्वराश्रितं जीवाश्रितानीङ्गकुलानि जानते" ॥१॥

कई-कई मनुष्य तर्कना करते हैं कि जो अत्यन्त परस्थान में परमेश्वर है उससे सूर्य्य पैदा होता है एवं सूर्य्य से पृथिवी पैदा होती है एवं पृथिवी से जीवों को एवं इङ्गात्माओं को जीवों से पैदा होना मानते हैं। उनका खयाल है कि जो सर्वान्तर्यामी परमेश्वर है एवं जो सर्वज्ञ है-वह इन क्षुद्र इङ्गादि को से कैसे पैदा हो सकता है? अतः परमेश्वर से ही इङ्गादि की उत्पत्ति मानना तर्क सिद्ध मालूम होता है न की इङ्गादि से परमेश्वर की। परन्तु हमारे खयाल से उनका सर्वज्ञादि हेतु बतला कर परमेश्वर से सूर्य्यादि की उत्पत्ति बतलाना सर्वथा असंगत है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"ततो विपश्यन्ति परे महेशात् सूर्य्यं प्रजातं पृथिवीन्तु सूर्य्यात्।
जीवान् पृथिव्या अथ जीवजातानिङ्गानितीत्थं तु वयं न विद्मः" ॥२॥

इस लोक में जब सृष्टि हम देखते हैं तो वहाँ सूक्ष्म से स्थूल वस्तु की उत्पत्ति देखते हैं। हमने कहीं भी स्थूल से सूक्ष्म की उत्पत्ति नहीं देखी। जब घड़े की सृष्टि की जाती है तो पहले मृत्तिका के सूक्ष्म परमाणुओं को ही मिलाया जाता है एवमेव जब त्वक्मांसादि सूक्ष्मसृष्टि होती है, तभी शरीरस्वरूप स्थूलसृष्टि होती है न कि पहले शरीर बन जाता है एवं बाद में इङ्ग वगैरह सूक्ष्मभूत उसमें होते हैं, अतः सृष्टि सूक्ष्म से ही प्रारम्भ होती है-यह सर्वानुभव सिद्ध है स्थूलसृष्टि चूँकि सूक्ष्म से होती है, अतः स्थूल में सूक्ष्म (घड़े में मृतिका परमाणु समवाय सम्बन्ध से) परमाणु समवेत रहते हैं इसी कारण से हम स्थूल में उन सूक्ष्मों को भी देख सकते हैं। परन्तु जो सूक्ष्म हैं (मृत्तिका परमाणु हैं) उनमें स्थूल को नहीं देख सकते। बस, सूक्ष्म से स्थूलसृष्टि होती है-इसका सबसे बडा यही प्रमाण है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"सृष्टिक्रमे सूक्ष्मत एव मन्ये स्थूलप्रसूतिं न तु वैपरीत्यात्।
स्थूले तु सूक्ष्माः समवेतभूता भवन्ति तस्मादिह तानपीक्षे" ॥३॥

ये जो सूक्ष्म परमाणु हैं-वे तीन प्रकार से रहते हैं। कुछ सूक्ष्म परमाणु तो सर्वथा स्वतन्त्र रहते हैं जिनका कि सृष्टि से कोई ताल्लुक नहीं एवं कुछ सूक्ष्म परमाणु स्थूलवस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहते

हैं। जैसे घड़े में मृत्तिका परमाणु एवं शरीर के आरम्भक परमाणु। अर्थात् जो उत्पत्ति करने वाले परमाणु हैं–वे आश्रित सूक्ष्मपरमाणु कहलाते हैं एवं एक सूक्ष्मपरमाणु ऐसे हैं जो पसीने वगैरह के विकार से शरीर पर पैदा होते हैं जैसे–जूं, लीख इत्यादि। कदाचित् कहो कि साहब ! यहाँ तो स्थूल से सूक्ष्म उत्पन्न हो गया, परन्तु यह उनका कहना सर्वथा भ्रान्त है क्योंकि यदि सूक्ष्म परमाणु नहीं होते तो शरीर ही कैसे बनता ? बस, इस प्रकार से (१)–स्वतन्त्र सूक्ष्म, (२)–आश्रित सूक्ष्म एवं (३)–विकार सूक्ष्म ये तीन प्रकार के सूक्ष्म होते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"केचित् स्वतन्त्रा इह सन्ति सूक्ष्माः स्थूले तु केचित् समवेतरूपाः।
स्थूलं तदालम्ब्य वसन्ति केचित् सूक्ष्मास्त्रिधा सन्ति तदित्थमेते" ॥४॥

कदाचित् कोई प्रश्न करे कि साहब ! सूक्ष्म से ही स्थूल उत्पन्न होता है यह तुम्हारा कहना सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि हम देखते हैं कि जो जो घट हैं (स्थूल हैं) उसके फोड देने से मृत्तिका के सूक्ष्म परमाणु उत्पन्न हो जाते हैं एवं जो स्थूल वस्त्र है–उससे सूक्ष्म तन्तु उत्पन्न हो जाते हैं इस प्रकार से जब हम प्रत्यक्ष ही स्थूल घट-वस्त्रादि से सूक्ष्म मृत्तिका परमाणु एवं तन्तु की उत्पत्ति देखते हैं तो फिर–**स्थूल से सूक्ष्म नहीं होता** यह नितान्त असंगत है। इसी का उत्तर देते हैं—

भाई ! तुमने जो हमारे को दलील दी वह सर्वथा सत्य है, परन्तु हम तुमसे पूछते हैं कि क्या मिट्टी के परमाणुओं के विना घड़ा बन सकता है ? एवं क्या तन्तु विना वस्त्र बन सकता है ? तात्पर्य्य यही है घट अवस्था में भी एवं घटाभावास्था में भी सूक्ष्मपरमाणु रहते हैं, परन्तु परमाणु अवस्था में घट नहीं रहता अतः चूंकि परमाणु भावाभाव दोनों अवस्था में रहता है, अतः वह नित्य है एवं इसी से स्थूल की उत्पत्ति होती है। एवमेव, पट की उत्पत्ति में भी कारण तन्तु ही है परन्तु तन्तु पटाभाव में भी रहते हैं। यह कार्य्यकारणभाव नित्य है। इससे विपरीत कभी नहीं हो सकता, अतः सूक्ष्म से ही स्थूल की उत्पत्ति होती है–यही सिद्धान्त समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"उद्भाविताः स्युर्घटतोऽपि मृत्तिका उद्भाविताः स्युः पटतोऽपि तन्तवः।
तथापि मृद्भ्यो घट एष जायते तन्तुः पटे हेतुरयं न चान्यथा" ॥५॥

इस प्रकार से प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करके अब वस्तु स्थिति बतलाते हैं। जो हमने इङ्गपुरुष बतलाए हैं–वे अनन्त हैं एवं ईश्वर पुरुष एक ही है। इस प्रकार से उस परमेश्वर का एवं इङ्ग जीवों का यद्यपि आज हम स्थूल-सूक्ष्म सृष्टिक्रम को देखकर पूर्वापरभाव का अनुमान कर सकते हैं तथापि जब सृष्टि का सर्वथा अभाव था उस समय पहले इङ्ग थे अथवा परमेश्वर था–यह हम निश्चय करने में सर्वथा असमर्थ हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"इङ्गा य एते पुरुषा अनन्ता य ईश्वरः पूरुष एक उक्तः ।
तस्यापि तेषामपि पूर्वपश्चाद्भावस्तु निर्धारयितुं न शक्यः" ॥६॥

अपि च, श्रुति कहती है—

"को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ।
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद" ॥[1]

जो हमने इङ्गजीव बतलाए थे वे क्रमशः उत्तरोत्तर बढते हुए अन्त में ईश्वरता को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात्—परमेश्वर के स्वरूप में परिणत हो जाते हैं एवं इसी प्रकार से ईश्वर भी अपने अवयवों को विभक्त करता हुआ क्रमशः छोटा होता हुआ इङ्गरूप में परिणत हो जाता है अर्थात्—ईश्वर जब अपने भाग को सर्वथा अणु बना देता है तो बस, वे ही इङ्ग कहलाने लगते हैं। इस प्रकार से इङ्ग प्रतिसंचर क्रम से ईश्वर बन जाते हैं एवं परमेश्वर संचरक्रम से इङ्गरूप में परिणत हो जाता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"इङ्गाः क्रमेण प्रतिपद्य योगं महत्वमापद्यत ईश्वरोऽन्ते ।
स ईश्वरोऽपि प्रतिपद्य भागानणुत्वमुत्पादयते त इङ्गाः" ॥७॥

इस प्रकार से चूंकि संचर-प्रतिसंचर स्वरूप यह प्रवाह अनाद्यनन्तरूपेण प्रवृत्त हुआ चूंकि माना जाता है, अतः इनमें पूर्वापरत्व का अनुसंधान नहीं किया जा सकता। क्योंकि जो वस्तु वर्त्तुल होती है–उसका अन्त नहीं बतलाया जा सकता एवं उसमें कार्यकारणभाव का भी विवेचन नहीं हो सकता, अतएव न इङ्ग और न परमेश्वर में पूर्वापरत्व बतलाया जा सकता है एवं न इनमें कार्य्यकारण-भाव बतलाया जा सकता। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"इत्थं प्रवाहोऽयमनाद्यनन्तः प्रवर्तमानः प्रतिपद्यते यत् ।
तस्मान्न पूर्वत्वपरत्वभावं न कार्य्यताकारणते च मन्ये" ॥८॥



१ ऋग्वेद मं० १०।१२९।६-७।

२३–एकसत्यत्वसिद्धान्तः ।

एकसत्यत्व सिद्धान्त––

इङ्ग एवं परमेश्वरस्वरूप धारा प्रतिक्षण चलती रहती है एवं उसे ही हमने बतलाया है–यज्ञ और चूँकि कभी यह धारास्वरूप यज्ञ नहीं है-यह नहीं होता इसलिए यह सत् कहलाता है। परन्तु साथ ही में यह प्रतिक्षण बदलता भी रहता है। कभी इङ्ग जीवात्मा में जा मिलता है, कभी जीवात्मा पृथिवी में चला जाता है, अतः प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने के कारण यह असत् भी कहलाता है। तो बस, चूँकि यज्ञ सत् एवं असदात्मक है, अतः इस विश्व को सदसदात्मक कहते हैं। तात्पर्य्य यही है कि चूँकि यज्ञ कभी बन्द नहीं होता, अतः यह सत् पदवाच्य है एवं प्रतिक्षण बदलता रहता है–अतः असत् पदवाच्य है इस प्रकार से इस सदसदात्मक यज्ञ को ही विश्व समझना चाहिए। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"यज्ञो न नास्तीति स सन्निरुक्तोऽसन्नेष नित्यं परिवर्तते यत् ।
सच्चाप्यसच्चापि यदस्ति विश्वं तस्मात्तदाहुः सदसत्पदेन" ।।१।।

इङ्गादिक्रमेण यह यज्ञ असंख्य भी है एवं परमेश्वर दृष्टया यह यज्ञ एक भी है। जब बहुत्व एकत्व में (परमेश्वर में) लीन हो जाता है तो वह एक समष्ट्यात्मक यज्ञ कहलाता है एवं जब बहुत्व (इङ्गादि) में एकत्व लीन हो जाता है तो अनन्त यज्ञ हो जाते हैं। तात्पर्य्य यही है कि यह यज्ञ एकत्व-बहुत्व स्वरूप ही है। इस प्रकार से चूँकि यह एक ही यज्ञ अनेक रूप को धारण कर लेता है, अतः एक ही सत्य है और वह यज्ञ ही है यह मान लेना पड़ता है। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"एकोऽपि यज्ञो बहवोऽपि यज्ञा यज्ञः स एकत्वबहुत्वभावः ।
एकः स यज्ञोऽयमनेकरूपो मन्यामहे तेन तदेकसत्यम्" ।।२।।

जो अन्न है–वह अनेक है, परन्तु जब अन्नाद इनको खा जाता है तो वह अन्नाद व्यासज्यवृत्त्या सारे अन्न पर एकरूप से व्याप्त हो जाता है। जब अग्नि में घृत डालते हैं तो उस घृत पर वह अग्नि अपना प्रभुत्व जमा लेता है। इस प्रकार से व्यासज्यवृत्त्या यज्ञक्रिया होती रहती है। बस, इसी कारण से हम यज्ञ को सत्य कहने के लिए तय्यार हैं एवं यह यज्ञ है एक, अतः सत्य एक ही है–यह हम निःसन्देह कह सकते हैं। जैसा कि गुरुवर श्री ओझा जी ने कहा है—

"अन्नादोऽन्नाधाने व्यासज्यैकं विभाति यज्ञत्वम् ।
यज्ञं सत्यं मन्ये तस्मात् सत्यं तदेकमिह सिद्धम्" ।।३।।

१–इङ्गात्मा	–महेशवाक् निःश्वसित (यजुः)	–भूतानि, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश ।
२–जीवात्मा	–इङ्गवाक् (पृथिवी-जलादि)	–लोम, त्वक्, असृक्, पललादि ।

३–पृथिव्यात्मा	–जीववाक् (लोम-त्वचादि)	–सूत, गन्धक, अभ्रक, लोहा वगैरह ।
४–सूर्य्यात्मा	–पृथिवीवाक् (सूत-गन्धकादि)	–त्रयस्त्रिंशद्देवाः ।
५–परमेश्वरात्मा	–सूर्य्यवाक् (देवादि)	–सर्वम् ।

बस, इस प्रकार से कई आचार्यों के मतानुसार केवल यज्ञ ही सत्य है और सब मिथ्या है। इस तरह से इस विश्व के मूल में ६ मत समझने चाहिएँ। ये ६ओं ही सत्य हैं। इनमें से किसी को भी हम असत्य नहीं बतला सकते। बस, जब यह ६ मत चले तो संशयवाद का प्रारम्भ हुआ। एक थोक ऐसा उत्पन्न हुआ कि जिसने संशय मत का प्रचार किया–उस थोक का कहना था कि सत्य एक ही वस्तु हो सकती है–सब नहीं। परन्तु तुम्हारे हिसाब से ६ओं मत ही सत्य मालूम होते हैं, अतः इनमें से वस्तुतः सत्य मत कौनसा है–बस, यही सन्देह हो चला-इन्हीं संशय-समूहों का अब आगे के दूसरे काण्ड में वर्णन करेंगे।

।। इति यज्ञैकसत्योपनिषत् (षष्ठं पर्व)

।। इति संशयतदुच्छेदवादान्तर्गतविज्ञानोपक्रमा-धिकारनामकषट्पर्वात्मकस्य प्रथमकाण्डस्य हिन्दीविज्ञानभाष्यं सम्पूर्णम् ।।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!